पिच्छि-कमण्डलु

णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं ।

—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार १०/२५

उपाध्याय विद्यानन्द मुनि

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर
१९७५

प्रकाशकीय

"पिच्छि-कमण्डलु" का पहला संस्करण सन् १९६४ में जयपुर से प्रकाशित हुआ था। पूरे एक दशक बाद श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, इन्दौर को इसके प्रस्तुत परिवर्द्धित संस्करण के मुद्रण का सुयोग मिला है। परम पूज्य उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज की यह कृति स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण लोकोपयोगी कृति है। इसके संबंध में कुछ भी लिखना बौने के आकाश छूने के प्रयत्न के अलावा कुछ नहीं है। पूज्य मुनिश्री मानव-हृदय के पारखी और जैनविद्या के मर्मी अभीक्ष्ण स्वाध्यायी सन्त हैं। इधर के वर्षों में उन्होंने भारत के देहात और शहर दोनों में आत्मानुशासन का शंखनाद किया है। अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों को उन्होंने आसान और सुबोध भाषा में जनता-जनार्दन तक पहुँचाया है। वे इस युग के लोकपुरुष हैं और जहाँ भी उनका वर्षायोग या अल्पावधिक पड़ाव होता है, वे जनवाणी में तीर्थंकरों के जनधर्म का प्रसार करते हैं और सामान्य जन की प्रज्ञा को उदात्त धरातल प्रदान करते हैं।

आज जब कि सारा देश अनुशासनपर्व के कठिन दौर से सफलता पूर्वक गुजर रहा है, आत्मानुशासन को विवेचित करने वाली इस कृति का मूल्य और महत्त्व स्वयं ही बढ़ गया है। वस्तुतः पूज्य मुनिश्री ने आत्मानुशासन के इस महापर्व का सूत्रपात वर्षों पूर्व कर दिया था। "समय का मूल्य" "अहिंसा : विश्वधर्म" "सप्तव्यसन" "अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग" उनकी इसी महापर्व का उद्घोष करने वाली मंगलमयी कृतियाँ हैं।

"पिच्छि-कमण्डलु" के सारे निबन्ध आत्मनिष्ठ धरातल पर अध्यात्मपरक स्थितियों में स्पन्दित हैं। इनमें मुनिश्री की पारदर्शिनी ज्ञानदृष्टि सहज ही प्रकट हुई है। यहाँ वे एक साथ ही वस्तु और भाषा, लक्ष्य और माध्यम दोनों के साथ पूरी निष्ठा और तीव्रता के साथ जी सके हैं; यही कारण है कि "पिच्छि-कमण्डलु" के निबन्ध जीवन के प्रायः सभी महत्त्व के क्षितिजों को छूते हैं और पाठकों के हृदय में कुछ टटके उषःकालों को जन्म देते हैं। इन निबन्धों की भाषा समस्तपदीय है, अलंकार-समृद्ध है, कठिन है; तथापि शब्दपद-संयोजन-संस्थापन इतना सरल-सहज और धारावाही है कि पाठक का मन अजाने ही अनुभूतियों की गहराइयों में उतर जाता है। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि "पिच्छि-कमण्डलु" में सभी वर्ग के पाठकों के लिए, विशेष और सामान्य, सामग्री योजित है। निबन्धों की मूल मुद्रा प्रवचनगर्भित है किन्तु शैली और शिल्प इतने सरस और आकर्षक हैं कि पाठक उस चुम्बक से हजार जतन पर भी बच नहीं पाते। इसके कई निबन्ध ललित निबन्धों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुल मिलाकर सारे निबन्ध रोचक, विद्यापरक, वस्तु-समृद्ध, विवेचन में ललित किन्तु निर्मम, और व्यक्ति तथा लोक दोनों के लिए संस्कारक हैं।

भाषा, लेखन, वक्तृत्व, वाङ्मय, स्वाध्याय इत्यादि निबन्ध जीवनपरक हैं। मुनिश्री का अमोघ वैदुष्य इन सब पर सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। निबन्धों की प्रतिपादन-शैली अनेकान्त-

मूलक है, इसीलिए यह संभव हुआ है कि पूज्य मुनिश्री गहरे पानी पैठ कर तथ्य-मुक्ता ला सके हैं। लोकप्रज्ञा की सीप उनकी साधना-स्वाति की अनुभव-बिन्दुओं के माध्यम से शब्द-मुक्ताओं को जन्म देने में समर्थ हुई है। मुनिश्री साधना-निरत तपस्वी हैं। उनके वर्षायोग विद्यासत्र सिद्ध हुए हैं। प्रस्तुत कृति उनके आरंभिक अनुभवों का नवनीत है। कहा जा सकता है कि "पिच्छि-कमण्डलु" मुनिश्री के व्यक्तित्व की एक अनूठी प्रतिनिधि कृति है। यह श्रावक और श्रमण उभयवर्ग को एक तकनीकी संदर्भ के रूप में उपकृत करती है। श्रावकों को तो यह दिशादृष्टि देती ही है, श्रमणों को भी नये-पुराने संदर्भ प्रदान करती है। नवदीक्षितों के लिए तो यह अमोघ अमृतवृष्टि है ही। इसमें "गुरुसंस्था का महत्त्व" "पिच्छि-कमण्डलु" "वर्षा-योग" "दीक्षा-ग्रहण" "सल्लेखना" शास्त्रसम्मत निबन्ध हैं किन्तु तथ्यों को अधुनातन संदर्भों में प्रस्तुत करते हैं। इनकी शास्त्रीय श्रेष्ठता तो असंदिग्ध है ही, इनकी लोकजीवन में उपयोगिता से भी मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। "वक्तृत्वकला" "लेखनकला" "शब्द और भाषा" पूज्य मुनिश्री की उद्भट ज्ञानसाधना के जीवन्त प्रमाण हैं। "नरजन्म की सार्थकता" "जैनधर्म में नारी" एक दूसरी किस्म के निबन्ध हैं। इनके गर्भ में क्रान्ति-बीज अवस्थित हैं। इनमें मुनिश्री ने जहाँ परम्परा पर कुछ लाल चिह्न लगाये हैं तो साथ ही आधुनिकता को करारी चेतावनी भी दी है। इस तरह प्रस्तुत कृति आत्मखोज, बोध और अनुशासन का एक विशिष्ट संदर्भ-ग्रन्थ है।

अन्त में हम यही कहेंगे कि मुनिश्री ने वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति को अपनी इस बहुमूल्य कृति के प्रकाशन की अनुमति देकर हम सबको कृतज्ञ बनाया है। इन दिनों "पिच्छि-कमण्डलु" की एक भी प्रति उपलब्ध नहीं थी और चारों ओर से पाठक इसे बार-बार मांग रहे थे; अतः हम चाहते थे कि इसका एक कलापूर्ण, जनोपयोगी संस्करण शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित हो; किन्तु महंगाई के कारण न तो हम इसके व्यक्तित्व को उतना सम्मोहक ही बना सके और न ही इसे एक सुन्दर जेबी संस्करण के रूप में अपने पाठकों को दे सके तथापि प्रस्तुत संस्करण हमने लागत मूल्य में और एक सामान्य सुघड़ आकल्पन के साथ अपने सहृदय पाठकों के सम्मुख रखा है; हमें विश्वास है जीवन में अचूक क्रान्ति का बीज बोनेवाली इस कृति का व्यापक अभिनन्दन होगा और इससे हिन्दी-जगत् लाभान्वित होगा। हमें आशा है जल्दी ही इसका अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद होगा और मात्र व्यापक उपयोगिता और महत्ता के कारण संसार की प्रमुख भाषाएं भी इसके अनुवाद से समृद्ध और विभूषित होंगी। भूमिका-लेखन के लिए आदरणीय पं. नाथूलालजी, मुखपृष्ठ के सहज-सुन्दर आकल्पन के लिए श्री विष्णु चिंचालकर, निर्दोष कलात्मक मुद्रण के लिए श्री हीरालाल झांझरी, तथा व्यवस्थापन के लिए भाई श्री माणकचन्द पांड्या के प्रति समिति गहरी कृतज्ञता का अनुभव करती है।

बाबूलाल पाटोदी

मन्त्री

प्रस्तुत निबन्ध

प्रस्तुत पुस्तक में सब मिलाकर १४ निबन्ध हैं और वे सभी परिश्रम से लिखे गये हैं। इनकी भाषा भी प्रांजल, उदात्त और प्रवाहमय है। मेरा ऐसा ख्याल है कि ये निबन्ध खासकर विद्वानों के काम के हैं। वे ही इनकी भाषा ठीक रूप से समझ सकते हैं। वैसे तो कोई भी शिक्षित इनका उपयोग अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए कर सकता है।

इस पुस्तक का नामकरण 'पिच्छि और कमण्डलु' नामक निबन्ध के आधार पर किया गया है। किसी भी मुख्य निबन्ध या कहानी के आधार पर अपने संग्रह का नाम रखने की परम्परा आज चालू है। यह परम्परा ही पुस्तक के नामकरण के औचित्य का समर्थन करती है; अन्यथा इसका दूसरा भी कोई नाम हो सकता था। इस संग्रह के उक्त निबन्ध और 'निर्ग्रन्थ मुनि' नामक प्रबन्ध में मुनियों के आचार पर आवश्यक प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से इस संग्रह को 'मुनियों की आचार-संहिता' नाम भी दिया जा सकता था जब कि इसमें 'दीक्षाग्रहण-क्रिया' नामक निबन्ध भी है।

इसके निर्माता महाराज श्री मुनि विद्यानन्द जी अध्ययन एवं स्वाध्याय में बहुत रस लेते हैं और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। ज्ञाना-राधना के प्रति उनकी यह जागरूकता इतर मुनियों के लिए वस्तुतः अनुकरणीय है। साधु जब तक विद्वान् और वक्ता न हो तब तक वह अपने व्यक्तित्व से दूसरों को प्रभावान्वित नहीं कर सकता और न दूसरों के उपयोग का ही सिद्ध हो सकता है। मैं समझता हूँ, इस पुस्तक का 'वक्तृत्वकला' नामक बारहवाँ निबन्ध इसी ओर इंगित करता है। जगत् के अद्वितीय तार्किक आचार्य समन्तभद्र और भट्टाऽकलंकदेव जिनशासन का माहात्म्य अपनी लोकातिशायिनी वक्तृत्वकला के आधार पर ही अभिव्यक्त कर सके थे। आज के त्यागी, तपस्वी अगर इस तथ्य को हृदयंगम कर ज्ञानार्जन के लिए जुट जाएँ और किसी भी दूसरे झगड़े में न पड़ें, तो न केवल वे अपना कल्याण कर सकते हैं अपितु लोकोद्धार के पुनीत कार्य में भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के 'आगम चक्खू साहू' और 'अज्झयणमेव झाणं' की ओर किसी भी गृहत्यागी एवं तपस्वी का ध्यान जाना जरूरी है। साधु के लिए जितना निष्कलंक चरित्रवान् होना जरूरी है उतना ही विद्वान् होना भी आवश्यक है।

इस संग्रह के 'धर्म और पन्थ', 'नरजन्म और उसकी सार्थकता', 'समाज, संस्कृति और सभ्यता', 'चरित्र बिना मुक्ति नहीं' आदि अनेक निबन्ध सभी के पढ़ने योग्य

हैं । इनके अध्ययन से सभी को प्रेरणा मिलेगी, इसलिए कि ये सब एक तपस्वी की कलम से प्रसूत है ।

किसी-किसी निबन्ध मे फिर से ऊहापोह करने की जरूरत है । उस ऊहापोह के बाद ही इसका द्वितीय संस्करण सम्पन्न होना चाहिए । इससे यह संग्रह और भी परिष्कृततर एवं परिष्कृततम हो जाएगा । किसी भी कृति की समुज्ज्वलता के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कमियों की ओर ध्यान दिया जाए, और संभव हो तो उसका कायाकल्प कर दिया जाए ।

महाराजश्री का यह पावन प्रयत्न सभी दृष्टियो से वांछनीय एवं प्रशसनीय है । है । मुझे आशा है, यह निबन्ध-संग्रह जन-मानस को प्रबुद्ध करने में अवश्य सहायक होगा ।

—चैनसुखदास
दि जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

निवेदन

प्रस्तुत ग्रंथ के तृतीय संस्करण में कुल अठारह निबन्ध हैं, जिनमें अधिकांश जैनधर्म से संबंधित हैं। प्राय: सभी सुरुचिपूर्ण, चरित्र-निर्माण में सहायक और ज्ञानवर्धक रचनाएँ हैं।

अपने विभिन्न रूपों और शैलियों में विकसित हो रहे आधुनिक गद्य के अनेक विभागों में निबन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निबन्ध का अर्थ है, विशेष रूप में संघटित रचना, जो किसी भावना या विचार की अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। निबन्ध गद्य की कसौटी है, जिसमें प्रतिपाद्य विषय की आत्मीयता पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। साहित्यिक दृष्टि से निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ (निर्बन्ध) और विषयनिष्ठ (परिबन्ध) इन दो वर्गों में विभक्त है। प्रथम में आत्मनिष्ठ एवं अनुभव विशिष्ट रचनाओं का और द्वितीय में बाह्यार्थनिरूपिणी एवं बौद्धिक रचनाओं का समावेश होता है। अनेक विषयों पर व्यवस्थित ढंग से बौद्धिक विवेचन होने के कारण यह ग्रंथ द्वितीय वर्ग की रचनाओं के अन्तर्गत माना जा सकता है। इसके मनोविज्ञान मीमांसा, शब्द और भाषा; एवं समाज, संस्कृति और सभ्यता शीर्षक निबन्ध परिबन्ध निबन्ध के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही विषय-प्रधान लेखों की बहुलता से एक अन्य मतानुसार यह ग्रंथ प्रबन्ध की कोटि में आता है। भाषा प्रौढ़ और शैली परिष्कृत एवं प्रभावोत्पादक है। इसमें यत्र-तत्र संस्कृत, प्राकृत विविध बोध-पूर्ण सूक्तियों का प्रमाण रूप में उपयोग किया गया है।

इन निबन्धों के लेखक पूज्य उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी का व्यक्तित्व सर्वोदयी और सर्वतोभद्र है जो अपनी समन्वयात्मक अनेकान्त वाणी द्वारा भगवान महावीर की जनवादी परंपरा को लोकमानस से जोड़ने की मंगलमय भूमिका संपन्न कर रहे हैं और पावन सुर-सरिता के सदृश सभी के समान रूप से कलुषहर्त्ता एवं प्रेरणा-स्रोत हैं। मुनिश्री ने विशाल विश्व के समक्ष सर्वोदयतीर्थ जैनधर्म को शाश्वत विश्वधर्म (जनधर्म) उद्‌घोषित कर २५ वीं महावीर निर्वाण शताब्दी को सफल बनाया है। मुनिश्री की अनेक प्रकाशित रचनाओं में 'निर्मल आत्मा ही समयसार' एक बहुमूल्य कृति है; जिसके आध्यात्मिक प्रवचनों से उनकी साधना और ज्ञान की गहराई का परिचय मिलता है। लोक-जीवन को प्रबुद्ध करने वाले उनके प्रवचन, लेखन और अपरिग्रही जीवन इन तीनों का प्रतिस्पर्द्धात्मक रूप उनमें दिखाई देता है। आशा है जनता-जनार्दन वर्तमान युग में महान्-पुण्योदय से उपलब्ध इस अद्वितीय श्रमण-निधि से लाभान्वित होकर अपने मानव-जीवन को सार्थक करेगा।

—नाथूलाल शास्त्री
प्राचार्य, सर हुकमचन्द संस्कृत महाविद्यालय
एवं
प्रधान संपादक 'सन्मति वाणी', इन्दौर

अनन्त चतुर्दशी,
वी. नि. सं. २५०१

सराय छोड़ते यात्री को, डाल छोड़ती चिड़िया को, पतझर में वृक्ष से अलग होते पत्तों को वियोग की अनुभूति नहीं होती। सूर्य को पूर्व-पश्चिम से कोई राग-विराग नहीं होता। वीतराग मुनि भी मोह-मूर्च्छा के परिवारों से दूर का संबन्ध भी नहीं रखते। वे संसार में सभी बन्धनों को छोड़ चुके होते हैं। और अन्तिम बन्धन 'शरीर' को छोड़ने के लिए 'समाधिमरण व्रत लेते हैं।

अन्तरंग

"परसमयतिमिरतरणिं भवसागरवारितरणवरतरणिम् ।
रागपरागसमीरं वन्दे देवं महावीरम् ।।"

'पिच्छि-कमण्डलु' इह-परलोक-समन्वय-अन्वित कतिपय निबन्धों का संकलन है। ये प्रबन्ध मार्गोपदेशकमात्र हैं। मार्ग का जहाँ पर्यवसान होकर गन्तव्य ध्रुवप्रदेश की अधिगति होती है वह इस अक्षरविग्रहात्मक पुद्गलपरिप्लव से इतर ऊपर की वस्तु है; क्योंकि आत्मप्रदेश स्वेतरभिन्न अथच स्वसमयात्मक है। उसके प्राप्य प्रकारों की निरूपणसाहस्री का संक्षेप अथवा विस्तार ग्रन्थों का, प्रवचनों का, बुद्धिविमर्श का विषय रहा है। यह निरूपण स्वशक्तिपरिमाण से एक पण्डित, एक त्यागी, एक शास्त्र अनादिपरम्परा से करता आया है। मूलस्रोत के रूप में इसका प्ररूपण केवली भगवान् ने किया है। 'केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलं' यह धर्म केवली-प्रज्ञापित (प्रज्ञप्त) है और मंगलात्मा है। अतएव द्रव्यश्रुतानुबन्ध से इसका लोक-विश्रुत महत्त्व व्यवहार का अनिवार्य अंग स्वीकार किया गया है। इसका समर्थनात्मक सुन्दर उदाहरण घटरूप में देते हुए श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि जब घट का निर्माण किया जाता है तब उसके लिए कुलाल को मृत्-पिण्ड, चक्र, चीवर, सूत्र आदि की अपेक्षा होती है; किन्तु जब वह पाकोत्तीर्ण होकर स्वसंस्कार में परिपक्व हो जाता है तब जलाहरणक्रिया के समय उल्लिखित किसी साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती*। भगवान् वीतराग के परमधर्म मोक्ष के विषय में भी यही सत्य चरितार्थ होता है। पाकोत्तीर्ण होने से पूर्व जैसे सुवर्ण ताडन, छेदन, ताप, कुट्टन आदि स्थिति-मार्गों से विशुद्धि-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है, वैसे ही यह आत्मा अपने अनादिकाल से इस कर्मफलगृहीत, पुण्यापुण्यास्रवजायमान शरीरसंयोग से नाना योनियों में परि-भ्रान्त होकर, प्रतिवार इन बहिर्भावों के संगदोष से परिमुषित होकर जन्म-जरा-मृत्युचंक्रमणरूप किट्ट-कालिमा में निगृहीत होता आ रहा है। इसकी अग्निविशुद्धि स्वस्वरूपावस्थान है। उस स्वोपलब्धि के वैज्ञानिक सोपान को जिनवाणी स्वानुभव से लोकहितार्थ प्ररूपित करती है। एतावता कहना चाहिए कि शास्त्र अथवा पिच्छि-कमण्डलु आत्मा के लिए सोपानमार्ग की सृष्टि करनेवाले हैं। यही इनका प्रयोजन है। इससे आगे आत्मा को स्वयं ऊर्ध्वमन्थी होना है। यदि इसे यों कहें कि पिच्छि-कमण्डलु आदि आत्मा के असद्भूत लक्षण हैं, सद्भूत नहीं तो अधिक उपयुक्त कथन

---

* *"मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।*
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते ।।" —श्लोकवार्तिक

होगा। 'दण्डी देवदत्त:'–अर्थात् देवदत्त का लक्षण पूछने पर यदि कहा जाए कि वह व्यक्ति जो हाथ में दण्ड रखता है, देवदत्त है तो यह उसका सर्वकालाविसंवादी स्वलक्षण नहीं माना जाएगा, क्योंकि दण्डधारण उसका स्वांग नहीं है, किसी आंगिक अशक्ति के सहयोग के लिए गमनागमनक्रिया में उसे दण्डसहकार प्रयोजनीय है, ततःपश्चात् नहीं। शुद्ध, निर्विकल्प आत्मस्थिति से पूर्व साधनावस्था में, संस्कार-स्थिति में शौच-संयम-स्वाध्यायादि के उपकरण अपेक्षित हैं, इसके पश्चात् नहीं।

भवन की छत पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ लगाई जाती हैं, बालक के गत्यात्मक पदसंक्रमणशिक्षणार्थ त्रिचक्रिका (तीन पहियों का रहनुमा) का उपयोग किया जाता है, संसार में प्रचलित समस्त वाहन प्राप्तव्यपर्यन्त पहुँचाने वाले साहाय्य साधन हैं, स्वयं साधक नहीं। इसके पश्चात् भवन की अन्तिम सीढ़ी का परित्याग कर छत पर पाँव बढ़ाने वाला तो स्वयं व्यक्ति है। यदि वह उस सोपानपंक्ति पर ही अवस्थित रहेगा तो छत पर नहीं पहुँच पाएगा। मयूरपंखों को लेकर यदि कोई सिद्धालय की उड़ान भरना चाहेगा अथवा कमण्डलुमात्र से भवसिन्धुसन्तरण की वाञ्छा करेगा किंवा कतिपय आप्तवाणी के पाठ कण्ठाग्र कर मुक्तिरमा से पाणि-ग्रहण की अभिलाषा रक्खेगा तो यह अकृत्य कार्य होने की शंखघोषणावत् होगा; क्योंकि–

"नुडिवुदु पुद्गल, केळुवदु पुद्गल,
कडेगे पुद्गल स्नेहकोपा।
जडदेहनु कि नन्नेदैयोळिरय्या
बानोला चिदम्बर पुरुषा॥" –महाकवि रत्नाकर, ९९

जिह्वारथ पर बैठकर श्रोत्रभवन में प्रविष्ट होनेवाले शब्द-पुद्गल हैं, उसके स्फोटसहायक दन्त, ओष्ठ, कण्ठ, तालु आदि भी पुद्गल हैं, अधिश्रयण-अवाश्रयण के स्थानभूत जिह्वा और कर्णप्रदेश भी पुद्गल हैं। वाणीरूप शब्दमाध्यम से व्यज्यमान स्नेह तथा कोप भी पुद्गल है। देह भी जड़-पुद्गल है। चिदम्बर आत्मपुरुष उससे परे है, पुद्गलभिन्न है। अतः जो आत्मा पुद्गल का सवर्ण ही नही है, जिसके न जिह्वा है, न श्रोत्र है, न मुखयंत्र है, न स्नेह-कोप है, और न शरीर है, वह पुद्गल-द्वारा परिभाषित राग-द्वेष के कथन को किस विधि से ग्रहण करे? और जब इनमें उसका स्व नहीं, तो क्यों ग्रहण करे? तभी तो इसके निरिन्द्रिय, निर्देह, मुक्त स्वरूप को जानते हुए आ. कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा–'यह एकत्वनिश्चयगत समय (आत्मा) लोक में सर्वत्र सुन्दर है। अतः जब वह बन्धनग्रस्त होता है तो अपनी सहज सुन्दरता खो बैठता है* । आत्मा के ज्ञान-दर्शनरूप स्वलक्षण का निर्वचन आगम शास्त्र में आचार्यों ने पदे-पदे किया है। कथनशैली में पदसंघटनात्मक रीतियाँ बदली

---

* *"एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।*
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई॥" –समयासार, ३

हैं, तत्त्वार्थ की एकरूपता कहीं द्विमुख नहीं हुई। उन्होंने मुहुर्मुहुः इसी अर्थ का मन्थन-रोमन्थन किया कि–'ज्ञानदर्शन मेरे आत्मा का सद्भूत लक्षण है, यह शाश्वत है। शेष संयोगी भाव विभाव हैं, बहिर्भाव हैं[1]।

ये आत्मव्यतिरिक्त संयोगज बहिर्भाव जतुकाष्ठसंयोगवत् हैं, कमण्डलु में निहित जलतुल्य आधाराधेयभावपरिलक्ष्यमाण होकर भी पद्मपत्रवत् अन्योन्य-भिन्न हैं। तुषमाषभिन्नता का उपचार इसी भेदविज्ञान को पुष्ट करता है। जब तक व्रतादि से विशुद्धि न हो, इस भेदविज्ञान की यथार्थ प्राप्ति नहीं हो पाती। गेहूँ की रोटी जब अग्नि पर पक्व की जाती है तब उसके दो भाग स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं, जिसे 'फूलना' कहते हैं। अग्निपाक से पूर्व उनकी विद्यमानता परिलक्षित नहीं होती। उस सिकी हुई रोटी को अग्नि पर से उतार लेते हैं क्योंकि वह सिद्धान्न हो चुका है। इसी प्रकार आरम्भ में व्रतादि, पिच्छि-कमण्डलु-शास्त्रादि आदेय हैं और सिद्धावस्था में केवल अपना आत्मा ही उपादेय है। गीता में भी इसी आशय को शब्दान्तर में निरूपण करते हुए कहा है कि–'जब मुनि योगाभ्यासी हो तो स्वचारित्रादि कर्तव्यों का आचरण करे किन्तु जब गन्तव्य पर पहुँच जाए तो उनसे विरत हो जाए, शमवृत्ति धारण करे[2]।'

उपरितन अनुभाग का आशय यही है कि रागमार्ग को हेय जानकर जो त्याग-पथपथिक हुए हैं उन्हें पिच्छिकमण्डलु धारण करना योग्य है; क्योंकि यह जिनेन्द्र-धर्माध्वनीनों की मुद्रा है, शौच-संयम के लिए विहित शास्त्रानुमोदित उपकरण हैं, अपरिग्रह के सूचक लक्षण हैं, अव्याबाध विहार करने में सौविध्योपस्थापक हैं, सशरीरावस्था में ग्राह्य-अपेक्षा को पूरनेवाले न्यूनातिन्यून साधन हैं, पवित्र हैं, याञ्चादोष से मुक्त हैं तथा मुनिवृत्ति को प्रतिक्षण स्मरण करानेवाले हैं। परन्तु इससे अधिक आत्मा के सर्वस्व नहीं हैं।

आत्मा का सर्वस्व तो आत्मा ही है। एतावता साधना में लगे रहकर शनैः शनैः सम्पूर्ण परभावों से, परसमयों से, नयवादों से उन्मुक्त होने का प्रयास करते जाना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र अपने 'समयसारकलश' में इन सम्पूर्ण बहिर्भूत वादकोलाहलों का प्रतिषेध करने का मार्मिक प्रबोध देते हुए कहते हैं – 'अये जीवात्मन्! क्या करता है तू? प्रवचन, शास्त्रपाठ, पिच्छि-कमण्डलु की संभाल और अधिक हुआ तो 'काले पाठः स्तवो ध्यानम्' और बस मान लेता है अपने को कृतकृत्य! क्या इतने से शुतक में आत्मोपलब्धि हो सकेगी? ये सब तो अकिंचित्-कर हैं। मेरा परामर्श सुनो! एक षाण्मासिक योग धारण करो। छोड़ दो यह

---

१. "एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥" –सामायिकपाठ, १२

२. *"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥" –गीता*

सब वाद, व्याख्यान! क्या हैं ये? एक शब्दपरम्परा! एक कोलाहल! कोलाहल में लोग आत्मस्थ नहीं हुआ करते। सुना है माघनन्दी को? उन्होंने ध्यानसूत्रों की रचना की है। वे सूत्र आत्मस्थ होने में उपकारक हैं। परन्तु उनके लिए किसी प्रशस्त, प्रशान्त, एकान्त की आवश्यकता है। यात्रा में दो भले, किन्तु चिन्तन में एक—यह अनुभूत लोकोक्ति है। अतः सबसे अलग होकर ध्यानलीनता सिद्ध करो। देखोगे चमत्कार! आत्मोपलब्धि होगी। इससे उत्तम क्या चाहिए? अपेक्षित है अपने स्वरूपबोध के लिए त्वरता, तत्परता, एक बिकलता जिसकी परिसमाप्ति आत्मसाक्षात्कार होने पर होगी* ।

आचार्य का यह उपदेश हृदयग्राही है। इतना ही नहीं, यह परसमय से पराङ्मुखकर स्वसमय में आने का सरस-मधुर निमंत्रणपत्र है। यदि जीवन प्रवचन-कोलाहलों में ही अवसित हो गया तो आत्मोपलब्धि का उपाय क्या होगा? महाव्रती तपस्वियों का परमलक्ष्य तो आत्मासाक्षात्कार अथ च कैवल्याधिगम है। उसके लिए पर्याप्तकाल रहते ही प्रयत्नवान् होना अभीष्ट है। 'अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो राव्या प्राक्'—अथर्ववेद की इस पीयूषपंक्ति का यही भाव है कि व्रतशील वह है जो रात्रि-आगमन से पूर्व दिन-दिन से आत्माभिमुख हो जाए; क्योंकि दिन जीवन का पर्याय है और रात्रि मृत्यु का। विजेता वही है जो जीवित रहते अपनी मृत्यु पर विजय पा ले। स्वेच्छया मुक्तिमार्ग पर जीवनविसर्जन करनेवाले धन्यभाग्य पुरुष ही तो ऐसा कह पाते हैं कि—'अहो! मैंने अपनी आँखों से अपनी अरथी (मरणमहोत्सव) को देख लिया। यह अनुपम आनन्द का विषय है। यह दुष्कर तपःसमुपात्त समाधि मेरा चरम मरण है अब न मृत्यु होगी और न जन्म। 'नास्ति जन्म कुतो मृत्युर्नास्ति मृत्युः कुतो भयम्'—जन्म नहीं होगा तो मृत्यु कैसी और मृत्यु न होगी तो भय कैसा? इसीकी यथार्थ उपलब्धि वांछित है तो स्वयं एकान्त में साधना करो। तीर्थंकरों ने, सिद्धों ने, केवलियों ने जन्ममृत्युनिवृत्ति प्राप्त की; यह बहुत पढ़ा, बहुत सुना और बहुतों को सुनाया। परन्तु इस अनन्यनिष्ठ सत्य को स्वयं साक्षात् करो। वही सत्य तुम्हें भी प्रतीत होगा, जिसका अमृतास्वादन ध्रुव, अचल, अनुपमगतिप्राप्त सिद्धों को हो चुका है। क्योंकि यह विषय आगम-शास्त्रवर्णित तो है तथापि इसकी प्राप्ति वर्णबोध से ऊपर है। तभी तो इसे 'स्वयमपि निभृतः सन्'—कहा गया है। यह सिद्धि सत्य होते हुए भी प्रत्येक भिन्न है। किसी तीर्थंकर की सिद्धि में किसी अन्य के लिए इसका याचनासुलभ अनुदान नहीं। यहाँ तो स्वपुरुषार्थ ही संबल है। हाँ, मार्गोपदेशरूप में प्रक्रियाविधान स्वाध्याय से प्राप्त किया जा सकता है। जिसके लिए निम्न चिन्तन-निष्कर्ष हो सकता है—

---

* *"विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन*
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः" — समयसारकलश, ३४

राग और त्याग दो मार्ग हैं। रागमार्ग बन्धकारक और त्याग मुक्तिप्रद है। इसे इन्द्रियवृत्ति तथा आत्मवृत्ति (अनिन्द्रियवृत्ति) भी कहा जा सकता है। इन्द्रियों का स्वभाव पराङ्मुखता है और आत्मा का प्रत्यङ्मुखता अर्थात् स्वमुखता। सभी का यह स्वभाव होता है कि वह अपने सजातीय से, उसके सम्पन्न होने से प्रसन्न होता है। संगीतमय स्वर कर्णरन्ध्रों को प्रसन्न करता है, रूप नेत्रों को आह्लादित करता है, सुरभि से घ्राणेन्द्रिय पुलकायमान हो उठती है। इन इन्द्रियों के प्रिय विषय जिन्हें इनकी तन्मात्राएँ कहा जाता है अपने-अपने पुद्गलप्रदेशों से प्राप्त होते हैं; क्योंकि इन्द्रियविषय आपातरम्य हैं अतः अधिकांश लोग इन्द्रियास्वाद से ऊपर नहीं उठ पाते। सहस्रों व्यक्तियों में कोई एक धीर पुरुष अक्षों को उपेक्षित कर आत्मार्थी होता है। वही राग को त्यागता है और त्याग को अनुरागता है। वही उस आत्मा का साक्षात्कार करने में कृतकाम होता है। कठोपनिषद् में वर्णन है कि 'इन्द्रियाँ बहिर्मुख होने से बाहर-बाहर देखती हैं; परन्तु कोई धीर पुरुष अमृतत्व की इच्छा रखकर प्रत्यगात्मा हो जाता है'।[1] अन्ततः दुर्लभ उपलब्धियों के स्रोत यदि अमृतमय हैं तो व्रत, तप, संयम, आचार आदि कृच्छ्रसाधनाओं का अनुपालन भी चाहते हैं। ऊंची शाखा पर लगे हुए फल किसी प्रलम्बपाणि को प्राप्त हो सकते हैं, नितान्त वामन को नहीं। स्वयं प्रत्यगात्मा होने का यह आत्यन्तिक आग्रह आत्मोपलब्धि में स्वपुरुषार्थ की घोषणा का उद्गान है। आचार्य अमृतचन्द्र, भर्तृहरि, पद्मनन्दी तथा अन्य आचार्य महानुभाव इसकी प्राप्ति में स्वानुभूति को एकमात्र प्रमाण मानते आये हैं[2]। द्रव्यश्रुत यष्टि-आलम्बन है उससे भावश्रुत का अधिग्रहण अभीष्ट है।

'ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय' में श्रीहरिभद्र सूरि ने जैनदीक्षा को स्वसमयदीक्षा कहा है। 'समयाख्यात्र दीक्षा' – इस समयस्थिति को सामायिक तथा सामायिक को मोक्षांग माना गया है। 'सामायिकं च मोक्षांगम्' – आत्मा के अपने गुण ज्ञान का अभीक्ष्ण उपयोग स्वाध्यायमुख से कथंचित् होता है। अतः स्वाध्यायहेतुकी प्रेरणा से 'पिच्छि-कमण्डलु' को अवलोकित करना वाञ्छनीय है। साथ ही 'न निमित्त-द्वेषिणां क्षेमः' तथा 'शेषाः बहिर्भवा भावाः' के अवसरोचित अर्थों का समन्वय स्वप्रतिभान से करना चाहिए। किमतिपल्लवितेन। 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।'

मुनि-दीक्षा
२५-७-६३
दिल्ली

—विद्यानन्दमुनि

---

१. *"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।*
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥" — कठोपनिषद् ।२।१

२. *'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'* —अमृतचन्द्र
'स्वानुभूत्या भवेद् गम्यम्' —पद्मनन्दी
'स्वानुभूत्येकमानाय' —भर्तृहरि

अनुक्रमणिका

१.	भक्ति	१
२.	गुरुसंस्था का महत्त्व	११
३.	नरजन्म की सार्थकता	२४
४.	जैनधर्म में नारी	३८
५.	निर्ग्रन्थ मुनि	४८
६.	मनोविज्ञान-मीमांसा	६१
७.	चारित्र विना मुक्ति नहीं	७३
८.	पिच्छि-कमण्डलु	८३
९.	शब्द और भाषा	९३
१०.	वक्तृत्व-कला	१००
११.	मोह और मोक्ष	११०
१२.	लेखन-कला	१२४
१३.	साहित्य और स्वाध्याय	१३१
१४.	समाज, संस्कृति और सभ्यता	१३९
१५.	वर्षायोग	१५१
१६.	धर्म और पन्थ	१५९
१७.	दीक्षा-ग्रहण-विधि	१६९
१८.	सल्लेखना	१७८

मंगलमन्त्र

णमो अरहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

मंगलोत्तमशरणपाठ

चत्तारि मंगलं
अरहंता मंगलं
सिद्धा मंगलं
साहू मंगलं
केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥१॥

चत्तारि लोगुत्तमा
अरहंता लोगुत्तमा
सिद्धा लोगुत्तमा
साहू लोगुत्तमा
केवलीपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥२॥

चत्तारि सरणं पवज्जामि
अरहंते सरणं पवज्जामि
सिद्धे सरणं पवज्जामि
साहू सरणं पवज्जामि
केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥३॥

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर श्रुत केवली भद्रबाहु के जीवन को अंकित करने वाले अनेक प्रसंग शिलोत्कीर्ण हैं। पुरातत्त्व की दृष्टि से प्रस्तुत शिल्पाङ्कन छठी शताब्दी का माना जाता है।

कोटकपुर (बंगाल) में राज-पुरोहित श्रीसोमशर्मा का पुत्र भद्र-बाहु अपने मित्रवर्ग के साथ क्रीड़ारत था। वह १४ गोटियाँ एक-पर-एक संजोकर खेल रहा था। इस खेल में वह आशीर्ष मग्न था। आचार्य गोवर्द्धन बालक भद्रबाहु की इस विचक्षण गतिविधि को दत्तचित्त देख रहे थे। उसका यह खेल साधारण नहीं था, चौदह गोटियों को एक-पर-एक संयोजित करना तो १४ पूर्वों की प्रगति का सशक्त संकेत था।

प्रस्तुत चित्र में आचार्य गोवर्द्धन मेधावी बालक भद्रबाहु को निर्निमेष देख रहे हैं और उसे अपने साथ मन्दिर की ओर चलने का इंगित कर रहे हैं।

बालक भद्रबाहु आचार्य गोवर्द्धन

दीक्षा

भक्ति

भक्ति का अर्थ है तन्मयता । अपने उपास्य के स्वरूप में एकाकार होना भक्ति की सिद्ध उपलब्धि है। बिना उपास्य के स्वरूप और गुणसाम्य की प्रयत्नशीलता के भक्ति अपूर्ण है। अपने इष्टदेव को जो-जो रुचिकर है, उसे ग्रहण करना और जिनका निषेध या वर्जन है, उन्हें मन, वचन और काय से अस्वीकार करना भक्ति के लक्षण हैं । 'तद्द्वेष्ये विरागस्तत्स्पृहणीये चानुराग:' अपने प्रभु को अच्छे न लगनेवाले विषयों से विराग और उसके स्पृहणीय पदार्थों पर अनुराग दर्शाते-दर्शाते वे ही राग-विरागमयी प्रवृत्तियाँ एकचित्त होकर उस साधक भक्त का स्वभाव बन जाती हैं । यदि प्रभु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पसन्द करते हैं तो उनका भक्त भी उन्ही व्रतों को धारण करना अभिवाञ्छित समझेगा । यदि भगवान् को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह प्रिय नहीं तो भक्त इनमें रति कैसे कर सकता है ? इत्यादि प्रकार से अपनी सम्पूर्ण रुचियों और स्वभाव को अपने आराध्य के साथ तन्मय कर तन्मनस्क होने वाला भक्तिरस के वास्तविक मूल को पाता है । भक्ति की फलश्रुति का निर्वचन करने वालों ने 'वन्दे तद्गुणलब्धये' लिखकर भक्तिविषयक विशाल प्रबन्ध की महावाक्यता को एक सूत्र में कह दिया है। यदि वर्षों दीप जलाकर, घण्टावादन कर, पूजा-प्रक्षाल करने के उपरान्त भी तद्गुणलब्धि नही हुई तो भक्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ भी पल्ले नही पड़ा उसके भावात्मक अधिग्रहण का तो प्रश्न ही दूर है । जिनचतुर्विंश-तिका की उक्ति है कि–'हे जिनेन्द्र! इस संसार में वही बुद्धि का पारगामी विद्वान् है, वही श्रुतस्कन्ध समुद्र का हेलया सन्तरण करनेवाला है और वही गुणरत्नों (रत्नप्रतिम गुणावली) से विभूषित तथा श्लाघनीय है जो संसारसर्पविष का अपहार करने में मणिसमान आपके गुणों को अपने श्रोत्र और हृदय के अलंकार बनाता है; अर्थात् सुनता है तथा श्रद्धान करता है ।'[1]

तद्गुणलब्धि का यह प्रयत्न असामान्य कार्य है । सिद्धालय की ऊँचाइयों को हेलया नहीं छुआ जा सकता । मन, वचन और काय के बहुमुखी व्यापार को ध्येय की एक बिन्दु पर ले आना उतना सरल नहीं जितना 'जहँ ध्यान, ध्याता,

---

१. *'प्रज्ञापारमित: स एव भगवन् ! पारं स एव श्रुत–*
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्य: स एव ध्रुवम् ।
नीयन्ते जिन ! येन कर्ण हृदयालंकारतां त्वद्गुणा:
संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणे: ॥' —*जिनचतुर्विंशतिका,* ७

ध्येय को लय' पदावली को गा देना । गुणलब्धि के लिए आचरण करना होता है; विचारों में अनेकान्त सप्तभंगी का और चारित्र में अहिंसा का अदमनीय आत्म-वृत्ति से अनुध्यान, चिन्तन, मननपूर्वक सहजगति से चारित्रप्रवर्तन करना होता है और तब कहीं साधना के पथ पर सिद्धि के दूरगामी चरण दिखाई देते हैं। जैसे बांस के आश्रय से नट ऊँचा चढ़ने में सफल हो जाता है उसी प्रकार भक्ति के मणिसोपान (सीढ़ियों) के सहारे मनुष्यभव उन्नतावस्था प्राप्त करने में कृत-कार्य हो जाता है क्योंकि स्तुति करते-करते उसे जो तन्मयता प्राप्त होती रहती है, उससे उसे दैहिक विषय-विकारों पर विजय तथा वितृष्णा की आनुषंगिक उपलब्धि होती है जिससे शुभोपयोग में वृद्धि आती है। वह इस तन्मयता में गाने लगता है कि 'हे जिनेन्द्र[1] ! हे तेजःपुंज के अधिपति ! मैं तुम्हारी श्रद्धा में डूबा रहूँ, तेरा अर्चनमात्र याद रहे शेष सभी बातें मैं भूल जाऊँ, मेरे हाथ अंजलिबद्ध होकर तुम्हारे समक्ष मेरी अकिंचन भक्ति का नैवेद्य लिये रहें, कानों में तुम्हारी पवित्र कथा सुनायी देती रहे और आँखें त्राटकसिद्ध होकर अनिमेषवृत्ति से तुम्हारे ही दर्शन का लाभ लेती हुई इन्द्र के सहस्रलोचननिरीक्षण को भी मन्द कर दें । हे देव ! मुझे कोई व्यसन न हो और यदि व्यसन शब्द का अर्थ 'अतिप्रसंग-अतिसेवन' है तो मुझे आपकी स्तुति करने का व्यसन रहे एवं यह मस्तक आपकी गुरुभार श्रद्धा से निरन्तर नतिपरायण रहे । पूजा के नारिकेल-सा तुम्हारे चरणमूल में धरा रहे । मैं तुम्हारी ही कृपाओं के प्रसाद से प्राप्त इस अमृतजीवन को जीकर तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान् रहूँ । इस प्रकार के उद्गार जब छन्दोमयी वाणी पर स्वतः प्रस्फुटित होने लगें तब स्थाणुसमान शरीरवृक्ष पर दैवीवरदान का अमृत-वसन्त कुसुमित हुआ जानना चाहिए । इस भक्तिकुसुम से बिहँसते वसन्त को पाने में मन के जाड्य (शिशिरभाव) को दूर करना मात्र पर्याप्त है फिर तो 'शक्तिस्तस्य हि तादृशी' उस परमदयाक्षमामूर्ति परमात्मा की करुणा के स्रोत नवीन आकाशगंगा को प्रवाहित करने लगते हैं जिनमें अवगाहन कर भक्त भक्ति के अनिर्वाच्य रस को पा लेता है । भक्ति से ही मुक्ति है और भुक्ति भी भक्ति से ही है । भुक्ति तथा मुक्ति के लिए जिनचरणारविंद का मधुलिह (भ्रमर) होना अपरिहार्य है। भगवान् जिनेन्द्र ने अपने समस्त दोषों को शान्त कर दिया है इसलिए उन्हें आत्म-शान्ति प्राप्त है और सिद्ध है कि जिसे जो वस्तु प्राप्त है उसमें से वह दूसरों को भी बाँट सकता है और प्रभु शरण में आये हुओं को शान्ति प्रदान करते हैं[2] ।

---

१. *'सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते*
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि सम्प्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन मे
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते !॥' —स्तुतिविद्या, आ. समन्तभद्रः

२. *'स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।*
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः॥'—शान्तिजिनस्तोत्र,८०

जो श्रद्धा तथा विश्वास के युगलनेत्रों से भगवान् की भक्ति (शरण) ग्रहण करता है उसे निश्चय परमकृतार्थता मिलती है अन्यथा इन बाह्य नेत्रेन्द्रियमात्र से उस श्रद्धामूर्ति का दर्शन होना कठिन है । भगवान् की स्तुति करते हुए एकीभाव प्राप्त करना भक्त का ध्येय होना चाहिए । 'मम परमविशुद्धिः' जैसे उद्गार उसके समक्ष निकलने चाहिए । यदि भगवान् से पुत्र-पौत्र, धन-सम्पदा और क्षुद्र लौकिक अपदार्थों की याचना की गई तो यह केसर के खेत में जाकर कुश ग्रहण करने के समान होगा; ये लौकिक वैभव तो मुक्ति के लिए कृत-करिष्यमाण प्रयत्नों की तुलना में कुछ नहीं हैं; अतः याचना के भाव उठें तो उन प्रचलित सम्प्रदाओं के धनी से मुक्तिलक्ष्मी की याचना करना उचित है किंवा मुक्तियाचना से भी क्या ? वह तो भक्ति का शुल्क है अर्थात् जहाँ शुल्क रूप में भक्ति भेंट की और मुक्ति प्राप्त हुई[1] । अतः परिणामविशुद्धि के लिए प्रथम भक्ति की याचना ही मुख्य है । भला, जिनेन्द्रचरणकमलों का मधुप क्यन जन्म-जरा मृत्युबाधाग्रस्त अधमता को पाता है ? अथवा हिमालय के दुरारोह शिखर पर खड़ा होकर कोई मैदानों के मुट्ठीभर कंकर-पत्थर चाहता है ? जिनेन्द्रबिम्ब को देखनेमात्र से अशाश्वत विषयादि परिग्रह-मुह्यमान सुखों से उसे विरक्ति हो जाती है और वह केवलज्ञानरूप अग्नि में अपने पुण्यों की आहुति (विसर्जन) देने के लिए आकुल हो उठता है[2] । देव के समक्ष अपने पाप दग्ध करने के लिए तो अनेक आते हैं परन्तु पुण्य भी बन्धपरिणामी है, ऐसा मानकर उनका भी पुष्पांजलिवत् विसर्जन करनेवाले कितने बीतराग हैं, यह अनुभूति से ही जाना जा सकता है । 'विषापहार' स्तोत्रकार ने सुन्दर ढंग से भक्ति और तदुद्भूत फलश्रुति का अंकन करते हुए कहा है कि—'हे भगवन् ! मैंने आपकी स्तुति की है एतावता मुझे स्तुतिदक्षिणा दीजिए यह मैं नहीं कहूँगा क्योंकि स्तुति की है तो अपने मन से की है, अपनी इच्छा से और अपनी परिणामविशुद्धि के लिए की है । आपने तो मुझे स्तुति-पाठक नियुक्त नहीं किया । करते भी कैसे ? वीतराग जो हैं । और स्तुति करने के लिए यदि स्वर्गपति भी सेवानियुक्त हो, उतने से आप की अनन्तगुणसंवलित अतिशयता में कौन-सी अभिवृद्धि हो जाती है ? यह तो इन्द्रादि के सौभाग्यों की सूचना है कि वे आपकी सेवा में हैं[3] । जहाँ तक स्तुति का प्रश्न है, उसके लिए कहा जा सकता

---

१. *'श्रीपतिर्भगवान् पुष्याद् भक्तानां वः समीहितम् ।*
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥' —क्षत्रचूडामणि, १।१

२. *'अर्हत्पुराण पुरुषोत्तम पावनानि वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव ।*
अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥' —नित्यपूजा, १२

३. *'इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते*
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ।
त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम् ॥' —एकीभावस्तोत्र, २०.

है कि अतिशयोक्ति नामक अलंकार स्तुति-अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है; अर्थात् किसी में तिलप्रमाण गुण हों और कोई वाणीपति मेरु प्रमाण वर्णन कर पाये, तब तो वह स्तुति हुई और यदि मेरु की वर्णना करते हुए उसके तिलभाग का वर्णन करने में ही शेमुषी कुण्ठित हो चले उस हीनोक्ति को अतिशयोक्तिमूलक 'स्तुति' के अर्थ में लेंगे[१] ? किन्तु बालक अपनी तुतलाहट को इसलिए तो नहीं छोड़ सकता कि पिताजी के पाण्डित्य के समक्ष ये तुच्छ हैं । भले तुच्छ हों, अच्छे और स्वच्छ तो हैं; क्योंकि हृदय की शुद्धता मिली हुई है । स्तुतिकर्ता भी अपने को अशेषवक्ता नहीं मानता । वह भी यत्किंचित् वाणीगम्य सप्त स्वरों को गा-बजा लेता है । विश्वभर में कितने स्वर हैं, उसका अखिलगुम्फन उसके लिए अशक्य है। वह तो अपने दुरितांजन-नाश के लिए, पवित्र होने के लिए स्तुति को ही माध्यम समझता है[२] । वीतराग जिनेन्द्र तो स्तुति-निन्दाओं से परे हैं । नदी पर न जाने कितने लोग आते हैं और कितने प्रयोजनों से आते हैं । एक पानी पीने आता है, दूसरा पत्थर से पानी उछालता है, तीसरा नहाता है और चौथा कहीं वंशी डालकर मछली की घात लगाता है । और भी कोई पाँचवाँ आ सकता है जो तैरकर या नाव डालकर धार के पार पहुँचना चाहता है । इन विविध प्रयोजनापेक्षी जनों से नदी को क्या काम ? उसकी कोई लहर, गति-क्रम का कोई छन्द किसी के आने-जाने से इधर-उधर नहीं होता । प्यासे को नीर पीना हो तो परिसर के उपकूलों पर उतरे, झुके, अंजलि भरे और पिये यथेच्छ अघाकर, तृप्त होकर । कौन हाथ थामता है कि बस करो । नहीं पीना चाहे तो भले यावज्जीवन खड़ा रहे। कौन नदी ऊपर उठकर उसके मुख में उतरती है ? यही वीतरागता है । भगवान् परमवीतराग हैं अतः कोई स्तुति करे या निन्दा । उनके समभाव में अन्तर नहीं आता । उन्हें न तो पारिजातमालाओं से मुग्ध किया जा सकता है और न कण्ठ में सर्प पहनाकर विचलित अथवा क्रुद्ध किया जा सकता है । उनके स्वाभाविक समत्व को चुनौती नहीं दी जा सकती[३] । ये हर्ष-विषाद, क्रोध-मोह और वासना-कषाय की

---

१. *'गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।*
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥' —स्वयम्भू. ८६.

२. *'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे ।*
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः ॥' —स्वयम्भू. ५७.
'तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥' —स्वयम्भू. ८७.

३. *'एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः*
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः ।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥' —ज्ञानार्णव, २७

स्थितियाँ तो संसार-परायण को प्राप्त होती हैं । समत्व से आप्यायित मुनीन्द्र पर इनका प्रभाव उसी प्रकार व्यर्थ जाता है। जिस प्रकार तेल से चिकने हुए कलश पर पानी । फिर भी जैसे सर-सरिता में डुबकी लगानेवाले को जल की शीतलता, पीनेवाले को तृषाशामकता स्वत: प्राप्त होती है वैसे ही प्रभुपदशरणागतों को आत्मिक शान्ति अवश्य मिलती है । इसीको 'शक्तिस्तस्य हि तादृशी' कहा गया है । कोई डुबकी लगाये और इच्छा करे कि शीतलता का स्पर्श न हो, यह वस्तुस्वभाव से विरुद्ध बात है । इसीलिए तो 'कश्छायया याचितयाऽत्मलाभ:'—वृक्षतले अवस्थित होकर छाया मांगना तो प्रवहमान निर्झर को बहने के लिए कहने जैसा है । और याचना करने पर फल-पुष्प तो मिल सकते हैं किन्तु छाया नहीं । यदि छाया भी मिला करती तो लोग उसे भी पत्थर मारकर फलों के समान उतार लेते । एतावता यह विशिष्ट आधार तो चरणमूल में उपासीन भक्तिदीन (भक्ति के लिए याचक) को ही मिल सकता है । यहाँ (उक्त पद में) जो 'आत्मलाभ' पद है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मलाभ तो आत्मप्रकृति में स्थित होना है। जो अदीन, अयाचक तथा परिपूर्ण आत्मा है वह क्या याचना करता है ? वह तो 'तुझ को देखूं और तुझ-सा हो जाऊँ'—महावाक्य है। उसमें न याचना है, न कोई इच्छा । अत: वीतराग से वीतरागत्व प्राप्त करना ही उक्त 'जिनेन्द्र-तरु' के नीचे (चरणमूल में) अवस्थान का अभिप्राय है । यदि च भगवान् जिनेन्द्र की शरण में आकर भी किसी प्रकार का दु:खादि शेष रह जाता है तो भक्ति-सपर्या में ही कहीं त्रुटि है, ऐसा मानकर अधिक तन्मयता और निरलसता से भक्ति में अनुरक्त होना चाहिए; क्योंकि यदि एक वस्तु दस हाथ ऊँची रक्खी हुई है और नौ हाथ की ऊँचाई जितना प्रयत्न करने तक वह प्राप्त नहीं होती है तो इसमें खिन्नता, अनुत्साह, अकृतकार्यता के भाव क्यों मानें ? उसके लिए अपेक्षित एक हाथ भर का जो शेष उद्योग है, उसी में प्रवृत्त होना पुरुषार्थपरायणता का चिह्न है । स्टेशन की दूरी बीच पथ में हमारे थकने, श्रान्त-क्लान्त होने से समीपता में नहीं बदल जाएगी । उसको समीप लाने के लिए तो हमें चलते रहना पड़ेगा और यह निश्चित है कि जितने कदम की वह दूरी है, उससे अधिक चलना नहीं होगा । हाँ ! जो मार्ग भूले हुए हैं, उन्हें कितना चंक्रमण करना पड़े, यह अवक्तव्य है । इसीलिए तो 'यावदेतेऽपवर्ग:' और 'जिने भक्तिर्भवे भवे' कहा गया है । ये सूत्र आस्था की शक्ति को एकाग्र करने के लिए हैं, उसे हतोत्साह करने के लिए नहीं । कर्म की जितनी ग्रन्थियाँ उलझी हुई हैं, उनके सुलझाने में अन्तर्मुहूर्त समय भी लग सकता है और अनेक जन्म भी । क्या सभी तद्भवमोक्षगामी होते हैं ? अनन्तानुबन्धी कर्म का रज्जु इतना सुदृढ़ भी हो सकता है कि तोड़ते-तोड़ते संवर-निर्जरा करते-करते उन्हें खपाते हुए कई जन्मों का पुरुषार्थ अपेक्षित हो । अत: भक्त को भाते रहना चाहिए कि 'श्रुत-स्वाध्याय से, वन्दना से, दर्शन से यदि दु:खों का प्रशमन नहीं हो

रहा है तो अपने अनन्तानुबन्धी कर्म की अधिकता अथवा भावप्रवणता की कमी है[1]। और निश्चय ही भावशून्य क्रियाएँ फलीभूत नहीं होतीं। भावात्मक एकता सम्पादन के लिए ही मूर्तिविद्या का आश्रय लिया जाता है और प्रतिमा-वन्दन, अर्चन (पूजा-प्रक्षाल) करने का आगम-सम्मत विधान है। नहीं तो 'न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये' कहकर उसकी भावशून्यपीठ पर अनुपस्थिति, असिद्धता घोषित नहीं की जाती। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा द्रव्य से भाव की ओर लौटना जीव के उद्धार का पथ है। उपास्य देव की भक्ति करते-करते उसे इसी का प्रयत्न करना चाहिए। श्रमणसंस्कृति में वीतरागता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मोह को, मूर्च्छा और परिग्रहों को बन्ध कहा गया है; इसीलिए श्रमणमुनि दिगम्बर, निर्ग्रन्थ होते हैं। वे उपास्य जिनेन्द्र भगवान् के सम्यगाचरित मार्ग पर अग्रसर होने के लिए यह दीक्षा लेते हैं। भवान्त के लिए रागादिक्लेशवासित चित्त का विरोध करते हैं। ज्ञान का इस मार्ग में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना ज्ञान के सम्यक्त्व का घण्टा कौन बजावे? तब सम्यक्त्व-संवलित ज्ञान को ही मोक्षपथ-पथिक सम्यक् चारित्र का साधक सोपान बताया गया है। इस ज्ञान और मोक्ष के बीच में जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वही स्तुतिकार के रूप में व्यक्त होता है। आचार्य समन्तभद्र श्रमणसंस्कृति के युगद्रष्टा आचार्य हुए हैं। महान् दार्शनिक होने से उन्हें शुष्क एवं नितान्तमस्तिष्कपोषी होना चाहिए था परन्तु वे उच्चकोटि के भक्त भी थे। स्तुतिपद लिखने में अप्रतिम थे। उनकी ज्ञानधारा भक्तिमय थी इसीलिए उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' विरुदालंकृत किया गया है; किन्तु क्यों परमदार्शनिक, वादिराट्, आचार्य होते हुए वे भक्तिरस से ओत-प्रोत स्तुतिपदों के निर्माता थे, यह रहस्य अत्यन्त रोचिष्णु है। भक्ति का अथवा भावों का अतिशय उद्रेक काव्यपदावली का कारण हो सकता है परन्तु आचार्य के लिए यह परिणामविशुद्धि का उत्पादक था। वास्तव में स्तुति पुण्यप्रसाधक परिणामों की कामधेनु है, अचिन्त्य महाफलों की चिन्तामणि है। यह स्तोत्रमार्ग भक्तिधारा से प्रक्षालित होता हुआ मोक्षलक्ष्मी के आवास तक चला जाता है। जैसे असंख्यात प्रदेश दूर रहनेवाला सूर्य अपनी किरणों के स्पर्श से कमल-वन को विकसित कर देता है, उसी प्रकार सिद्धालय में विराजमान परमात्मा के गुणस्मरण से हृदयपद्म खिल उठता है और कर्म नष्ट होते हैं[2]।

इस दुर्लभ मनुष्यभव में जिसे जिनेन्द्रभक्ति मिली, उसे अन्य कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहा। उसने दान का फल पा लिया, उग्र तपश्चर्या कर ली, पूजा-प्रक्षाल के

---

१. *'आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि*
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः'॥ —कल्याणमन्दिरस्तोत्र, ३८.

२. *'आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।*
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव पद्माकरेषु जलजानि विकासभांजि॥' —भक्तामर. ९.

शतसंवत्सर पूर्ण कर लिये, सभी पवित्र गुणों के साथ शील का सर्वग्राही रूप प्राप्त कर लिया[1]। तन्मयता के एक क्षण में भव-भव के वरदान उसे प्राप्त हो गये। संसार ने उसे गुणभूषण कहा, श्रुतस्कन्ध का पारगामी एवं प्रज्ञापारमित बताया। समस्त सद्गुण और अच्छाइयाँ उसे कनक-कमलवत् प्राप्त हो गईं। क्योंकि उसने भक्ति-सरोवर में स्नान कर भगवान् से तन्मयवृत्ति स्थिर की[2]। भगवच्चरणारविन्द की सेवा सुलभ नहीं है। इन्द्र और अन्य देवगण, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ उस सौभाग्य को क्षणकाल के लिए छोड़ना नहीं चाहते। 'जिन चतुर्विंशतिका' में लिखा है कि—'जिनेन्द्रदेव को देवेन्द्रों ने तो स्नान करवा दिया है, देवांगनाओं ने मंगल गा दिये हैं, गन्धर्वदेवों ने शरच्चन्द्र के समान शीतल, निर्मल और आह्लादक यशःस्तोत्र का पाठ कर दिया है और शेष देवों ने अपने-अपने भाग में आई हुई सेवाएँ निबटा दी हैं। इस प्रकार हे भगवन्! स्नान, मंगल, यशोगीत और अन्य पूजा प्रक्षालोचित सभी काम इन सुकृतविलसितों ने पहले ही निबटा दिये हैं। हम जो, सेवा के लिए उपस्थित हुए हैं, वे क्या सेवा करें। किसी प्रकार की सेवा का अवसर न मिलने से हमारा चित्त दोलायमान हो रहा है। अहो! देवों ने कोई सेवा हमारे लिए छोड़ी ही नहीं।'[3] यह भक्त के उद्गार हैं, सेवा के लिए उपास्य के चरणों में जब तक आत्मसंवेदन, उत्कण्ठा, एकीभाव और अनन्यचिन्तन न हो, तब तक भक्ति के अर्थ पल्लवित, पुष्पित और फलित नहीं होते। क्षत्रचूडामणि की एक सूक्ति है कि 'जन्म और मरण की यह जीर्ण अटवी (पुराना जंगल) संसार है। मनुष्य इस में भटक रहा है क्योंकि विषयों ने उसे अन्धा कर रखा है। उस विषयान्ध को मार्गदर्शन करानेवाला दिव्यनेत्र तो जिनेन्द्रपदारविन्द की भक्ति है। वही मुक्तिदायिनी और मुक्तिमार्ग की प्रेरणा देने वाली है[4]। 'और यह उचित है कि

---

१. 'दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत् पात्राय सद्वृत्तये
चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्व्यः कृताः।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो
दृष्टस्त्वं जिन! येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम्॥' —जिनचतुर्विंशतिका, ६

२. 'प्रज्ञापारमितः स एव भगवन्! पारं स एव श्रुत—
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम्।
नीयन्ते जिन! येन कर्णहृदयालंकारतां ते गुणाः
संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणेः॥' —जिनचतुर्विंशतिका, ७.

३. 'देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवांगना मंगला-
न्यापेठुः शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगुः।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे
तत् किं देव! वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते।'' —जिनचतुर्विंशतिका, २२.

४. 'जन्मजीर्णाटवीमध्ये जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गं भगवद्भक्तिर्भवतान् मुक्तिदायिनी॥ क्षत्रचूडामणि, ६।३३.

मनुष्य स्वेष्टसिद्धि के लिए किसी एक निश्चित मार्ग का अवलम्बन करे। पल-पल पर मार्ग बदलनेवाला अभीप्सित स्थान को कैसे पहुँच सकता है ? वह तो प्रत्येक दूसरा पथ बदलते समय अपने पूर्वपथ को तय करने में हुए श्रम तथा समय को भी नष्ट करता है। अतः जिनेन्द्रपदकमलों में एकमात्र चित्तवृत्तियों को समर्पित करना भक्त को श्रेयोमार्ग प्रदान करता है तथा उसमें आनेवाले अपायों (अन्तरायों) का नाश करता है। अशेष कामनाओं का दोहन करने में जिनभक्ति से बढ़कर अन्य साधन नहीं है[1]। जो भव्यजन यह निर्धारण कर भगवान् को अपने भक्तिरस से अभिषेक करता है उसके सब दुःखांकुरों का निर्वपन अवश्य होता है। मनुष्य अपने दुःखशमन के लिए ही भगवान की शरण में जाता है, इस विषय में 'शान्ति-भक्ति' का एक श्लोक है कि 'हे भगवन् ! आपके चरणयुगल में निरन्तर श्रद्धालुओं का सम्बाध लगा रहता है जिससे प्रतीत होता है कि प्रजाओं की भक्ति आपमें अत्यधिक है। किन्तु प्रभो ! स्वार्थ, चाहे लेशमात्र हो, प्रत्येक क्रिया में विद्यमान रहता है अतः आपके प्रति भक्ति रखने वालों के स्वार्थ का पता लगाया तो विदित हुआ कि इनमें अधिकांश संसार के अभावों और वेदनाओं से त्रस्त हैं। यह संसाररूप महासमुद्र तैर जाना उनके वश में नहीं है और इसी से रक्षा प्राप्त करने के लिए वे आपके चरणमूल में आ-आकर विनम्र स्तुतिकुसुमांजलि अर्पित कर रहे हैं; क्योंकि आप तरण-तारण हैं, भवाब्धिपोत हैं। जैसे ग्रीष्मऋतु में लोग दिन में छायातरुओं का आश्रय लेते हैं, शीतलजलवाले सरोवरों में डूबे रहकर तापनिवारण करते हैं, शीतल पेय पीते हैं और रात्रि में खिले आकाश के नीचे इन्दु की शीतल किरणों से शान्ति प्राप्त करते हैं तो इसका कोई यह अर्थ लगाये कि उन्हें वृक्षों से, छाया से, शीतल जल और शीतल पेयपदार्थों से अथवा चन्द्रमा से प्रेम है, स्नेह है तो यह वास्तविक नहीं है। वह तो ग्रीष्मकाल के प्रचण्ड सूर्य का प्रभाव है जो जल-स्थल को उत्तप्त कर देता है, जिससे त्राण पाने के लिए प्रजाएँ उन-उन शीतल पदार्थों का सेवन करती हैं। इसी प्रकार शरण में आकर जो स्तुति-स्तोत्र का बखान करते हैं वे भी अपने सन्तापों का निवारण चाहते हैं[2] और हे भगवन् ! जो समर्थ है उसी से भिक्षायाचना की जाती है और इस प्रकार हे आशापूरक ! आपकी भक्ति-

---

१. *'एकैवास्तु जिने भक्तिः किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः ।*
या दोग्धि काममुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषतः ॥'—

२. *'न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् ! पादद्वयं ते प्रजा*
हेतुस्तत्रविचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥' —शान्तिभक्तिः

रूप वायु से उत्फुल्ल भव्यजनरूप दृतिपात्र सरलता से भवार्णव पार पहुँच जाते हैं।[१] अत: जो आनन्दाश्रुपूर में स्नान करते हैं, भक्तिस्तुति बोलते हुए जिनके कण्ठ गद्गद हो जाते हैं, उन शरणागतों के देह में से आधि-व्याधियाँ उसी प्रकार निकल जाती हैं जैसे वल्मीक (बांबी) में से सर्प निकलता है[२]। अतएव भगवान् जिनेन्द्र का आह्निक पूजन-वन्दन-स्तवन करना अपने पापों से छुटकारा पाना है किन्तु जो गृहस्थ होकर षडावश्यकों में परमावश्यक जिनेन्द्रदर्शन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और गृहाश्रम धिक्करणीय है[३]।

यह भक्ति परमात्म भाव को आत्मप्रतिष्ठित करने की सूचना है, कर्मनिर्जरा का संकेत है, मोक्षपथ की ओर बढ़ते हुए चरण हैं; हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रहरूप पंच पापों का प्रायश्चित्त है, अपने आत्मज्ञान को प्रक्षालित करने का पवित्र नीर है, विवेकसमुद्र से उत्पन्न दिव्यमणि है, भगवान् के चरणों में पहुँचने के लिए अनुमतिपत्र है। जिसके हृदय में भक्ति की उत्ताल ऊर्मियाँ आन्दोलित हैं, उसे पाप-पंक स्पर्श नहीं करते। भक्त के लिए भगवान् के चरण मोहान्धकार का नाश करनेवाले हैं, विश्व के यावत्पदार्थों को तत्त्वार्थरूप में प्रकट करनेवाले हैं, श्री से दीप्तिमान् और तेज:पुञ्ज से श्रीमान् हैं, सन्मार्ग का प्रतिभास करानेवाले हैं, देवसमूह को पीयूष पिलानेवाले हैं, भव्यजनों के भक्तिकेन्द्र हैं और शान्ति तथा शरण प्रदान करनेवाले हैं। भगवान् के इस स्वरूप का अभीक्ष्ण तापहारी अनुचिन्तन पुन:पुन: होता रहे, यही जीवन की सार्थकता है।[४] हे भगवन्! मुनीश! आपके चरण भक्त के हृदयप्रदेश में अन्धकार का नाश करनेवाले दीपकों के समान

---

१. *'त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव*
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त: ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुत: स किलानुभाव: ।।' —कल्याणमन्दिर., १०

२. *'आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्*
यश्चायेत त्वयि दृढमना: स्तोत्रमंत्रैर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या-
न्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधय: काद्रवेया: ।।' —एकीभावस्तोत्र, ४.

३. *'ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।*
निष्फलं जीवितं तेषां, धिक् च तेषां गृहाश्रमम् ।। —पद्मनन्दी, अ.६ श्लोक १५.

४. *'मोहध्वान्तविदारणं विशदविश्वोद्भासि दीप्तिश्रियं*
सन्मार्गप्रतिभासकं विबुधसन्दोहामृताऽपादकम् ।
श्रीपादं जिनचन्द्र ! शान्तिशरणं सद्भक्तिमानौमि ते
भूयस्तापहरस्य देव ! भवतो भूयात् पुनर्दर्शनम् ।।' —क्षमापन, पंचांग प्रणाम.

लीन हुए-से, कीलेगये-से, स्थिर, निखात-से (कील समान ठोककर गाड़े हुए-से), बिम्बित-से सदैव विराजमान रहें[1]। आप विश्ववन्द्य हैं, सबसे विविक्त हैं, सर्वथा अनवद्य हैं, मुक्तिविभव के प्रदाता हैं; अतः आपके पुण्यपदारविन्द में सहस्र-सहस्र नमस्कार हैं।

उपसंहार

'हे परमात्मन् आपकी स्तुति करने से हमारी वचनगुप्ति की हानि होती है, आपका स्मरण करने से मनोगुप्ति में बाधा पहुँचती है, तथा आपको नमस्कार करने में कायगुप्ति नष्ट होती है; सो भले ही हो, हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आपका स्मरण करेंगे और नमस्कार भी करेंगे।[2] □

---

१. 'मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निखाताविव बिंबिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥' —अमित. द्वात्रिंशिका, ४.

२. *वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ ।*
कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥'
— आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, २।७७

गुरुसंस्था का महत्त्व

समाज अपने आदर्शों के आधार पर अवस्थित है और आदर्श चारित्र के वज्रलेप से चिरजीविता प्राप्त करता है। जिस समाज के पास अपरिमित भौतिक अथच लौकिक विभूतियाँ हों किन्तु कोई अध्यात्मसमुन्नत पारलौकिक लक्ष्य न हो तो वह प्राणरहित देह के समान है जिसमें जीवन का तो सर्वथा अभाव है ही उस शवशेष की भी रक्षणीयता नहीं है। बहुत-से अपरूप व्यक्ति आत्मा के उन्नत सौन्दर्यलोक में अप्रशस्य नहीं लगते क्योंकि उनकी कायिक कुरूपता आत्मिक सुरूपता से पराजित हो जाती है। यह आध्यात्मिक सम्पदा मनुष्य के महाप्रभावी पुण्यों की देन है। अध्यात्मभाव से परिचालित मनुष्य में अवंचक गुणों का समावेश होता है। वे गुण उसे निरन्तर परिणामविशुद्धि की ओर ले जाते हैं। यह परिणाम-पवित्रता ही धर्म की प्रसवभूमि है। धर्म सम्यक्त्वविशुद्ध आत्मा में प्रतिफलित करणीय व्यवहारों की संहिता है। लोक में एतादृश व्यवहरणीय आचरण को चारित्र की संज्ञा दी गई है। अतः यों कहना चाहिए कि सम्यक्त्व से प्रक्षालित चारित्र ही धर्म है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ४७८वीं गाथा* में धर्म का वस्तुस्वभाव, जीवस्वभाव, मोक्षमार्गनिरूपक स्वभाव और अहिंसा परमस्वभाव के रूप में निरूपण किया गया है। 'चारित्तं खलु धम्मो' कहकर धर्माचार्यों ने धर्म को आचार का क्षेत्रीय अमृतफल बताया है। इस प्रकार धर्म की नींव चारित्र पर और चारित्र का अधिष्ठान तीर्थंकर परमदेव की वीतरागमुद्रा के धारयिता निर्ग्रन्थ मुनियों पर निर्भर है। सम्यक् चारित्र के परिप्रेक्ष्य में अष्टाविंशति मूलगुणों के पालयिता दिगम्बर मुनि साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। वे स्वयं उस सम्यक् चारित्र का आचरण करते हैं तथा भव्यजनों के हृदय एवं व्यवहार में उस आचरण के प्रति आस्था और अनुपालन के भावों को उद्रिक्त करते हैं। मन, वचन और काय से एकरूप होने से निर्ग्रन्थ मुनि ही वास्तविक गुरु हैं। 'पंच वि गुरवे' कहते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनि के गुरुत्व का उल्लेख किया है। निर्ग्रन्थमुनि के गुरुपद की अचल प्रतिष्ठा के उपोद्बलक आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में एक सूक्तिसदृश वाक्यरचना करते हुए कहा है कि यदि कोई शंका करे कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि से व्यतिरिक्त किसी को गुरु मानें तो क्या हानि है? हृदयहारी उत्तरपट्टु पंडितजी कहते हैं—'हंसपक्षी को ही हंस कहा जाता है। यदि किसी सरोवर पर हंस दिखायी न दे तो किसी बगुले को हंस मान लेंगे क्या?' उक्ति अकाट्य है

* धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं च धम्मो॥ स्वा. कार्ति. ४७८.

और गुरुत्वपद के लिए लालायित बकोटों के प्रतिनिधित्व को अमान्य करती है। ये साधु लोक में उत्तम होने से शरण हैं, सम्यगाचारपरायण होने से मार्गोपदेष्टा हैं। पंडित आशाधर[१] ने लिखा है कि कल्याणाभिलाषियों को नित्य ही गुरूपासना में अप्रमत्त रहना चाहिए। गुरुरूप गरुड़ के पंखों में रहते हुए चलनेवालों को विघ्नरूप सर्प कभी बाधा नहीं करते। निर्ग्रन्थ गुरु इसलिए भी अधिक विश्वसनीय आधार हैं कि वे त्यागी हैं और त्यागमार्ग के उपदेष्टा हैं। संसार में राग और त्याग दो ही तो प्रवृत्तियाँ हैं। राग बन्धनमूला प्रवृत्ति है और त्याग निवृत्तिमूला। सारे संसार-धर्मी राग के अपारवार पंक में प्रोथित हैं और उन्हें मार्ग दिखाने का अधिकार रखनेवाला स्वयं भी यदि उसी रागसागर में गहरे गोते लगाता हो तो मार्गदर्शन के नाम पर वह अपने अनुगामियों को राग की पंकभूमियों में ले जाएगा या त्याग की सिद्धशिला पर ?

इस अभिप्राय के अनुसार जो स्वयं अवद्यमुक्त मार्ग में प्रवृत्त है तथा अन्य-जनों को अनवद्य पथ पर प्रवृत्त करता है, किसी प्रकार की स्पृहा नहीं रखता, वही वास्तविक गुरु है और आत्महितैषी को उसीकी सेवा में परायण रहना योग्य है, क्योंकि ऐसा गुरु ही स्वयं भवसिन्धु को पार करता हुआ लोक को भी तारने में समर्थ होता है[२]।

गुरु शब्द के अर्थबोध को स्पष्ट करनेवालों ने गुरु और लघु इन परस्पर विलोम शब्दों से गुरु शब्द की गुरुता का निर्देश किया है। तुला का जो भारी भागार्ध होता है वह दूसरे भागार्ध से अपनी गुरुता के कारण ही अधिक गरिष्ठ होता है; निश्चय उसमें कुछ अधिकता निहित होती है। अपने विशिष्ट गुण, धर्म और ज्ञान से यह गुरुता लघुता से सहज ही भिन्न भासित होती है। महाकवि कालिदास ने कहा है–'रिक्त: सर्वो भवति हि लघु: पूर्णता गौरवाय' अर्थात् जो रिक्त है वह लघु है और जो पूर्ण (आभरित) है, वह गुरु है, भारी है। यहाँ 'पूर्णता' यह एकमात्र शब्द गुरु के ज्ञानगम्भीर अशेष महत्त्व को एकपद में ही अभिव्यक्त कर रहा है। सम्बन्धपरक गुरु-शिष्य शब्दयुग्म में गुरु उपदेष्टा, आचार्य इत्यादि अर्थों में रूढ़ है। कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र ने महान्, बृहस्पति, पिता, धर्मोपदेष्टा, भारी और दुर्जर अर्थ में 'गुरु' शब्द का प्रयोग बताया है[3]। ज्ञान और चारित्र में वृद्ध (बढ़े हुए) को गुरु कहनेवालों का अभिप्राय यह है कि 'जिनके आत्मतत्त्वरूप निकष से उत्पन्न भेदज्ञान से संवर्धित

---

१. *उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तै: शिवार्थिभि: ।*
तत्पक्षतार्क्ष्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तरा: ।। सागार., २।४५.

२. *अवद्यमुक्ते पथि य: प्रवर्तते प्रवर्तयत्यन्यजनं च नि:स्पृह: ।*
स एव सेव्य: स्वहितैषिणा गुरु: स्वयं तरंस्तारयितुं क्षम: परान् ।। –सूक्ति मुक्तावली.

३. *'गुरुर्महत्यांगिरसे पित्रादौ धर्मदेशके । अलघौ दुर्जरे चापि'—अभिधानचिन्तामणि.*

आलोकनेत्र (ज्ञानचक्षु) हैं, विद्वानों ने उन्हें ही वृद्ध निरूपित किया है। इसी प्रकार जो तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और संयमादि से परिवृद्ध हैं वे ही वृद्धसंज्ञा को अन्वर्थ करने वाले हैं[1]। केवल वयोज्येष्ठ को अथवा जिसके केश पलित हो गए हैं उसे वृद्ध नहीं कहा जाता। युवा होकर भी जो ज्ञानस्थविर हैं वे ही गुरु हैं, वृद्ध हैं[2]। एतावता गुरुत्व द्रव्यलिंगी में कम और भावलिंगी अर्थ में अधिक प्रशस्य है। यह सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र से, आरम्भपरिहाण-पूर्वक अशेषकर्मग्रन्थिविमोचन से, ज्ञानपूर्वक आगम-स्वाध्याय से, कठिन तपश्चर्या से और रागादिपरिग्रहत्याग से तथा तुष-माष-प्रतीक गम्यमान स्व-पर-भेदज्ञान से व्यक्तिविशेष में फलित होकर उसे लोकपूज्य, प्रणम्य उच्चासन प्रदान कराता है। जिस प्रकार शुक्लपक्ष में एक एक कलाभाग को संचित कर चन्द्रमा पर्वतिथि में उज्ज्वलताप्रदायी पूर्णत्व प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार अशेष ज्ञानावरणोन्मूलन-पूर्वक मोहनीय कर्म का नाशकर गुरु अपने स्वप्रतिष्ठसत्यअर्थ में गुरुत्व को आसादित कर लेता है। तभी वह भुवन में उच्च पीठ पर भास्वान् के समान विराजमान हो पाता है अन्यथा तो द्वितीया का क्षीण बालेन्दु जैसे पश्चिम के क्षितिज पर अल्पकाल के लिए अपनी तनुकान्ति को लेकर अस्तंगत हो जाता है उसी प्रकार अनधीतशास्त्र, अनुपार्जिततपः-संयमाचार व्यक्ति भी चाहे वह नभोमण्डल जितनी ऊँचाई पर अवस्थित हो, पुरुषायुष भोग कर सामान्य दशा में ही अस्त हो जाता है; किन्तु विशिष्ट गुरुओं की महिमा नित्य अनस्तमित रहकर सम्यग् ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की आलोकरश्मियाँ विकीर्ण करती रहती हैं। जैसे रत्नदीपक को भोर नहीं लगता वैसे स्वयंप्रबुद्ध गुरु सूर्य के समान दिने-दिने अस्तंगत नहीं होते। वे सदा सर्वदा समभाव के शिलापीठ पर अवस्थित रह कर निर्बाध ज्ञानचारित्र प्रदान करते हैं। कभी डूबते नहीं। बाहर और भीतर के अशेष दोष-तिमिर का निवारण कर वे शिष्य के लिए अपरावर्ती प्रकाश प्रदान करते हैं। गुरु की इसी महिमा को नमस्कार करनेवालों ने कहा है कि 'ज्ञानरूपिणी अंजनशलाका से जिन्होंने अज्ञान के अन्धकार में भटकते लोक को चक्षु-उन्मीलन दिया, उस सद्गुरु को नमोऽस्तु'।[3]

---

१. *स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्धितम् ।*
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥
तपःश्रुतधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः ।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलितांकुरैः ॥ —ज्ञानार्णव, १५।४–५

२. *न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।*
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ —महाभारत.

३. *अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानांजनशलाकया ।*
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

जो भाग्यशाली हैं उन्हें गुरुओं का कृपाप्रसाद मिलता है[1]। भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति, साधुओं की संगति, विद्वानों में बैठकर दो घड़ी शास्त्रचर्चा, वाणी में वाग्मिता का होना, कार्य के सुसम्पादन का चातुर्य, सदुपाय अर्जित वित्त, शील की शुद्धता, मति की विमलता एवं सद्गुरुओं के चरणकमलों की उपासना, कमल में भृंग के समान अहर्निश गुरुपदों में अनुरक्ति किसी पुण्यफल बिना कैसे सम्भव है? शकुनविचारकों के अनुसार जैसे भारद्वाज, हंस और सोनचिड़िया के दर्शन शुभनिमित्त के सूचक हैं और उषा की अरुणिमा जैसे नव विहान तथा सूर्य के सद्यः समागम का निर्देश करती है उसी प्रकार सम्यक् चारित्र महाव्रती निर्ग्रन्थ का दर्शन एवं संगति-लाभ शुभोदय की विज्ञप्ति करते हैं। ऐसे सच्चारित्र साधुओं को देखकर सूक्तिकार 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती बभूव' अथवा 'धन्य जननी धन्य भूमि, धन्य नगरी धन्य देश धन्य करनी धन्य सुकुल धन्य जहाँ साधुप्रवेश' कहने लगते हैं। सचमुच, उनके लिए, जिन्होंने सर्वसावद्य से विरति ली है, जो परहितनिरत, सर्वस्व-त्यागी, परमविरागी, मोहममताजयी, कामविजयी, तपस्त्यागसंयमादर्श, महाव्रतधारक और दिगम्बर हैं, धन्य शब्द के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? ऐसे गुरु जहाँ विराजमान हों वहाँ साक्षात् धर्म ही कृतासन है, ऐसा मानना चाहिए। उनके विहारमार्ग में ऋतुक्रम को भुलाकर प्रकृति पुष्पित-पल्लवित और फलित हो उठती है। दुर्भिक्ष पलायन कर जाता है और सुवृष्टि, सुभिक्ष, धन-धान्य आकीर्ण हो उठते हैं। सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक चम्पू में इसी आशय को लेकर एक हृद्य पद्य की रचना की है[2]। जैसे सूर्य का उदय अन्धकार के विनाश की अबाधित घोषणा है वैसे पिच्छिकमण्डलुपाणि, निर्ग्रन्थ, जिनेन्द्रमुद्रांकित, सम्यक्चारित्र-निष्ठ, अष्टाविंशतिमूलगुणपालक, संयमस्वाध्यापरायण मुनियों का विहार भी प्रजाओं के कल्याण का संकेत है। सोमदेवसूरि की सूक्ति वाणी की रोचकता मात्र नहीं है उसमें अनुभूति का अमृतस्पर्श है। एक मराठी कवि ने लिखा है—'साधु सन्त एति घरा, तोचि दीवाली दसरा।' दशहरा और दीवाली दोनों पर्व एक दिन, एक साथ नहीं आते; कुछ दिनों का अन्तर देकर एक-एक आता है; किन्तु अहो! अहोभागी है वह दिन, जिस दिन तपस्वी मुनि किसी के घर का प्रांगण पवित्र करते हैं। उस दिन दशहरा और दीवाली दो पर्वों जितना उल्लास, हर्ष अपनी काल की दूरी को भूलकर एक दिन में समा जाता है। धन्य हैं वे कवि, लोक-

---

१. *जैनो धर्मः प्रकटविभवः संगतिः साधुलोके*
विद्वद्गोष्ठी वचनपटुता कौशलं सत्क्रियासु ।
साध्वी लक्ष्मीश्चरणकमलोपासनासद्गुरूणां
शुद्धं शीलं मतिविमलता प्राप्यते भाग्यवद्भिः ॥

२. *पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः ।*
यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत् ॥ —यशस्तिलकचम्पू.

गुरुओं की वन्दना में जिन्हें ऐसे छन्द सूझते हैं और जो अपनी कवित्वसामर्थ्य को सत्य दिशा में लगाकर कृतार्थता अनुभव करते हैं।

जीवन की संस्कारशाला का आरम्भ गुरुचरणों की उपासना से किया जाता है। बालक जैसे अंक और अक्षराभ्यास के लिए शिक्षाशाला में प्रविष्ट किया जाता है उसी प्रकार सांगोपांग सम्यक्चारित्रमूल अहिंसा परमधर्म के प्रशिक्षण प्राप्ति हेतु भव्यजीवों को गुरुचरणधूलि के नित्य ग्रहण का अभ्यास, रखना चाहिए। गृहस्थ के दैनिक षडावश्यकों में गुरूपास्ति (गुरु की उपासना) विहित है। गुरु के सतत सान्निध्य में निवास करने से मन, वचन, काय की विशुद्धि स्वतः होने लगती है। वाक्संयम, इन्द्रियसंयम, आहारसंयम इत्यादि प्राप्त होने लगते हैं। नीतिकारों के अनुभवसिद्ध वचन इसमें प्रमाण हैं कि–**'यादृशैः सेव्यते पुम्भिस्तादृग् भवति पुरुषः'** अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार की संगति में बैठता है वैसा ही बन जाता है। एक ही पानी समुद्र में क्षार, गोस्तनों में क्षीर, नदियों में नीर और हिमालय पर तुहिन बन जाता है। यही सिद्धान्त संगति का है। उत्तम गुरूपासना से प्राणी को कृताकृत-विवेक मिलता है, स्वपर-प्रत्यायिका भेददृष्टि उपलब्ध होती है, जीवनमार्ग को प्रशस्त करने वाले आत्मिक प्रतिलेखन प्राप्त होते हैं। **'गुरुस्नेहो हि कामसूः'**–गुरु का शिष्य पर स्नेह अभिलषित का पूरक है; किन्तु उस स्नेह के आन्तरबाह्य स्वरूपों में कभी कभी मार्दव और कठोरता का द्वैध परिलक्षित होता है; क्योंकि, गुरु शिष्य को योग्य और निर्दोष बनाना चाहते हैं इसलिए उस कलश बनानेवाले कुलाल के सदृश उन्हें दो हाथों के समान दो प्रकार की उपलालनवृत्तियों का आलम्बन लेना पड़ता है। कुलाल एक हाथ चक्र पर निर्मित होते घट के भीतर रखता है और दूसरे से उसे गढ़ने के लिए चोट मारता है। कुलाल के अतिरिक्त कोई यदि कुम्भ पर आघात करे, चोट मारे तो कुम्भ टूट जाएगा; क्योंकि चोट लगने से वस्तु टूटती है, यह नैसर्गिक है किन्तु कुलाल की वह चोट कलश को सुन्दर, सुडौल आकार प्रदान करती है क्योंकि चोट मारते समय उसके भाव कुशलनिर्माण के हैं, ध्वंस के नहीं तथा रक्षात्मक हाथ भीतर लगा हुआ है। इसीलिए अन्तःकरुणासलिल गुरुओं की बाह्य शुष्कता भी कलश को परिपक्व करनेवाले आंवें के समान शिष्य की बुद्धि एवं चारित्र को पोषण प्रदान करनेवाली ही है और उसी से शिष्य जीवनधारण में निपुण बनता है। इसी आशय का एक हिन्दी-सूक्त प्रसिद्ध है–

गुरु कुलाल, शिशु कुम्भ है, घड़-घड़ काढत खोट।
अन्दर हाथ पसार के, बाहर मारत चोट।

कवि भूधरदास ने संसार को समुद्र और गुरु को जहाज की रूपात्मकता निरूपित करते हुए लिखा है–'ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव जलधि जहाज। आप तिरें, पर तारहिं ऐसे श्रीगुरुराज।।' और विचारपूर्वक देखा जाए तो संसार की उत्ताल आन्दोलित समुद्राभ विषयवासना कषायबहुल तरंगों के प्रहार से चूर्ण-विचूर्ण

होते शिष्य-पोत को कुशल नाविक के समान खेकर उस पार पहुँचा देने वाला गुरु ही है अन्यथा अज्ञानशिला पर बैठा मनुज डूब जाता है। ज्ञानरूप चिन्तामणि का प्रदाता गुरु ही है। शिष्य उसके अबुझ प्रकाश में पथ-कुपथ की पहचान कर अपना स्व-पर-विवेक प्रशस्त करता है। गुरु की सन्निधि बिना अधिगत ज्ञान सन्दिग्ध होता है। गुरुमुख से ही शास्त्रश्रवण करने की परम्परा इसी की द्योतक है। कोई भी नेत्रवान् गुरु का उल्लंघन नहीं करता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रतीक गुरुओं की कृपा से लोक-परलोक में प्राप्तव्य इच्छितों का मार्ग मिल जाता है। 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' में उत्कृष्ट तपोधन साधुओं की महिमा का बखान करते हुए, उन्हें प्रणाम (नमोऽस्तु) करनेवाले, दान (आहारदान) देनेवाले, उपासना, भक्ति और स्तुति करनेवाले श्रावकों को उच्चगोत्र, भोगैश्वर्य, लोकप्रतिष्ठा, सुन्दर रूप तथा कीर्ति-सम्पन्न होने का उल्लेख किया है[1] साधुओं के दर्शनमात्र से भी पुण्यबन्ध होता है। साधु तीर्थरूप हैं। तीर्थकृत पुण्य तो समय आने पर फलदायी होता है किन्तु साधुदर्शन का पुण्यफल तो तुरन्त ही मिल जाता है[2]। इसकी सहेतुक प्रतिपत्ति यह भी है कि गुरु आत्महित में अहर्निश लीन रहते हैं और संगति करने वाले को भी आत्महित में प्रवृत्त करते हैं और यह आत्महिताहित परिज्ञान ही जीवन में सर्वश्रेष्ठ प्राप्य है। 'बुद्धः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः' यदि बुद्धिमान् होते हुए भी आत्मपरिणति से रहित है, उसे दयनीय समझना चाहिए। गुरुजन तपधारी होने से हितमित-भाषी होते हैं और आत्मपरिणामों की विशुद्धि के लिए अधिकतर मौन, उपवास, ध्यान-सामायिक परायण रहते हैं। ऐसी स्थिति में वाचा उपदेश नहीं करने पर भी अपनी मुद्रा से ही आगमरहस्यों का, मोक्षमार्ग का निरूपण करने में समर्थ होते हैं। 'मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं' लिखते हुए आचार्यों ने उनकी महाफला तपःसाधना को अर्घ्याञ्जलि दी है। किसी नीतिकार ने कहा है कि साधुजन उपदेशवचन बोलें, तभी नहीं, प्रत्युत जब वे सामान्य वार्तालाप कर रहे होते हैं तब भी अमूल्य उपदेश ही उनकी वाणी से प्रवहमान होता है[3]। इसी हेतु को हृदयंगमकर 'छहढालाकार' ने लिखा है—

> 'जग सुहितकर सब अहितकर, श्रुतिसुखद सब संशय हरैं।
> भ्रमरोगहर जिनके वचन, मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं।।'

---

१. *'उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा ।*
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु ।।' —रत्नकरण्ड., ११५,

२. *'साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः*
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ।।'

३. *'परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि नोपदिशन्ति ते ।*
येषां स्वैरकथालापा उपदेशा भवन्ति हि ।।'

भला, गन्ना मिठास से भिन्न क्या दे सकता है? पुष्प के पास सुरभि और मकरन्द के अतिरिक्त क्या मिलेगा? कपूर की डिबिया का ढक्कन जितनी बार उठाओगे, सुगन्धि से प्राण तृप्त हो जाएँगे। शुष्क वनस्पादपों को हरा-भरा करना ही तो वसन्त का काम है। गुरुजन सहज स्वभाव से उद्विग्नतागज के अंकुश होते हैं। वे समभावी रहकर संसारी जनों में समभाविता का निर्माण करते हैं और धर्म के अमृत छन्दों को लोकप्राणों में व्यापारित करते रहते हैं। यही उनकी महिमा है जो दिगम्बरत्व के पश्चात् और अधिक उन्हें आवेष्टित कर लेती है। 'वे गुरु चरण जहाँ धरें जग में तीरथ तेह। सो रज मम मस्तक चढ़ो 'भूधर' माँगे येह।।' उन गुरुचरणों की रज मस्तक पर उठाने में सारा संसार 'भूधर' कवि के साथ है। कातन्त्रकार ने अढाई द्वीप में विद्यमान तीन कम नौ कोटि मुनीश्वरों को गुरुभक्ति से 'नमोऽस्तु' कहा है*। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पंच परमेष्ठी ही परम गुरु हैं। युगे-युगे भव्य जीवों ने इनकी उपासना कर स्वर्ग-अपवर्ग प्राप्त किये हैं। सम्पूर्ण पापों का प्रणाश करनेवाला, अशेष कामनाओं को प्रदान करनेवाला तथा सभी मंगलों का प्रथम मंगल 'पंचनमस्कारमंत्र' उपर्युक्त पंच गुरुओं का ही अचिन्त्यचिन्तामणिप्रभावी मंत्र है।

तप, ज्ञान और चारित्रसम्पन्न होना गुरु के लिए आवश्यक है। यह जो भवकान्तार के दुर्गम मार्ग पर पथदर्शक होकर सकल श्रावक समाज को अनुशिष्ट करते हुए अग्रपंक्ति में चलने का निरूपण गुरु महाराज के लिए किया गया है उसमें यह अनुक्त व्याहृत है कि गुरुपदेन समाज जिनका वैयावृत्य करता है वे धर्म के साक्षात् स्वरूप हों, तप-ज्ञान और सम्यक् चारित्र में परिनिष्ठित हों। समाज उनके आचरण और तप देखकर स्वयं नतमौलि हो जाता हो; क्योंकि काल के प्रभाव से आज भारतीयों में ही नहीं, विश्वनागरिकों में भौतिकता का प्रवेश घर कर गया है। त्यागवृत्ति को आश्चर्य, उपेक्षा तथा जिज्ञासा की दृष्टि से देखा जा रहा है। नया युग, नयी पीढ़ी के लोग यदि आस्थावान् हैं तो यह धर्म के लिए महती उपलब्धि है और यदि अल्प हैं या क्षीयमाण है तो उसका पुनः संवर्धन करना कर्तव्य है। इस संवर्धन के लिए चतुःसंघ ही उत्तरदायी है तथापि श्रावक से अधिक त्यागी का भाग इसमें अधिक है। नये युग के श्रावक नये वातावरण में पल रहे हैं। नितान्त भौतिक और सुखसुविधासम्पन्न वातानुकूलित, अन्तर्ग्रहप्रवेशसक्षम, विविध वैचित्र्यपूर्ण तथ्यों की छाया में वह पल रहा है। उसे धर्म और उसके सदेह प्रतीक गुरुओं के प्रति यदि आस्था नहीं है तो इसमें केवल उसी का दोष नहीं माना जा सकता। वह देशविदेशों में शिक्षा के लिए, पर्यटन के लिए आता-जाता रहता है। विश्व के अनेकविध धर्मगुरुओं को देखने-सुनने का अवसर उसे मिलता

---

* *'गुरु भक्त्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः ।*
वन्दामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ।।''—कातंत्र

है। ऐसी स्थिति में वेष पर आस्था रखते हुए भी गुणसन्निवेश की विशेष अपेक्षा यदि वह करे तो यह संगत ही कहा जा सकता है। उस आधुनिक को बलपूर्वक श्रद्धापरायण कर पाना बृहस्पति के लिए भी अशक्य है। तब दूसरा उपाय यही शेष रह जाता है कि ज्ञान चारित्र के निदर्शन गुरु ही उनके भौतिक अहंकार को आत्मिक चेतना से अनुगत करें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो लोकविमुखता के लिए उन्हें सन्नद्ध हो जाना चाहिए; क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' भले ही आत्मकल्याण की साधना में प्रवृत्त त्यागी के लिए यह अनिवार्य विहित न हो तथापि जिस समय धर्मविप्लव की सम्भावना हो, उस समय तो लोकसम्पर्क रखकर, उसे आस्थावान् बनाकर तथा धर्म के प्रति अज्ञता, अल्पज्ञता, सन्देह, भ्रान्ति एवं अनिश्चय की स्थिति का उन्मूलन करना ही श्रेयस्कर है। प्राचीनकाल में जिन्होंने निरन्तर पर्यटन करते हुए नाना प्रकार के लोगों में उनकी अन्तर्दुरभिसन्धि जानने के लिए अनेक वेष तक परिवर्तित किये और जिन्हें उनके समकालीन तथा उत्तरवर्तियों ने वादिराज और सिद्धसारस्वत कहा, निश्चय उनकी मूल आत्मप्रवृत्ति लोकोन्मुख नहीं थी तथापि देश, काल और जिनधर्म के संरक्षण-संवर्धन के लिए उन्हें वैसा करना पड़ा[1]। आज विविध धर्मों में प्राचीनकाल के समान सीधी टक्कर नहीं है। धर्मचर्चा के लिए वह 'अखाड़ा' पद्धति जिसे 'शास्त्रार्थ' कहते थे, कहीं दिखायी नहीं देती; किन्तु धर्म के प्रति सर्वत्र एक तटस्थता, उदासीनता एवं उपेक्षावृत्ति फैलती जा रही है। यह स्थिति उस शास्त्रार्थ-काल से भी अधिक भयावह है। उन्हें वीतराग होते हुए भी यदि कवि, वादिराज, पण्डित, दैवज्ञ, भिषक्, मांत्रिक-तांत्रिक और आज्ञासिद्ध सिद्धसारस्वत[2] रूपों में अपने को प्रस्तुत करना पड़ा तो इसका आशय यही है कि जैनधर्म के लिए वैसा करने को परिस्थिति उन्हें बाध्य करती थी। अतः यह नेपथ्य विविधता भी उनका तप ही कहा जाएगा; क्योंकि वैसा करने में भी तो उन्हें अनिच्छा से प्रवृत्त होना पड़ा और 'इच्छानिरोधस्तपः' इच्छाओं का निरोध तप है। अतः धर्म की रक्षा के प्रति उत्तरदायी का आचारांगधारी होने के साथ जिनागम एवं जैनेतर वाङ्मय में कुशल पारगामी विद्वान् होना, मेरु-गिरि की अकम्प-स्थिरता, पृथ्वी की सहिष्णुता, समुद्रों की मल-दोष-प्रमोष-

---

१. *'कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः*
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी
राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥' —आ. समन्तभद्र।

२. *'आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पंडितोऽहम्*
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहम् ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया–
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥' —आ. समन्तभद्रः

श्रमता तथा सप्त भयों से विमुक्तता होना आवश्यक बताया गया है[1]। इतना ही नहीं, अपितु ज्ञान और तप को धारण न करनेवाले को श्रमणसंघ में 'गणपूरक' (मात्र श्रमण-संख्या में वृद्धि करने वाला) बताया गया है[2]। यदि साधु में ज्ञान है और तप नहीं है, तप है और ज्ञान नहीं है अथवा तप और ज्ञान दोनों हैं तो इन तीनों स्थितियों के प्रति सन्तोष व्यक्त किया गया है तथापि ज्ञान तप-उभयहीन का कोई स्थान नहीं है। 'गुरु' शब्द का अर्थ लगानेवालों ने 'गु' और 'रु' दोनों अक्षरों के क्रमश: अन्धकार और तन्निवर्तक अर्थ करते हुए अन्धकार (अज्ञानजन्य तिमिर) के नाशयिता को 'गुरु' कहा है[3] तथा उस योग्यता परिच्छिन्न व्यक्ति की भवाब्धितारक शब्द से अभ्यर्थना की है। प्राचीनकाल से अद्यावधि इस प्रकार के प्रभविष्णु गुरुओं की एक परम्परा चली आई है जिसने धर्म और समाज को परस्परोपग्रहरूप अन्योन्याश्रयसम्बन्ध में बांधे रखा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य शान्तिसागर महाराज और पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी उसी परम्परा के कुछ विशिष्ट ख्यातनाम स्तम्भ कहे जा सकते हैं। इनमें आचार्य समन्तभद्र को तो धर्मप्रभावना के क्षेत्र में निरन्तर लेखन और वादभिक्षा—दो-दो क्षेत्रों में एक साथ कार्य करना पड़ा। कभी तो वह पाटलिपुत्र, मालव, सिंधु, ठक्क (ढाका-बंगाल), कांचीपुर और विदिशा (भेलसा) में वादभेरी बजाते हुए घूमते थे, कभी विद्वज्जनों से भरे-पूरे करहाटक की राजसभा में सिंहगर्जन करते हुए सुनायी देते थे[4] तो कभी रत्नकरण्ड, युक्त्यनुशासन, देवागम, स्तुतिविद्या और स्वयम्भूस्तोत्र की अमृतसिक्त पदावली की रचना में निमग्न दिखायी देते थे। प्राय: यही भाग्य आ. अकलंकदेव का रहा। उन्हें भी बौद्धों और वैदिकों से वादसंग्राम में जूझना पड़ा। उन्होंने अपने एक सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए कहा है कि—'मैंने सौगतों (बौद्धों) के नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद में गिरकर जनसमूह को विनष्ट होते अनुभव किया तब उन आत्मवंचितों के प्रति मेरा हृदय करुणा से आप्लावित हो उठा। मुझे उनके

---

१. *'आचारांगधरो वा तात्कालिकस्वसमयपारगो वा, मेरुरिव निश्चल:, क्षितिरिव सहिष्णु: सागर इव बहि: क्षिप्तमल:, सप्तभयविप्रमुक्त आचार्य:।'* —आ. वीरसेनस्वामी.

२. *'ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोहितम्।*
यत्र द्वयं स देव: स्याद् द्विहीनो गणपूरण:॥'

३. *'गु-शब्दस्त्वन्धकारे च रु—शब्दस्तन्निवर्तक:।*
अन्धकारविनाशित्वाद् 'गुरु'रित्यभिधीयते॥'

४. *'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता*
पश्चान् मालवसिन्धुठक्क विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटम्
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम्॥'

—श्रमणबेलगोला, ५४वें शिलालेख का पद्य

उद्धार की चिन्ता ने अधीर कर दिया। यही कारण है कि बौद्धों और जैनों के बीच हिमशीतल नृपति की सभा में, जिसमें प्रायः विद्वत् समाज बहुसंख्या में विराजमान था, मैंने जैन और बौद्ध दर्शन पर निर्णायक उस शास्त्रार्थ में भाग लिया और नैरात्म्यवादियों के उस तान्त्रिक घट के साथ ही उनके अभिमानघट को भी पैर की ठोकर से फोड़ दिया। यह मैं अहंकार अथवा द्वेषवश नहीं कह रहा हूँ[1]। इस प्रकार वादजय करते हुए उन्हें भी आगमशास्त्रों का उपबृंहण करना पड़ा जिनमें राजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय आदि प्रमुख हैं। 'हिन्दू मन्दिरों में हरिजनप्रवेश' सम्बन्धी विधेयक जब सामने आया तो उसके अन्तर्गत जैन मन्दिरों में भी हरिजन-प्रवेश को सम्मत मान लिया गया। यह मानकर कि जैन भी हिन्दू हैं अथच जैन मन्दिर और हिन्दू मन्दिर समान हैं। उस समय आचार्य शान्तिसागर महाराज ने इस विधेयक को जैन मन्दिरों पर लागू न होने देने के लिए कठोर कदम उठाया। उन्होंने अन्नत्याग कर दिया और देशभर में श्रावक समाज को सक्रिय किया। परिणाम यह हुआ कि सरकार को जैनों तथा हिन्दुओं को पृथक् जाति-धर्म मानते हुए जैन मन्दिरों में हरिजन-प्रवेश को अस्वीकार करना पड़ा। इस प्रकरण में एक शिष्टमण्डल २५ जनवरी १९५० को भारत के प्रधान-मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू से मिला और उन्हें स्थिति से अवगत किया। जिसके परिणामस्वरूप ३१ जनवरी '५० को, भारत के प्रधानमंत्री के मुख्य निजीसचिव श्री ए. वी. पाई ने प्रधानमंत्री की ओर से एक पत्र लिखकर शिष्टमण्डल के दावे को मान्य करते हुए लिखा कि–'यह तो साफ ही है कि बौद्ध हिन्दू नहीं हैं। इसी प्रकार जैनधर्मावलम्बियों को भी हिन्दू नहीं माना जा सकता[2]।' इसी मन्दिर-प्रवेशप्रकरण में अकलूज ग्राम के दिगम्बर जैनमन्दिर की वह मुख्य घटना सम्मिलित है जिसने जैनमन्दिरों मे हरिजन-प्रवेश की चुनौती को सदा के लिए परास्त कर दिया। कुछ हरिजनों को लेकर शोलापुर के कलेक्टर अकलूज दिगम्बर जैनमन्दिर में प्रवेश करने पहुँचे। मन्दिर के ताला लगा हुआ था, जिसे कलेक्टर साहब ने तुड़वाया और इस प्रकार अपने अधिकार को जताकर हरिजनों को मन्दिर प्रवेश करवाया। यह अभियोग बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य निर्णायक (चीफ जज) श्री अब्दुलकरीम छागला के समक्ष उपस्थित हुआ और वाद-विवाद के पश्चात् २४ जुलाई '५१ को श्री छागला और श्री गजेन्द्र गडकर ने 'Harijans

१. *'नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं*
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फालितः॥' –आ. अकलंकदेव.

२. *श्री एस. जी. पाटिल, प्रतिनिधि, जैनशिष्टमण्डल, १० सेण्ट्रल कोर्ट, नई दिल्ली को प्राप्त-सचिवालय से प्रधानमंत्री के मुख्यसचिव श्री ए. वी. पाई का पत्र, संख्या* ३३/१४/५०–पी.एम.एस. दिनांक ३१-१-५०

have no right to entry in Jain temple as they are not Hindu Temples' अर्थात् 'हरिजनों को जैनमन्दिर प्रवेश का अधिकार नहीं है क्योंकि जैनमन्दिर हिन्दूमन्दिर नहीं हैं'। (सिविल अप्लीकेशन नं. ९१ ऑफ १९५१) इस आशय का निर्णय दिया। तात्पर्य यह है कि धर्मगुरुओं को धर्म का वर्चस्व जब खतरे में हो, चुप नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि जैनधर्म में श्रावकों और श्रमणों का एक संयुक्त धार्मिक संगठन है, जिसे 'चतुःसंघ' कहते हैं। श्रमण, श्रमणा, श्रावक और श्राविकाओं का समुदाय जैनसंघ कहा जाता है। इनमें श्रमण और श्रमणा त्यागी वर्ग है तथा श्रावक और श्राविका गृही वर्ग है। ये दोनों वर्ग मिलकर चतुःसंघ कहे जाते हैं और जैनधर्म विद्यमान् रहे, इसके लिए उक्त चारों का विद्यमान रहना आवश्यक है। त्यागी और गृही रूप में पृथक्-पृथक् होते हुए भी दोनों अन्योन्याश्रित हैं तथा एक-दूसरे पर नियंत्रण जैसा प्रभाव बनाये हुए हैं। त्यागीवर्ग को संघ में गुरुपद प्राप्त है अतः मार्गनिर्देश करते रहने का दायित्व उस पर है। बिना चारित्र एवं ज्ञान के समन्वय के इस दायित्व का निर्वहण कठिन हो जाता है। तभी तो 'द्विहीनो गणपूरणः' कहा गया है। यदि गुरु वास्तव में ज्ञानचारित्रगुरु नहीं होंगे तो गृहीजनों को सुदेष्टा कैसे बना पायेंगे? लोकाभाणक है कि 'छिन्नहस्तो विहस्तस्य कथं बध्नातु कंकणम्' जिसके हाथ कटे हुए हैं वह दूसरे उस व्यक्ति के, जिसके हाथ नहीं हैं, कैसे कंकण बांधेगा? अथवा यों कहें कि 'न शिला तारयेत् शिलाम्' पत्थर की शिला दूसरी स्वसदृश शिला को कैसे पार उतारेगी? तो बुद्धिपरामर्श के अनुसार अयुक्त नहीं होगा। अपने सम्यक्चारित्र से उदीयमान तथा सम्यग्ज्ञान से प्रकाशमान सूर्यसदृश गुरुओं की संगति से ही आत्मकल्याण का मार्ग मिल सकता है।

हीनजनों के साथ संगति करने से बुद्धि हीन होती है, समान वयःशीलों के साथ समता को प्राप्त होती है; किन्तु उसमें विशिष्टता, अधिकता तथा गुणोत्कर्ष तो अपने से विशिष्ट गुरुओं की सेवा में रहने से ही प्राप्त होते हैं[१]। यह संसार विकट वन है प्रायः लोग पथभ्रान्त हैं इसमें से निकल पाना कठिन है किन्तु गुरुजन इसके पारदर्शी होते हैं। भवाटवी की भूलभुलैया से वे सहज ही पार लगाने का मार्ग बता सकते हैं। इसीलिए तो गुरुदेव का स्मरण किया जाता है। 'बड़ा विकट यमघाट, गुरु बिन कौन बतावे बाट' — बाट (मार्ग) तो गुरु ही बता सकते हैं। गुरुओं की संगति के अतिरिक्त अन्य संगति अकरणीय है क्योंकि प्राकृतजनों से संगति करने से दोषों की प्राप्तिसम्भावना रहती है अतः 'संगः सर्वात्मना त्याज्यः[२]'

---

१. *'हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।*
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥'

२. *'संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।*
स एव सद्भिः कर्तव्यः सन्तः सत्संगभेषजम् ॥'

संग का सर्वथा त्याग करना श्रेष्ठ है किन्तु स्वभाववश यदि संग न छोड़ा जा सके तो साधुजनों से ही करना चाहिए क्योंक गुरु, सन्त सत्संग की दिव्य विभूतियाँ हैं। उनके संग से निःसंग होने की शिक्षा मिलती है तथा इतर लौकिक जनों के संग से निःसंग भी कभी-कभी संगस्पृही हो सकते हैं। 'जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो'[1] यह जो एक प्रसिद्ध सूक्त है का अभिप्राय यही है कि त्यागी जब अधिक जनसम्पर्क में आता है तब उसे जन-जन से वाक्सम्पर्क करना होता है। वाक् मन की प्रेरणा से उत्पन्न होती है। इस मनःप्रेरणा से वाक् और वाक्-प्रतिवाक् से चित्तविभ्रम होना, मन में लोकसम्पर्कानुबिद्ध आर्तरौद्र परिणाम होना आरम्भ हो जाता है जिससे लक्ष्यीभूत पुरुषार्थ की हानि होती है। ऐसा सोचकर त्यागी को तो संग का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथापि स्वहितानुबन्ध से लोक उनकी चरणच्छाया अवश्य चाहता रहा है अतः वह अपने लाभ के लिए एकान्त में तीव्रतपश्चारित गुरु की सेवोपलब्धि का अवसर खोज निकाले यह उसी के कल्याण का सेतु है। रात्रि होने पर लोग अपने अन्धकारावृत प्रकोष्ठों को दीपप्रभा से आलोकित करते हैं, नदी की धारा को पार करते हुए हाथ में जल की थाह लेने के लिए लकड़ी लेकर चलते हैं और प्रखर दिवाकर-किरणों के ताप से त्राण पाने के लिए छत्र तान लेते हैं— ऐसा करते हुए वे दीपक, दण्ड और छत्र पर कृपा नहीं करते प्रत्युत अपने लिए ही आलोक, सुरक्षा और शीतलता प्राप्त करते हैं। समाज भी श्रेष्ठगुरुओं से, उनका वैयावृत्य करते हुए अपने कल्याण का पथदर्शन करता है। क्षत्रचूड़ामणिकार ने अपनी एक सूक्तिमणि में कहा है कि 'रत्नत्रय से विशुद्ध होते हुए भव्य जीवरूप पात्रों पर (धर्मसंवर्धन के लिए) स्नेह रखने वाला, मोक्षरूप परमपुरुषार्थ मार्ग में संलग्न और दशलक्षण अहिंसा परमधर्म का परिपालन करनेवाला गुरु ही भवसिन्धु में डूबते हुए भव्यों के लिए तरण-तारण है'।[2] वे गुरु सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के नायक होते हैं, गम्भीर चारित्रसमुद्र और मोक्षपथ के उपदेष्टा होते हैं[3]। उनके त्याग का निरूपण करते हुए कवि भूधरदास ने लिखा है—'कदलीतरु संसार है त्याग्यो यह सब जान'—उन्होंने संसार की असारता को कदलीवृक्ष के समान जान लिया है और सदा के लिए इसका परित्याग कर दिया है। केले का पेड़ संसार की असारता की ओर संकेत करता है। इसे छीलते जाइये और एक छिलके के नीचे दूसरा छिलका छीलते-छीलते अन्त में अन्तिम छिलका हाथ में रह जाएगा। इस प्रकार जैसे कदलीवृक्ष छिलकों की एक पर एक पर्त तहाकर खड़ा दिखता है वैसे

---

१. *'जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः ।*
भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी विवर्जयेत् ॥' —समाधिशतक, ७२.

२. *'रत्नत्रयविशुद्धःसन् पात्रस्नेही परार्थकृत् ।*
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥' —क्षत्रचूड़ामणिः

३. *'गुरवः पान्तु वो नित्यं ज्ञानदर्शननायकाः ।*
चारित्रार्णवगम्भीरा मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥'

नश्वर विषयों के कोट लगाकर मानव अपने तुच्छ जीवन को सम्राट् मान रहा है। वह अपनी भौतिक विपुलता के भार से दबा जा रहा है, पिसा और कुचला जा रहा है। आत्मधर्म की अछोर सम्पदाओं से लदे हुए कल्पवृक्षों से वह वंचित है तथा निम्ब के कड़वे फलों को ही द्राक्षा मान बैठा है। जिस नरभव को सुरेन्द्र भी तरसता है उसे मिट्टी के भाव उछाल रहा है। उसे पता नहीं कि जैसे समुद्र में गिरी हुई मणि का पुनः मिलना अत्यन्त दुष्कर है वैसे ही मनुष्यभव का प्राप्त होना पुनः पुनः अतिकठिन है। अनेक सागर तक लट, पिपीलिकादि योनियों में (अपनी खग-मृगजीवनिकाय योनियों में) पापच्यमान यह जीव 'करम योगतें नरगति लहे' कर्मयोग मिलने पर मनुष्यगति का बन्ध कर पाता है। मानो, उस जीव के लिए यह संयोग रत्नमणियों की वर्षा है, कल्पवृक्षों की प्राप्ति है। रत्नत्रय के पालन का हिरण्य-अवसर (गोल्डन चान्स) है। अतः नरभव की प्राप्ति को सार्थक करने के लिए देह में प्राणों की सबल स्थिति जब तक विद्यमान है, प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि जल जाने पर (जल चुकने पर) लकड़ी के अंगार भस्म रह जाते हैं और बीत जाने पर समय अनुपयोग के पश्चात्ताप को छोड़ जाता है। इस सदुपयोग की उपलब्धि के कर्णधार सद्गुरु हैं। इस गुरु-संस्था की नित्यता के लिए श्रावकों को उतना ही सचेष्ट रहना चाहिए जितना वे अपने वंश की रक्षा के लिए होते हैं। यदि अपना औरस पुत्र नहीं है तो वे किसी सगोत्रबान्धव के अपत्य को दत्तक लेकर भी वंशबेल को उच्छिन्न होने से बचाएंगे।* यह उनके भौतिक संसार की रक्षा हुई। इसी प्रकार अपने अध्यात्मलोक के संरक्षण के लिए उसे 'साधु'-संस्था को अनुच्छिन्न रखना चाहिए, उसके वैयावृत्य और गुणों के उत्कर्ष को संवर्धित करने में अपना योगदान करना चाहिए ताकि श्रमण-संस्कृति का यह चतुःसंघ जीवित रहे और जिन रूप-धारण करनेवाली 'गुरुसंस्था' बनी रहकर ध्रुवसूची का काम करती रहे। □

---

* *'जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत् ।*
यतीन् जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुंगुणैः ।।' —पं. आशाधर सूरि

नर-जन्म की सार्थकता

श्रमण संस्कृति के अमर गायक आचार्य अमितगति ने संसार की चतुरशीतिलक्ष योनियों में मनुष्यभव को सर्वप्रधान अथच सर्वश्रेष्ठ बताया है। 'भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम्' यह उनकी घोषणा है। वस्तुतः मनुष्य के समान अन्य कोई जीवपर्याय इतना उत्कृष्ट नहीं है जिसे सिद्धालय की ऊँचाइयाँ सुलभ हों। प्रायः क्षुद्र योनियों में भटकता हुआ जीव 'काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार' और 'एक श्वास में अठदश बार, जन्म्यो, मरयो, भरयो दुखभार'—छहढाला की उक्त पंक्तियों के अनुसार अनन्त काल तक निगोद में ही रच-पचकर दुःखभार सहन करता रहता है। यदि उस एकेन्द्रिय जीव को त्रसपर्याय मिल जाता है तो इसे दुर्लभ चिन्तामणि की प्राप्ति बताया है। इस प्रकार क्षुद्र कीट-पिपीलिका, सिंहादिक क्रूर पापानुबन्धी पर्यायों की वध-बन्धमयी दारुण व्यथा का अनुभव करते हुए यह जीव शुभ्रसागर में पड़ा रहता है। अनेक सागर प्रमाण समय उन मनुष्येतर योनियों में जन्म-मृत्यु की अबाध चक्की में पिसता हुआ नरक की मेरु-प्रमाण लोह को गला देने वाली उष्णता में, शीतलहर में अवर्णनीय यंत्रणाओं को पाता है। जीव की इस अनन्तानुबन्धिनी दयनीयता पर उच्छ्वसित होकर पं. दौलतराम कहते हैं—'करम जोगतैं नरगति लहै'—किसी शुभकर्म का निमित्त मिलने पर नरगति प्राप्त होती है। यह विवेचन साक्षी है कि मनुष्य जन्म कितना दुष्प्राप्य है; और संसार में जो जितना दुष्प्राप्य होता है उसका मूल्य उतना ही बढ़ जाता है। उपलब्धि तथा उपयोगिता अथच उस वस्तु की आवश्यकता उसका मूल्य-निर्धारण करती है। विक्रम के १९५६वें संवत्सर में अकाल पड़ा तो अकालग्रस्त क्षेत्रों के लोगों ने स्वर्णमुहर देकर कुछ मुट्ठी अन्न प्राप्त किया और अनेक लोग वृक्षों के पत्ते तथा छाल चबा गये। स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए राणा प्रताप को घास की बनी रोटियाँ निगलकर रहना पड़ा। ऐसे समय में एक-एक रोटी का मूल्य सोने की तश्तरी बराबर लग चुका है। इसीलिए वस्तुओं का मूल्य अकथनीय है। दक्षिण भारत के चन्दनबहुल प्रदेश के निवासी उस अमूल्य लकड़ी को साधारण काष्ठ समान जलाते हैं और वही बाजार में बहुमूल्य होकर बिकती है। इस प्रकार वस्तु का मूल्यांकन उसकी उपलब्धि की सुगमता या कठिनता पर बहुत निर्भर है। यह मनुष्यभव भी चन्दन की लकड़ी है जिसे क्षुद्र—कामोपभोग-वासनाओं के कुण्ड में जलाना अकिंचन प्रयोजन के लिए आत्मसर्वस्व को नष्ट करने के समान है। मनुष्य की शारीरिक क्षमता उसके बौद्धिक बल से मिलकर अतुल्य हो जाती है। इहलोक को प्रकृति के सौन्दर्य से व्यतिरिक्त जो नगर, ग्राम, हाट, बाजार, रत्न, वस्त्र, धन-धान्य-समृद्धि से आकीर्ण भौतिक रूप

मनुष्य ने दिया है वैसा अन्य योनिधारी जीव नहीं कर सकते। यह संस्कृति और सभ्यता का आन्तर-बाह्य विशाल क्षेत्र मनुष्य के उर्वर, बुद्धिबली मस्तिष्क की उपज है और इस प्रकार यदि मानवबुद्धि के विस्तार को आंका जाए तो पृथ्वी के एक सिरे से दूसरे छोर तक इसकी स्वनिर्मित वस्तुओं के नमूने से एक संग्रहालय तैयार हो जाएगा, जिसे देखने के लिए भी अनेक युग चाहिए। अन्य प्राणिजगत् की तुलना में मनुष्य का यह सर्वोपरि वैशिष्ट्य ही सूचित करता है कि मनुष्यजन्म कितना महान् है। आज भी अन्य प्राणी उसी पूर्वावस्था में हैं, जिसमें अपने अनादि जन्म समय में थे और उनके सभी व्यापार उतने ही सीमित हैं, जितने पूर्व युग में थे। मनुष्यों के साथ, बस्ती में रहनेवाले पशु-पक्षियों ने मनुष्य के समान प्रगति कहाँ की? वानर आज भी शाखाओं पर विश्राम करते हैं और युगों पुराना 'शाखा-मृग' शब्द उनके लिए आज भी लागू है; किन्तु मनुष्य ने ईंट-पत्थरों के ही नहीं, आधुनिक विज्ञानशोध से न गिरनेवाले, न टूटनेवाले प्लास्टिक के मकान बना लिये हैं। बैलगाड़ियों की मन्थर यात्रा रेल, मोटर से गुजरती हुई अतिस्वन विमानों में द्रुत पर उड़ रही है। रूई के स्थान पर 'टेरेलीन' आगई है। चूल्हे में लकड़ी का धुआँ नहीं उठता, वहाँ विद्युत् का 'स्पेशलकुकर' तैयार हो गया है। तात्पर्य यह कि मनुष्य प्रतिक्षण नवीन होकर जी रहा है।

मनुष्यजन्म की विशिष्टता का यह आधा निदर्शन है क्योंकि; जीव की यह परिणति भौतिक है। आध्यात्मिक पूर्णता ही इसे पूर्ण कर सकती है। अध्यात्म का यह विवेक नरभव की वह सम्पत्ति है जिसे क्षीरसमुद्र के चौदह रत्नों से, अमृत-कलशों से और कुबेर की कोषसम्पदा से नहीं खरीदा जा सकता। वह तो अमूल्य है और सृष्टि के समस्त उपादान एक ओर के तुलाभाग में रख दिये जाएँ तब भी दूसरी ओर रखी गयी इस आत्मसंपत्ति का पलड़ा भारी रहेगा। अध्यात्मविज्ञान की यह खोज मनुष्य के भौतिकविज्ञान की समस्त उपलब्धियों से ऊपर है। यों कहना चाहिए कि भौतिक परमाणुवाद से ऊपर जहाँ विज्ञान कल-परसों पहुँच सकेगा, उससे आगे अलक्षित में सुरक्षित इस स्व-पर-विज्ञान को ज्ञान ने जान लिया है। आध्यात्मिकता का यह आत्मदर्शी निरभ्र स्फुरण भारतीयों को ही मिला है और यदि इसके संवादी स्वर विश्व में अन्यत्र कहीं सुने जा रहे हैं तो यह भी भारतीय भूमि से उड़े हुए बीज हैं, इसमें सन्देह नहीं। भारत के लोग मृतक को जला देते हैं, यही इनकी अध्यात्मसिद्धि है। 'मर्मी' बनाकर उस नश्वर पर मोह करना और जिस पृथ्वी पर जीवन स्वतंत्र होकर विचरण करता है उसी पर मृत्युग्रस्त शवों की विद्रूप ठठरियों को सजाकर रखना, उनकी दुर्गन्ध को फैलाना, किसी आत्मवादी के लिए अकल्पनीय है। इस विचार में तो चार्वाक भी, जो भारतीय दर्शनों में भौतिक-वादी दार्शनिक हुआ है, उन 'ममी' वरों से उत्तम है जो कहता है—'भस्मान्तं शरीरम्' शरीर का भस्म के साथ अन्त हो जाता है; अर्थात् जीवित दशा में शरीर के प्रति अत्यन्त मोह रखनेवाला और भौतिक आनन्द मात्र को पल्लवित करने का

उपदेश देनेवाला भी मृत्यु के बाद उसके शव में आसक्त नहीं है । तत्काल उसे भस्म करने की स्वीकृति उसके दर्शन में भी है। भारतीय अध्यात्मधारा के अनुचिंतक वैदिकों और श्रमणों ने समान रूप से जिस बात को मान्यता दी वह आत्मा की अमरता है। उन्होंने जीवन को जन्म लेते, बढ़ते, स्थिर होते, ह्रास को लौटते और मृत्यु दशा को प्राप्त करते काय में अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि से देखा है। इस जीवन के साथ अभिन्न होकर निवास करते आत्मा को पहचानने में उनके सहस्रवार्षिक स्वाध्याय और तपः सत्र लगे हैं। 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्न ने उन्हें युगों तक अधीर रखा है और आत्मसिद्धि के क्षण ही ऐसे थे, जिन्हें प्राप्तकर वह (दार्शनिक) जीव मुक्त दशा को प्राप्त हुआ। उसने अपने भौतिक शरीर में एक अपर शरीर को देखा जिसे अविनाशी आत्मा की संज्ञा उसने दी। आत्मा की इस प्राप्ति ने उसका सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। कर्म परिणामों में गुम्फित आवागमन के सहस्र जन्म-मृत्यु बिंब देखकर, उनकी नारकयंत्रणाओं के अनुभव कर उसके विवेक ने प्रश्न किया—हे जीव! नाम और रूप तथा गन्ध-स्पर्शयुक्त इन पुद्गलों को कितनी बार तुमने भोगा। आयुःकर्म के साथ शेष होकर भी ये निःशेष नहीं हुए । बार-बार कटे हुए केशों के समान, छीले हुए नखों के समान फिर-फिर जन्मान्तरों में बढ़ते गये और अभी तुम्हारी इच्छा और भी है। कैसी है यह तृष्णा, भूख और भोगते रहने की अमिट लालसा? भला, भुक्तशेष थाली पर, जूठन खाने के लिए उच्छिष्टभोजी होने के लिए विज्ञजन तत्पर होते हैं?[1] हे भव्य! ये बाह्य दृश्य जगत् और इसके अनन्त पुद्गलस्कन्ध जो तुम्हें स्त्री-पुत्र-कलत्र-मित्रादि रूप में दिखायी दे रहे हैं, कुछ नहीं हैं, सारविहीन हैं, मृगतृष्णा के विशाल सरोवर हैं, नारियल के बूर से बंधे हुए मोदक हैं, जिनमें न मिठास है, न क्षुधाशांति। तुम भी उनके लिए कुछ नहीं हो। यह विचार स्थिर करो और मुक्ति पाने के लिए स्वस्थता प्राप्त करो।[2] आत्मा से आत्मा की दर्शनानुभूति करते हुए दर्शन-ज्ञानमय होकर समाधिलीन रहो।[3] ये जो लोचनों को लुभावने लगनेवाले यावत् पदार्थ हैं, निश्चय मायानगरी के वंचक हैं, जो ठगी के लिए बाह्य मनोरम रूप की हाट सजाकर तुम्हें उद्देश्यपथ से विरत करते हैं। इस आत्मदृष्टिको प्राप्तकर श्रमणसंस्कृति ने विरागवृत्ति का अवलम्बन किया। उनके तप-तेज, संयमाचार से उन्हें निर्भ्रान्ति-

---

१. 'अहो ! मुहुर्मुहुः भुक्ता मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
नेष्वेव भुक्तशेषेषु मम विज्ञस्य का स्पृहा ।।'

२. 'न सन्ति बाह्या मम केचनार्था भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं स्वस्थः सदा त्वं भव भद्रमुक्त्यै ।।'
—अमितगति द्वात्रिंशतिका, २४

३. 'आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्रतत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ।।'-अमितगति द्वात्रिंशतिका, २५

दर्शन की प्राप्ति हुई जिसे सम्यग्दर्शन के नामसे उन्होंने पुकारा। मिथ्यात्व का नाश करने से उनके समक्ष आत्मपरिणामों को विशुद्ध करनेवाले ज्ञान और चारित्र प्रकट हुए। श्रमणमहर्षियों ने भगवान् की दिव्यध्वनि से प्रसूत 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र को प्राप्त किया। अनन्तानुबन्धी कर्मगज का अंकुश जैसे मिल गया। मोह का ऊपरी आवरण दाल के छिलके समान उतर गया। भेदविज्ञान ने अनन्तरोमकूपों से समाच्छादित, चर्मावृत शरीर को जाना, उसकी तृष्णा रक्त-मांसरूप को पहचानकर भोग-बुद्धि से विरक्त हुई और मानव ने संयम सीखा, अहिंसक आचरण स्वीकार कर लोक से हिंसा का निराकरण किया, मिथ्या भाषण, ब्रह्मचर्यभंग, परिग्रहपरायणता जीवन से अलग हटते गये और जैसे नतोदर भूमि में पर्वतों का जल बहकर एकत्र हो, ऐसे महाव्रत, मूलगुण और दैनिक आवश्यक कर्तव्य आ-आकर आत्मपरिणामों को शुद्धोपयोग में लगाने लगे। पूर्वकाल का जीवन, जो वासनाओं का दास था, आत्मरति होने से उनपर प्रभु बन गया। यह परिवर्तन मनुष्य ने अपनी तपश्चर्या से किया। जिस प्रकार किसी पंक भरे नाले में फंसे हुए रथ को बैलों की जोड़ी लगाकर निकाल बाहर किया जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ने मिलकर जीवन के अध्यात्मरथको वासना-पंक से उबार लिया। यह महान् विजय का दिन था मानव के इतिहास में। अब नरजन्म सार्थक हुआ था। अधोगामी वृत्तियों का उन्मूलन कर ऊर्ध्वगामिता के पथ आत्मा ने, आत्मा के सहयोग से, आत्मा के लिए जान लिये थे। तीर्थंकरों का तप सफल हुआ, उनकी दिव्यध्वनि ने कोटि-कोटि जन्म-व्याधि-जरा-आकीर्ण जनों को मुक्तिपथ बताया। महान् व्यक्तियों का तप अपने कल्याण के साथ लोककल्याण करनेवाला होता है। सूर्य का ताप संसार की जड़ता का भी नाश करता है, यह उत्तम तप का स्वाभाविक परिणाम है। दुर्लभ वस्तुओं के लिए तप करना आवश्यक है। तप का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता'।*

आध्यात्मिक सम्पदा से मनुष्य में ज्ञान, वैराग्य का उदय होता है और सत्-असत् का विवेक निश्चयता को प्राप्त करता है। श्रम और तप—ये दो नाम क्रमशः भौतिक तथा आत्मिक उद्यम को बतानेवाले हैं। जितना भूतसर्ग-जन्य सुख है, उसके लिए श्रम की आवश्यकता है और जितना आत्मसुख है, उसे प्राप्त करने के लिए तपश्चर्या की। श्रम का परिणाम श्रान्ति—थकान—है और तप का परिणाम आत्मा का उत्थान है। इसीलिए 'तप' का विलोम शब्द 'पत' (पतन) है। जो शरीरी तप नहीं करता, उसका पतन निश्चत है। केवल श्रम करने से इहलोक के अस्थायी सुख मिल सकते हैं किन्तु तप से श्रम के परिणाम शुभ होते हैं। 'विद्यातपोभ्यां भूतात्मा' इस भूतपिण्ड, पुद्गलस्कन्ध शरीर की शुद्धि विद्या और तप से होती है। यह विद्या सम्यग्ज्ञान है और तप सम्यक्चारित्र का नामान्तर है। जीवन

---

* *'यद् दुर्गं यद् दुरापंच यच्च दुर्धरतास्थितम्।*
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥"

में जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुप्रतिष्ठित हो जाते हैं तभी निःश्रेयस की, कल्याण की प्राप्ति होती है। नरजन्म को अर्थवान् करने के लिए प्रबुद्धचेतना-शील व्यक्ति इस कल्याणपथ को स्वीकारते हैं। श्रमण तीर्थंकरों की इस सम्यग् दर्शन ज्ञानचारित्रमूल अध्यात्मसंपत्ति को आचार और विचार नाम से अभिहित किया गया है। विचारपूर्वक परिशीलित ज्ञानचारित्र (उभयसमन्वय) को श्रेयो-मार्ग बताते हुए कहा गया है कि 'अकेला ज्ञान पंगु (पदहीन) है और अकेली क्रिया अन्धी है तथा श्रद्धारहित स्थिति में ज्ञान, और क्रिया समन्वित होकर भी अर्थयुक्त नहीं हैं। मोक्षपद के लिए तो ज्ञान क्रिया, तथा श्रद्धा तीनों सम्मिलित रूप में हों तभी सफल हैं[१]।' इन तीनों का समन्वय मन-वचन और काय का अनन्यस्थान है; क्योंकि लौकिक हों चाहें पारलौकिक—कार्यमात्र में त्रिकरणशुद्धि अपेक्षित है। यदि मन-वचन-काय की त्रिपुटी का संयोग नहीं होगा तो व्यस्त अध्यवसाय से निष्पन्न कार्यों में एला के दानों की महक नहीं आएगी। एला की तिहरी बाड़ ही भीतर की सौरभ को सुरक्षित रखती है। अतः ज्ञान को क्रियासिद्ध करने के लिए तथा क्रिया को ज्ञानोपेत रखने के लिए विद्वान् इस ज्ञानक्रिया के उभयसंयोग को आवश्यक मानते हैं; क्योंकि, इस संयोग का लाभ लेकर अन्ध और पंगु जो गहन वन में भटके हुए हैं, परस्पर-सहयोग से नगर प्रवेश करने की पगडंडी पकड़ लेंगे।[२] नहीं तो उस हरिणी के समान, जो आगे खड़े बाणहस्त व्याध से, पास में बिछायी हुई जाल-मालाओं से, पीछे दहकती हुई अग्नि से, बायीं ओर से झपककर आते हुए शिकारी कुत्तों से घिर गई है और जिसके पैरों में मृत्युभय से छिपकर, उलझ-सुलझ चलते शिशु हैं, संसारमार्ग पर वासनादि से ग्रस्त मनुष्यों की दुर्दशा होने वाली है। ऐसी स्थिति में, 'किंकरोमि क्वयामि' क्या करूँ और कहाँ जाऊँ—यह पश्चात्ताप ही शेष रह जाता है; क्योंकि 'प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः'—जब भवन में आग लग चुकी है तब कूप खोदने का परिश्रम क्या भवनदाह को बचा सकता है?[३] ज्ञानपूर्वक क्रिया करने में और ज्ञान बिना क्रियासम्पादन में यही मौलिक अन्तर

---

१. *'ज्ञानं पंगु क्रिया चान्धा निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।*
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम्॥'

२. *'हतंज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।*
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥'—राजवार्तिक
'संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा नह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ सम्प्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ॥'—राजवार्तिक

३. *'अग्रेव्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमाला*
पृष्ठे वह्निर्दहति नितरां वामतः सारमेयाः।
एणी गर्भादलसगमना बालकं रुद्धपादा
चिन्ताविष्टा वदति हरिणं किं करोमि क्व यामि?॥'

हैं। ऐसे मनुष्य क्षमा, त्याग, तप और ध्यान तो करते हैं किन्तु उनके पीछे उस दृष्टि का अभाव है जो सम्यक्त्व नाम से पुकारी जाती है। उनको अपने किये हुए कर्म का लाभ नहीं मिल पाता। उनकी क्षमा, उनका त्याग, तप और ध्यान निर्बलता, नाश, क्लेश और अकर्मण्यता का नामान्तर होकर रह जाता है। भर्तृहरि ने ऐसे अनुद्योगियों को लक्ष्य कर एक सूक्ति कही है—"क्षमा तो हमने की, परन्तु धर्म के विचार से नहीं, घर के सुखचैन तो छोड़े, परन्तु सन्तोषपूर्वक नहीं, हमने शीत-आतप-वर्षा-क्लेश तो सहन किये किन्तु तप भावना से नहीं, अपितु दरिद्र होने से। ध्यान हमने भी किया, किन्तु धन का – शिव (मुक्ति) चरणों का नहीं और इस प्रकार जिन आचरणों को मुनि करते हैं, हमने भी किया किन्तु फल से वंचित रहे[1]; क्योंकि, हमारी क्षमा और मुनियों की क्षमा भिन्न-भिन्न थीं। हमने तो—

'क्षमा क्षमाबिन कीन, बिना सन्तोष तजे सुख।
सहे शीततप घाम, बिना तप पाय महासुख॥
धरचो विषय को ध्यान, मुक्ति को पथ नहिं ध्यायो।
तज्यो सकल संसार, प्यार जब उन बिसरायो॥

इसीलिए शास्त्रकारों ने भी सम्यक्चारित्र-पालन में ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के सहभाव को आवश्यक समझा है। 'कलश' काव्य में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जो व्यक्ति मोक्षप्राप्ति साधनभूत कर्मों की कृच्छ्रचर्या से क्लेश उठा रहे हैं, वे भले वैसा करते हुए अपनी कष्टसहिष्णुता का परिचय दें और जो महाव्रतों एवं तप-भार से भग्न हो रहे हैं, वे भी उस अतिभार से टूटते रहें; क्योंकि ज्ञान की अनुपूर्वी के बिना किये हुए ये कष्टमय व्यापार मोक्षप्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते; क्योंकि मोक्षप्राप्ति का साक्षात्कारण तो सम्यग्ज्ञानविशिष्ट सम्यक्-चारित्र है। उस ज्ञानगुणवर्जित ज्ञानबिना आचरित चारित्र से मोक्षप्राप्ति नहीं।[2] अतः चारित्र के पीछे ज्ञानमय दृष्टि आवश्यक है। इसके लिए यदि यों कहें कि ज्ञान स्व-पर प्रत्ययकारक है और चारित्र स्वप्रत्यय से प्राप्त दृष्टि (दर्शन) को सार्थक करने का श्रेयोमार्ग है, तो समीचीन होगा। संसार के प्रत्येक कार्य-व्यापार में उसका ध्येयावच्छिन्न दर्शन ही मूल है। जब तक लक्ष्य नहीं बनता, दृष्टि बिन्दु

---

१. *'क्षान्तं न क्षमया गृहोचितंसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,*
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं,
तत्तत् कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वंचितम्॥' —भर्तृहरि वैराग्य. १३

२. *'क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,*
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान् मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥' —समयसार, कलश १४२।

पर नहीं टिकती और जब कोई गन्तव्य लक्ष्य नहीं चलने का, चारित्र का अवसर नहीं मिलता। चारित्र का परिज्ञान नहीं होता तब तक मनुष्य अपने नरभव को सार्थक नहीं बना सकता। और उस सामान्य दशा में 'आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यभूतानि पशोर्नराणाम्'। आहार, निद्रा, भय, अब्रह्म आदि सभी क्रियाएँ मनुष्य और पशु में समान रहेंगी। मनुष्य भी अपनी दिन और रात्रि की चर्या खाने-पीने और सोने तथा मैथुनी सृष्टि के उत्पन्न करने में लगाता रहेगा। इस व्यामोहनिशा का प्रभात होते-होते प्राणपंछी को महाकाल के उन्मुक्त आकाश में उड़ने का निमंत्रण आ पहुँचेगा। उस दिन--'जब यह मन-पंछी उड़ि जैहै। तब दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।' और 'घर के कहें वेगि ही काढो, भूत भये कोहि खैहैं'--उस दिन जब यह प्राणपक्षी तनपंजर छोड़कर उड़ जाएगा, तब इस शरीर रूप वृक्ष के सारे पत्ते झर जाएँगे। उस निष्प्राण शरीर को देखकर घरवाले कहेंगे--'अरे! इस शव को शीघ्र बाहर निकालो, श्मशान में ले जाओ। कहीं भूत हो गया तो खाने को दौड़ेगा'। अब मुकाम बदल गया। कोमल गाव-तकिये लगानेवाला चुभनेवाली लकड़ियों पर (काष्ठचिता पर) सोयेगा। पत्नी का आलिंगन करने के स्थान पर अग्निज्वालाओं का स्पर्श करेगा। जलते हुए शरीर की हड्डियों के जोड़ जब चटखेंगे, रतिनूपुरों का शब्द होगा और हँसते-गाते जीवन की कथा कुछ राख, कुछ अंगारे बनकर रह जाएगी। दर्प, भवन, धन, दारा, सुत, वैभव यहीं धरे रहे और जीव चला गया। अनन्तानुबन्धी कर्मों की शृंखला में कुछ वृद्धि और कर गया। योगी जिन्हें स्वेच्छा से त्यागता है, भोगी को विवश होकर उन्हें त्यागना पड़ा। एक ने त्यागकर निराकुलशान्ति प्राप्त की और दूसरा स्वयं उनसे परित्यक्त होकर दीन बना। विषय तो जानेवाले ही थे। विषयसुखों की रात्रि लम्बी हो सकती है परन्तु शाश्वत नहीं। किन्तु जब यह रात्रि बीत जाती है तो विषयी के मन में अन्धेरा हो जाता है। वह उन इन्द्रियसुखों को पुनः पुनः पाने के लिए पुनः संसार रात्रि में उच्छिष्ट-विषयशरावों को चाटता रहता है। अहो! त्याग और त्यक्त में कितना अन्तर है? स्वयं समय से पूर्व स्वेच्छया विषयों का त्याग करनेवाला अनन्त सुखशान्ति प्राप्त करता है।* वस्तुतः इन विषय-भ्रमरियों में चक्कर खाता हुआ जीव अपने नरभव को सार्थक नहीं कर पाता। क्योंकि बचपन तो खेलते-कूदते अज्ञानदशा में बीत जाता है, यौवन विषय रति में निकल जाता है और वृद्धावस्था तो ऐसी स्थिति है कि एक पैर श्मशान में और दूसरा रोग-जरा से शिथिल हुआ संसार में। आत्मरूपदर्शन के अवसरों पर आवरण

---

* *'अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,*
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति।" --भर्तृहरि वैरा. १६

लगे हुए हैं[1]। इन पंक्तियों पर चलता हुआ मनुष्य जब मृत्यु का अतिथि होता है तब ऐसा लगता है कि लाल (मणि) गँवाकर कोई थका-हारा लुटा-पिटा व्यक्ति श्मशान में शवों की शान्ति भंग करने आ पहुँचा है। अनन्त निराशा का कफ़न ओढ़कर जैसे यह यात्रा तय की है। परिताप की अग्नि में जल-जलकर जैसे दग्ध अंगार ही चितामय होकर आ पहुँचा है। जन्मभर कोदों की खेती कर उसके चारों ओर चन्दन-कपूर की बाढ़ लगानेवाला, पंक धोने के लिए केसर के खेतों को मलिन करनेवाला, कोई हतभाग अविवेकी जैसे जन्मभर मिथ्यात्व की पगडंडी पर चलता रहा है। किसी समय निश्चय यह विषयों के पीछे पागल होकर दौड़ता रहा होगा किन्तु वृद्धावस्था ने अपूर्व भेदज्ञान नहीं तो कम-से-कम शरीर भेदज्ञान तो इसे करा दिया होगा। एक समय मन और तन एक हो रहे थे। मन की आशा पर तन दौड़ पड़ता था; किन्तु काल पाकर शरीर जर्जर हुआ तो मन की तृष्णा के अंकुश कुंठित हो गये। तनमन में द्वैध आगया। तन मुर्दा मांस के समान होगया और तृष्णा से तरुण मन अपने विषयों के अनुचिन्तन में ही डूबा रहा। यह तृष्णा का मित्र, वासना-सहचर, कुपथ-व्यसनी, मिथ्यात्वकिंकर मन मृगतृष्णा के कान्तार में भटकता ही रहा[2]। यही तो रूप की छलना में भरमाता है। माया के महालयों में पहुँचाता है। दीवालघड़ी के 'पेण्डुलम' के समान इधर-उधर डोलायमान तो यह मन ही है जो अपने स्वरूप को स्थितप्रज्ञ होकर देखने नहीं देता। जैसे सहस्रछिद्र चालनी से पानी निकल जाता है, वैसे ही इन्द्रियवशवर्ती का आयुष्य समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति नये-नये विचार करते रहते हैं किन्तु उन्हें क्रियान्वित नहीं कर पाते। करूँगा, करूँगा—आज नहीं कर सका, कल कर लूंगा, और कल नहीं तो परसों अवश्य करूँगा। फिर अभी इतनी शीघ्रता की आवश्यकता क्या है? अभी तो वर्षों जीवन शेष है। ऐसा विचार कर वह मृत्यु को भूल जाता है[3]। किन्तु इस एकपक्षीय विस्मरण से क्या अनन्त काल के लिए उसे मृत्यु भी भूल जाती है? नहीं। मृत्यु कायाधारी में निविष्ट होकर बैठी है और यह प्राणधारी पल-पल में मरता तथा जीवित होता है। प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में जीवन-मरण निहित है। जो निकला हुआ श्वास पुनः लौटकर नहीं आया, उसी क्षण मृत्यु निश्चित है। और श्वास तो शरीर में निकलते-प्रवेश करते रहते हैं। तब कौन भरोसा कि आगामी श्वास लौटेगा या नहीं। इसीलिए किसी समझवान् ने कहा—'श्वः कार्यमद्य कुर्वीत'—कल का कार्य आज ही कर लो; क्योंकि कोई नहीं जानता कि कल

---

१. *'बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो।*
अर्धमृतकसम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो॥' —छहढाला १४

२. *'जीर्यन्ति वर्णितः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।*
जीर्यतीन्द्रियसंघातस्तृष्णैका तरुणायते॥'

३. *'करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया*
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥'

किसे क्या होगा। बुद्धिमान् वही है जो श्व:करणीयों को आज ही निपटा दे[१]। बीच समुद्र में चलती नौका का तथा अधर आकाश में उड़ते वायुयान का क्या विश्वास? कौन-सी तरंग उसे डुबो दे अथवा कब वह तूफान से घिर जाए। अन्तत: यह तो निश्चित है कि जैसे एक दिन जन्म का आया था, वैसे ही एक दिन मृत्यु का आयेगा। कोई उसे आने से रोक नहीं सकता। बड़े-बड़े शूर-वीर, धनिक और धर्मात्मा काल के सम्मुख पराजित हुए हैं। कबीर का पद है कि 'आसपास जोधा खड़े बहुरि बजावें गाल। मंझ महल से ले चला ऐसा काल कराल'—किसी राजा की मृत्यु निकट थी। अनेक औषधोपचार से भी लाभ नहीं हुआ। भला, 'टूटी की बूंटी' कहीं हुई है। 'रज्जुच्छेदे के घटं धारयंति' कुए से भरा हुआ पानी का कलश खींच रहे हैं, बीच में आते-आते रस्सी टूट गई और कलश कुए में जा गिरा। उस समय गिरने से उसे कौन बचा सकता था? यही हाल राजा का था, वह आसन्नमृत्यु था, मरने के समीप पहुँच चुका था। राजा के स्वामिभक्त वीर सैनिकों ने उसे पंक्ति बाँधकर घेर लिया। अब ऐसा लगता था कि काल किधर से आयेगा, कैसे राजा का स्पर्श करेगा? किन्तु वे जड़मति देखते रह गये। काल आया और प्राण खींचकर ले गया। सारे योद्धा 'गाल बजाते डींग हाँकते'—रह गये। और सच भी है कि यदि धन चुकाने से, औषधि निगलने से और सिपाहियों की कतार लगाने से मरण को रोका जा सकता तो कम-से-कम धनवान्, वैद्य और राजा तो जीवित दिखाई देते; परन्तु काल के द्वार सबके लिए समान हैं। इसीलिए 'मणि मंत्र तंत्र बहु होई। मरते न बचावे कोई।' मरते हुए को कोई नहीं बचा सकता। किसी कवि ने कहा है—'अंगुलि के अग्रभाग पर थोड़ा थोड़ा लेते-लेते कज्जल की डिबिया रिक्त हो जाती है और कण कण बीनकर चींटियाँ एक टीला (वल्मीक) खड़ा कर देती हैं।' इसका रहस्य जाननेवाले को समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। दान, अध्ययन, तप, कुछ-न-कुछ करना चाहिए[२]। अहो! संचय की बड़ी महिमा है। कण कण करते कोष संगृहीत हो जाता है और क्षण-क्षण का उपयोग मनुष्य को बृहस्पति बना देता है। 'कुरल' काव्य की एक सूक्ति है कि यह नहीं सोचना चाहिए कि शुभकार्य के लिए जीवन का सन्ध्याकाल समुचित होगा। (क्योंकि एक श्वास की तांत पर बजनेवाले जीवनसंगीत के आरोह-अवरोहकाल का पता भी तो नहीं कि इसका सन्ध्याकाल अर्थात् अन्तिम स्वर कौन-सा है) जब कभी समय मिले धर्म करते रहना चाहिए[३]। यह धर्म ही मृत्यु के पश्चात् जीव

---

१. *'न कश्चित् कस्य जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति।*
अत: श्व:करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान्॥'

२. *'अंजनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम्।*
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभि:॥'

३. *'अण्ड्र अरिवम एन्नादु अरम सेय्य मद्र अदु।*
पोण्डु गाल पोण्डुत्तणे।'—कुरल, ३६।४

के साथ जाएगा। वास्तव में सत्संकल्पों को साधने के लिए काल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। इस विषय में किंवदन्ती है कि एक बार भगवान् जिनेन्द्र की पूजा सम्पादित कर धर्मराज युधिष्ठिर मन्दिर से लौट रहे थे। उस समय एक याचक ने हाथ फैलाया। धर्मराज के दक्षिण हाथ में पूजा-पात्र था अत. उन्होंने बायें हाथ से याचक को कुछ देना चाहा। याचक पठित था, बोला—दान दक्षिण हाथ से देना चाहिए। युधिष्ठिर बोले—दान लेनेवाले को हाथ बदलने जितने समय की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि इस क्षण मैं दान देना चाह रहा हूँ और सम्भव है हाथ बदलते-बदलते मेरे परिणाम बदल जाएँ। तब हाथ तो दक्षिण (उदार) हो जाएगा और मन:परिणाम वाम (प्रतिकूल) हो जाएँगे। अर्थात् 'शुभस्य शीघ्रम्' शुभ कार्यों में शीघ्रता आवश्यक है; क्योंकि—'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—शुभ कार्यों में विघ्न बहुत आते हैं। अत: 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' मृत्यु ने केश पकड़ रखे हैं यह सोचकर धर्माचरण करे। क्योंकि—'जिस जीव के जिस देश और काल में, जिस विधान से जन्म-मरण, सुख-दु:ख, रोग-शोक-हर्ष-विषाद इत्यादि श्री जिनेन्द्र भगवान् ने देखे हैं, वह सब उस क्षेत्र तथा उस काल में उसी विधान से होगा, उसे मिटाने की शक्ति किसी में नहीं है। चाहे इन्द्र हो अथवा तीर्थंकर, कोई भी शक्ति जन्म-मरण के परिवर्धन-नियोजन में समर्थ नहीं है[1]। यहाँ तो—'एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते। एक एव हि कर्म कुरुते ह्येकल: फलमश्नुते।' यह तनुधारी जीवात्मा एक ही उत्पन्न होता है, एक ही मरता है। एकाकी कर्म करता है और एकाकी फल भोगता है। इसमें किसी का 'सांझा' नहीं है। हाँ! अपने ही पुरुषार्थ द्वारा तप-त्याग से अपने कर्मों का क्षय किया जा सकता है। यह शरीर अनित्य है, वैभव शाश्वत नहीं है और मृत्यु सदा पार्श्ववर्ती है इस विचार को न भूलते हुए धर्म-संग्रह करना चाहिए[2]। संसार की अनित्यता को जानकर योगी हुए विरक्त मनुष्य इन्द्र के समान वैभव को छोड़कर मुक्ति के लिए तप करते हैं[3], क्योंकि तत्त्वज्ञान ही ऐसा साधन है जो लोक-परलोक में सुखदायी है[4]। उस भेदमूलक तत्त्वज्ञान को न

---

१. *'जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।*
णाद जिणेणणियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।।
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि।
को सक्कइ वारेदुं इंदोवा अह जिणिंदो वा।।' १२–१३

२. *'अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत:।*
नित्यं सन्निहितो मृत्यु: कर्तव्यो धर्मसंग्रह:।।'

३. *'अत एव हि योगीन्द्रा अपीन्द्रत्वार्हसम्पदम्।*
त्यक्त्वा तपांसि तप्यन्ते मुक्त्यै तेभ्यो नमोनम:।।' —क्षत्रचूड़ा., ३-२५.

४. *'तत्त्वज्ञानं हि लोकानां (जीवानां) लोकद्वयसुखावहम्'*—३-१८.

पहचानने से मनुष्य संसार के परपदार्थों में रति करता है और अपने को भाग्यवान् समझता है; परन्तु सत्य तो यह है कि विषयभोगों की प्राप्ति ही मनुष्य का अभाग्य है और उनसे विरक्ति होना उसके भाग्योदय का सूचक है[1]। क्योंकि, यदि मनुष्य को विषयादि सुख प्रतीयमान दुष्कर्मबन्धनों ने आत्मसात् कर लिया तो अनेक जन्मान्तरों की भवशृंखला उसके लिए तैयार हो गई। इससे बढ़कर अभाग्य क्या हो सकता है? परन्तु उपदेश सभी को नहीं लगते। संसार के लिए प्रकाश का सन्देश देनेवाला सूर्य उलूक के लिए तो अन्धकार उत्पन्न करता है। किसी को वैराग्य के अमृतफल भी खट्टे लगते हैं और कोई विषयों के कटुविपाक रसों में मधुरता का आस्वाद करता है। इसीलिए आज तक २४ तीर्थकरों की दिव्यध्वनि भी सारे संसार को मिथ्यात्व से विमुख नहीं कर सकी। आज भी कोई वैराग्य-शतक में डूबा है तो कोई शृंगारशतक का पारायण करते हुए तृप्त नहीं होता। इसी को कहते हैं—'काहू के शृंगार रुचि, काहू के रुचि नीति। काहू के वैराग्यरुचि, जुदी-जुदी परतीति'—कोई सीधे राजमार्ग से चलता है तो किसी को साँप की टेढ़ी चाल पसन्द है। कोई कनक-कामिनी में सुख मानता है तो कोई वनगिरि-गुहाओं में निर्ग्रन्थ होकर विचरना चाहता है। कोई एकान्त में प्रसन्न है तो किसी को समूह में बैठना प्रिय लगता है। रागी और विरागी अपने-अपने स्वभावानुसार चुने हुए मार्ग पर चले आरहे हैं। ऐसी स्थिति में वे धन्य हैं जो शुभ परिणाम में अपने को लगाते हैं और संसार के बार-बार परिक्रमण से बचने का मार्ग ढूंढ निकालते हैं। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि—'जो उत्तम गुणों के ग्रहण में तत्पर है, उत्तम साधुओं के प्रति विनयशील है, साधर्मी पर अनुराग रखता है, वह सम्यग्दृष्टि भव्य जीव उत्कृष्ट है[2]।' नरभव को सार्थक करने के लिए सम्यग्दृष्टि की परमावश्यकता है। 'सौभाग्यं हि सुदुर्लभम्'—सौभाग्यप्राप्ति सुतरां दुर्लभ है और सम्यग्दृष्टि होना ही वह परम सौभाग्य है। जिस संसार में हम निवास करते हैं, उसमें जितने परिग्रह रूप पदार्थ हैं, उनसे सम्पर्क होना तथा उनमें आसक्ति होना कोई असाधारण बात नहीं है। यह स्वाभाविक है तथापि विचारशील जीव को जब गुरुकृपा से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाए तब उसे तुषमाषभिन्न देहात्मज्ञान होकर विरक्ति धारण करना चाहिए। विरक्तिधारण कोई कृत्रिम मार्ग नहीं है अपितु ज्ञान का सहज परिणाम है। जिसे यह ज्ञान हो जाए कि यह वस्तु विषाक्त है, तो क्या वह उसे ग्रहण करेगा? इसी प्रकार जिसे शरीर के विषय में, संसार और विषयादि के बारे में तुच्छता, अनित्यता, दुःखमूलकता का

---

१. *'न विषयभोगो भाग्यं, भाग्यं विषयेषु वैराग्यम्।'*

२. *'उत्तमगुण गहणरओ उत्तम साहूणविणयसंजुत्तो।*
साहम्मिय अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो॥' —स्वामिकार्ति. १२।३१५.

ज्ञान हो जाए क्या वह पुनः उसी परिवेश में रहना पसंद करेगा ? भौतिक सुख-दुःखों के रंगारंग रूप को चित्रित करते हुए कविवर पं. बनारसीदास ने लिखा है कि—

'नानीमरण, सुताजनम, पुत्रवधू-आगौन ।
तीनों कारज एक दिन भये एक ही भौन ।।
यह संसार विडंबना देख प्रकट दुख-खेद ।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जानहि भेद ।।

अर्थात् यह संसार कितना विचित्र है और दयनीय भी, इसका यह एक ही चित्र पर्याप्त है। किसी घर में प्रातःकाल नानी की मृत्यु हो गई। घर वाले शोक-मग्न थे कि गृहपति की स्त्री ने कन्या को जन्म दिया और उसी समय जबकि मृत नानी की अरथी सजायी जा रही थी, घर के बाहर पुत्रवधू का 'डोला' आकर रुका। हर्ष और शोक तथा कन्याजन्म के चिन्तनीय प्रसंग—एक दिन में तीन-तीन सुख-दुःख संभिन्न चित्र उपस्थित हुए। यह विडम्बना कैसी आश्चर्यप्रद है ? जैसे क्षण-क्षण में नाट्यमंच के पात्र, दृश्य और अंक परिवर्तित हो रहे हों। यह देखकर चतुर चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है; किन्तु मूर्ख इस भेद को नहीं जानते। वे बारंबार सुखों-दुःखों से निकलकर उन्हीं में समाते रहते हैं। इसीलिए 'शोकस्थानसहस्राणि'*—यह श्लोक उन मूढबुद्धियों पर चरितार्थ होता है, जिसका आशय है कि 'शोक और भय के शत-सहस्र प्रसंग मूढजनों को प्रति-दिन आते रहते हैं किन्तु विवेकी मनुष्यों के समीप आने का उन्हें साहस नहीं होता।' संसार के कृत्रिम सुखों में खोये हुए जनों की यही परिणति है। वे क्षण में सुखी और क्षण में दुःखसन्तप्त होते रहते हैं। जैसे रहँट के कूप-शराव पल-पल में भरते-रीतते हैं। तन और मन से अस्वस्थ व्यक्ति एक भव में ही अनेकानेक भवों की दुर्गतियों को एकत्र कर जीते हैं। वे देखते हैं कि फूले हुए पुष्प बासी हो गये हैं, हरे-भरे वृक्ष ठूँठ रह गये हैं, वृद्ध होती हुई मानव-पीढ़ियाँ काल के विकाराल गाल में समाती जारही हैं और प्रत्येक श्वास मृत्यु के समीप और समीपतर होता जा रहा है तो भी उसे अमर होने की कल्पना है, जीवन का कभी अन्त नहीं हो तो अच्छा रहे, यही दुश्चिन्ता है। कहीं से अमरफल मिल जाए और सदा के लिए मृत्यु से छुट्टी मिले; किन्तु उन्हें अमरफल कहाँ से मिले ? जो आम खाना चाहे और बबूल में हाथ डाले, उसे रसीले फल कैसे मिलें ? अग्नि के लिए अंजलि करनेवाले को पानी की शीतल धारा कैसे प्राप्त हो ? जो रात-दिन विषयरूप विषभक्षण करते हैं वे अमृत को नहीं पा सकते। संयम का अमृतपात्र जिनके पास नहीं होता, वे बेचारे अल्पप्राण ही रहते हैं। महाप्राण और दीर्घजीवी होना उनके भाग्य में नहीं होता। पानी की लहर पर नाचते हुए बुलबुले की उपमा देते हुए

---

* *'शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।*
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।'

ऐसे दयनीय प्राणियों के विषय में लिखा गया है कि–'मनुष्य यदि अपनी पूर्णायु को प्राप्त करे तो सौ वर्ष जी सकता है। उसमें निद्रामय रात्रिकाल आधा निकाल दिया तो पचास वर्ष बचे। बाल्यावस्था अपरिपक्व और वृद्धावस्था अशक्त होने से पचास वर्ष में से दो भाग और निकल गये, यौवन में कुछ करने की क्षमता होती है किन्तु अधिकांश लोग 'तरुण समय तरुणीरत रह्यो' उक्ति को ही चरितार्थ करते हैं। उत्कट् पुरुषार्थ कर विषयसुखों को दूर से प्रणिपात करनेवाले बिरले महात्मा होते हैं। इससे अतिरिक्त यह समय संयोग-वियोग एवं उद्यम, उपार्जन, आधि-व्याधि में व्यतीत हो जाता है। ऐसा लगता है कि पानी पर तरंग है, जो निरन्तर चलायमान है[1]। क्षणभर भी उसे ठहरकर सोचने का समय नहीं मिल पाता। एक भीड़ लगी हुई है जिसमें निरन्तर धक्के लग रहे हैं–उत्पद्यमान शैशव, वर्धमान यौवन और क्षीयमाण वार्धक्य–एक के पीछे एक संप्लव मचाते, चले आ रहे हैं। ठहरने का अवकाश नहीं, और ठहरने कोई देता नहीं। फूल जब मुकुलित होता है तभी उसके पैरों में कांटे निकल आते हैं और जब वह पूर्ण विकास प्राप्त कर कुछ बनना चाहता है, गली-कूंचे में अपना सौरभविस्तार करने के लिए समर्थ बनता है, तभी काल माली के वेष में आकर उसे वृन्त पर से उठा लेता है और पँखुरियों के स्वप्न धूल में मिल जाते हैं। यह एक फूल की नहीं, एक मनुष्य की नहीं, अपितु संसार के उद्यान में खिलनेवाले सभी पुष्पों और 'यौवनं धनसम्पत्ती' प्राप्त मनुष्यों के वंशानुवंश की गाथा है। इसे नित्य विकास और नित्य निमीलन मिलता आया है और मिलता जाएगा। तब तक, जब तक यह आत्मस्वरूप को जानकर दुःखक्षय, कर्मक्षय, बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिनगुणसम्पत्ति को अधिगत करने में समर्थ न हो जाए और उसके लिए अशक्ति और बन्धन उत्पन्न करनेवाले परिग्रहों से मुक्त होकर सर्वथा शक्तिमान् और तत्पर न हो जाए। इस तत्परता के लिए उसे दौड़कर कहीं दूर नहीं जाना है। यह सब तो उसके अन्दर ही विद्यमान है जैसे तिलों में तैल, दही में घृत, नदी-प्रवाह में जल, काष्ठ में अग्नि। कोई प्रत्यगिन्द्रिय होकर आत्मा के इस अपार विक्रम का पता लगाकर तो देखे[2]। यों ही उथले जल के किनारे बैठकर समुद्रों में डुबकी लगाने से भयत्रस्त होनेवाले क्या कुछ प्राप्त कर सकते हैं? किसी ने क्या ही अच्छा कहा है–'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ। मैं बौरी

---

१. *'आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं,*
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥' –भर्तृहरि. वैराग्य, १०७

२. *'तिलेषु तैलं दध्नीव सर्पिरापः स्रोतःसु अरणीषु चाग्निः।*
एवमात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥'–उपनिषत्

डूबन डरी रही किनारे बैठ ।।' तो, जो डूबने से डरते हैं उन्हें अतल जलगर्भ के मुक्ताफल नहीं मिलते । वे तो तपोमय कृच्छ जीवन से भागकर संसार ही बढ़ाते रहते हैं; क्योंकि तप तपने के लिए निर्ग्रन्थ होना, मूलाचार पालन करना, महाव्रतधारी होना आवश्यक है और मुलायम गदेलों का रस लेनेवाले को घास की शैया कैसे रुचिकर हो सकती है? 'अरि मित्र महल मसान कंचन, कांच निन्दन थुतिकरन । अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन । तप तपैं द्वादश धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा –' इन पंक्तियों का अर्थ जितना श्रुतिमधुर है, पालन उतना ही कठिन है। परन्तु यह भी स्मरण रखने योग्य है कि 'रक्तेन दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन शुद्धयति'–जो वस्त्र रक्त से गन्दा हो रहा है, उसे रक्त से ही नहीं धोया जा सकता। आत्मा की चादर जो विषय-पंक से दूषित हो रही है, विषयों से ही नहीं स्वच्छ की जा सकती। वासनापंक को क्षालित करने के लिए संयम-रूप साबुन ही समर्थ है। विषयों की उग्र अग्नि को विरक्तिजल से निर्वापित किया जाता है। जब तक समदृष्टि नहीं प्राप्त होती तभी तक रत्न और कांच भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। समता आने पर दुःखों से उद्वेग नहीं आता, सुखों में स्पृहाभाव नहीं बढ़ता। राग-भय-क्रोध उसके समीप नहीं आते । उसे मुनित्व प्राप्त हो जाता है[1] । यह बोधिलाभ की स्थिति है, रत्नत्रय का दुर्लभ आराधन है, मुनिदीक्षा का धारण करना है। इससे बढ़कर तीनों लोकों में अन्य सम्पदा नहीं[2] । जिनको कर्मक्षय करना है, वे इस मार्ग पर आते हैं, जिनवाणी का श्रवण करते हैं, भोगों को रोग मान उनसे विरक्त होते हैं, उत्तम गृहस्थ अथवा उत्तम श्रमण होकर तीर्थंकर परमदेव के चरणों का प्रसाद प्राप्त कर नरभव को सार्थक बनाते हैं। पं. दौलतराम कहते हैं–

'यह मानुषपर्याय, सुकुल, सुनिबो जिनबानी ।
इहि विधि गये, न मिले, सुमणि ज्यों उदधिसमानी ।।'–छहढाला, ४-५.

□□

---

१. 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।'–गीता, २

२. 'बोधिलाभात् परा पुंसां भूतिः का वा जगत्त्रये ।
किं पाकफलसंकाशैः किं परैरुदयच्छलैः ।।'–क्षत्रचूड़ामणि, ६-३१,

जैनधर्म में नारी

नारी नर की जनयित्री है। वह इस जगत् की अतुल्य स्नेहनिधि है। मंगलसूत्र पहनकर वह अर्धांगिनी होते हुए पुरुष का सर्वांग क्षेम चाहती है और धीर, वीर, ज्ञानी, ध्यानी, धर्मात्मा तथा चारित्रसम्पन्न अपत्यों को उत्पन्न कर कुलतारिणी की गरिमा को चरितार्थ करती है। तीर्थंकर, सिद्ध और केवली नारी की पवित्र कुक्षि के रत्न-संभार हैं। नारी के उज्ज्वल स्तन्य में मनुष्य की यशस्विनी गाथाओं के लिए श्वेतमसि भरी हुई है। वह सद्य:प्रसूत शिशु के लिए दो-दो दूध कटोरे भरकर पहले से तैयार रहती है। स्तन्य की यह प्रथम धार, जो बालक के मुख में अवतीर्ण होती है, मानो, क्षीर समुद्र में नहाकर आती है। उस पय:पान के साथ माँ की इच्छाएँ पुत्रशरीर में कल्लोल भरने लगती हैं—मेरा लाल विश्वविश्रुत हो। क्षीरसागर की रत्नावली के समान श्रेष्ठ गुणावली इसे आप्यायित रखें। अपने अन्त:करण की अपार स्नेहराशि और पवित्रता की अनन्त उच्छल धाराएँ उस दुग्ध के बिन्दु-बिन्दु में नाचती रहती हैं। उसके विश्वमातृत्वरूप का सर्वतोभावेन वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका शील अगाध है, उसकी गरिमा सुमेरुशिखरों से भी ऊपर है। संस्कृति, नैतिकता, आदर्श तथा चारित्र नारी के पदविन्यास में सुरक्षित हैं। भारत के सांस्कृतिक स्तोताओं ने नारी को पृथ्वी के समान सर्वसहा कहकर उसकी अपार सहिष्णुता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है। उसे 'माँ' कहकर 'मान' का प्रथमाक्षर भेंट किया है। जैसे पृथ्वी असंख्य फल-पुष्प, कीट-भृंग, शस्यादि को उत्पन्न करती है, वैसे नारी भी सृष्टि के सर्जनात्मक धरातल का केन्द्रबिन्दु है, जिससे विद्वान्, दार्शनिक, ऋषि-मुनि, रागी-त्यागी आदि अनेकविध गुणावलीसम्पन्न नरपर्यायी जन्म लेते रहे हैं और लेते रहेंगे। यह नैसर्गिक महत्त्व नारीजाति को ही प्राप्त है। एतावता संस्कारी समाज पर, धार्मिक लोक पर, चारित्रविशुद्ध जातियों पर नारीजाति का अपरिमेय ऋण है। नारी का कार्यक्षेत्र अधिकांशत: घर रहा है, मूक-मौनसाधिका रहकर ही इसने अपना व्यक्तित्व चौराहे पर नहीं आने दिया, किन्तु इसके पवित्र अंक में खेलकर प्रतिक्षण संस्कारित होते हुए नरलोक ने सिद्धालय की ऊंचाइयों को जो स्पर्श दिया, उसमें माँ का स्थान अवर्ण्य है। नारी उषा के समान ब्राह्मवेला में उठकर गार्हस्थ्य भवन के सारे बासीपन को धो देती है। तन और मन:शुद्धिपूर्वक नित्यकर्म में अहोरात्र लगी रहती है। परिवार के लिए ऐसा आहार प्रस्तुत करती है जो उसे नीरोग, दीर्घायु तथा पवित्र बनाये। देवदर्शनार्थ पुरुषों से भी पूर्व मन्दिर पहुँच जाती है। मुनि परमेष्ठियों को आहारदान कर वैयावृत्य पालन करती है। व्यवसायनिमित्त से हाट-बाजार बैठनेवाले पति के समस्त काम, क्रोध को अपने शरीर पर लेकर उसे पवित्र-निर्मल भावों के साथ बाहर उन्मुक्त विचरण के लिए सुविधा

प्रदान करती है। वस्तुतः नारी समाजशास्त्र का वह प्रथम सौवर्णपृष्ठ है, जहाँ से मानव के गरिमामय इतिहास का शुभारम्भ होता है। पुरुष से अधिक सहिष्णु, धर्मपालक, व्रताचारपरायण, पूजादीप के समान सर्वदा स्थिर और देवोन्मुख, मर्यादाओं के अम्लान पुष्पों को अंजलि में लिये अकम्पगति से चलनेवाली नारी मनुष्य-जाति का सर्वोपरि शृंगार है। यह माता, भगिनी, पत्नी और दुहिता के रूप में मनुष्य की परम मित्र है। युगों-युगों से मानव-जाति के लिए नैतिक संबल रही है और व्यसनों में फँसे हुए नर की विपत्ति सुहृत् है। देहली पर धरा हुआ दीपक जैसे घर और बाहर उज्ज्वलता को विकीर्ण करता है उसी प्रकार पवित्र, विवाहसम्बन्ध में नियंत्रित नारी पितृकुल और श्वसुरकुल दोनों को पवित्र धन्य और यशस्वी कर देती है। नारी को क्षेत्र तथा पुरुष को बीज माना गया है इसलिए नारी की क्षेत्र-विशुद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण समझना भारतीय समाजशास्त्र की दूरदर्शिता है। विधवाविवाह का निषेध, एकपतिव्रतपालन इत्यादि नियम, नारी के सहयोग की अखण्डता से परिपालित किये जा रहे हैं। इस प्रकार नारी चतुर्वर्ग की संरक्षिका है, रजोवीर्यसंप्लव से उत्पन्न होनेवाले सांकर्यदोष की नियामिका है। भगवान् वृषभदेव, श्रीरामचन्द्र, महावीर इत्यादि इसी जननी की अंकशैया में पलकर महान् हुए हैं। एक सच्चरित्र नारी जो उपदेश अपनी सन्तान को दे सकती है, संसार की बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ और विश्वविद्यालय उसका 'ककहरा' भी नहीं जानते। नारी के जीवन का प्रत्येक चरण त्याग, सन्तोष, बलिदान और मनस्विता से भरा हुआ है।

जैनवाङ्मय में नारी का सम्मान धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्परा में समानरूप से किया गया है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का शाब्दिक मात्र नहीं, व्यवहारपरायण अर्थ भी जैनसंस्कृति में नारी के लिए सुरक्षित है। सामान्यतः नारी को लेकर विश्व के साहित्य में अनेक आक्षेप किये गये हैं। उसे नरक मार्ग की निःश्रेणी, पापों की खान, अपवित्र और विषयवल्ली, तथा मोहलता —इत्यादि कहकर कोसा गया है; परन्तु ये नारी को दुर्गति कहने-वालों के स्वयं के मन की दुर्बलताएँ हैं। पराजित के आक्रोश हैं। नारी को नितान्त वासनारूप में देखनेवालों का अस्वस्थ दृष्टिकोण है। स्वयं की कामुक वृत्तियों का पंक उछालना है। मनुष्य के अहंकार और बलदर्प ने नारी को केवल शरीर समझा, आभूषणों के समान उसे सम्पत्ति माना और वासनाक्षुधा का खाद्य माना, इसी परिप्रेक्ष्य में बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी नारी के प्रति कठोर शब्दावली का प्रयोग किया है। यदि पुरुष अपने मन का कीचड़ स्त्रीजाति पर उछालता आया है तो इसमें नारी का क्या दोष ? 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'—कोई हरीतकी को दश हाथ प्रमाण बतावे तो कोई क्या कर सकता है ? बोलने वाले के मुख में जीभ है। हाँ ! अधिक से अधिक श्रोता उसकी सत्यता से इन्कार कर सकता है; किन्तु 'जनानने कः करमर्पयिष्यति'—बोलनेवाले के मुंह पर निषेध का हाथ नहीं लगाया जा सकता। तथापि इसे पुरुष का 'स्वैरवाद' कहा जा सकता है और इसको सत्य से दूर घोषित किया जा सकता है। आचार्य शुभचन्द्र ने

कहा है कि—स्त्रियाँ अपने सतीत्व से, महत्त्व से, आचरण की पवित्रता से, विनय-शीलता से और विवेक से धरातल को विभूषित करती हैं* । इसीलिए आवश्यकता है नारी में विद्यमान उत्तम गुणों को उदीर्ण करने की और उसके आध्यात्मिक वित्त को सुरक्षित रखने की; क्योंकि एक ओर शास्त्रों में नारीनिन्दा के वाक्य भरे हैं और दूसरी ओर नारियों ने संस्कार की पाठशालाओं को आजतक यथावत् चालू रखा है। अवश्य, आज समय की अतिभौतिक प्रवृत्ति तथा पश्चिमी जगत् के वैज्ञानिक पौरोहित्य ने नारी और नर को दिग्भ्रम में डाल दिया है। वह निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि मार्ग पूर्व का सही है या पश्चिम का। पूर्व के मुनि-महर्षियों ने संयम और सदाचार का मार्ग निरूपित किया है तो पश्चिम ने वासना की सहज तरलधारा में 'सहस्र किलोवाट' के विद्युत्तार और बिछा दिये हैं। नारी जब भारतीय वेष-भूषा में घर के आंगन में विचरण करती थी, तब साक्षात् अन्नपूर्णा, लक्ष्मी, सरस्वती, देवी और मातृत्व के, भगिनीत्व के परिवेश में दिखायी देती थी किन्तु जब से उसने अंग्रेजों की शिक्षाविधि में स्नातिकात्व पाया है उसका वेष, विचार और आचार भारतीय भूमि पर एक ऋण खाते की रकम बन गया है जिससे भारतीय शालीनता की पूंजी दिनोंदिन क्षीण हो रही है और वैदेशिक विन्यास सूद-दर-सूद बढ़ता जा रहा है। इस बाह्य-आचारग्रहण की स्वतंत्रता का उदय भारतीय संस्कारों के उखड़ जाने पर सम्भव हुआ है। जैसे खाली सराय (वसतिका) पर कोई मार्ग चलता हुआ अधिकार कर बैठे, उसी प्रकार गत दो सहस्र वर्ष के सांस्कृतिक विलोपन से भारतीय सद्गृहस्थों की आचारप्रणाली क्रमशः शिथिल होती हुई प्रायः विस्मृत हो गई। अध्यात्म पर पाले-पोसे प्राण भारतीय शरीर में भौतिकता के लोचनशोभनीय रूप के पीछे अपवित्र गली-कूंचों में भटक गये, भरम गये। और आज नारी चेतना, नारी जागृति, प्रगतिशीलता तथा पुरातनवाद के विरुद्ध नारी का सशक्त मोर्चा—आदि नाम से जो 'स्लोगन' आकाश में उद्घोषित किये जा रहे हैं, उनके पीछे विकृत जीवनदर्शन कार्य कर रहा है और अपने नवजागरण के भ्रम में नारी एक ऐसे 'गुट' से घिर गई है जो उन प्राचीन ऋषियों के समान नारी की निन्दा नहीं करता, उसे 'पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी'—पाप का बीज, चिन्ताओं का मूल तथा नरकस्थान स्त्री है—ऐसा नहीं कहता, किन्तु अप्सराओं के समस्त विशेषण देकर उसे सम्पूर्णतया कामुकता की ओर खींच रहा है। स्पष्ट है कि नारी पहले निन्दकों से घिरी हुई थी और अब प्रशंसकों ने उसे घेर लिया है। पहलेवाले निन्दक होकर भी उदार थे और 'जल तू जलाल तू आई बला टाल तू' कहकर नारी से भागना चाहते थे अतः नारी का इसमें अहित नहीं था; किन्तु आज नारी लुट रही है, उसकी तप, तेज, साधनाएं कुचली जा रही हैं। मृगतृष्णा के जलविहीन मरुस्थलों में जैसे मुंह मारकर हरिणी प्यासी मर जाती है, वैसे ही अपने पुराणकाल से संचित

* *'सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।*
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥'—ज्ञानार्णव, १२-५८.

ऐश्वर्य के सभी बहुमूल्य आभूषणों को उसने वासना-मद्य बेचनेवाले अकिंचन कलाल के हाथ बेच दिया है। क्या इससे उसे तृप्ति मिलेगी ? आग को पीकर प्यास बुझी है? आत्मवंचना के जिस चक्रव्यूह में वह घिर गई है वहाँ सातों व्यसन सप्त महारथी बन कर उपस्थित हैं। किन्तु व्यसनों द्वारा किये जा रहे प्रहारों को वह उपहार समझने लगी है और उस आनेवाले भय से अजान है, जो उसके पास अनादिसंचितमणिकोष में से कुछ भी नहीं छोड़ेगा। अकिंचन नारी का वह स्वरूप कैसा होगा, यह विवेक की आंखों से परोक्ष नहीं है। व्याधों द्वारा सुनियोजित एक मार्ग पर हरिण बढ़ा जा रहा है तो दूरदर्शी उसके जाल में फँसने के परिणाम को जान लेते हैं। भारतीय संस्कृति (श्रमणसंस्कृति) में नारी और नर के बीच सम्भावित सम्बन्धों की एक सीमा निर्धारित की गई थी और 'मातृवत् परदारेषु'—परस्त्रीमात्र में मातृभाव रखने के उपदेश दिये गये थे जिससे राष्ट्र का जीवन सुरुचि एवं संस्कारशीलता का आवास था। युवाओं को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति मिलती थी। कन्याएँ गृह्य-आचारविचार और सभी प्रकार के गृहिणी के करणीय कर्तव्यों को घर में ही निपुणता से सीखती थीं और अपनी माता से परम्परा प्राप्त शील की शिक्षा प्राप्त करती थीं। इस प्रकार संयम की शिक्षा उन्हें दी जाती थी तथा घर, जाति, कुल और समाज का जीवनव्यवहार भी इतना परिष्कृत था कि उसमें अपक्व अवस्था में विकारों के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं की जा सकती थी; किन्तु समय की गति ने शिक्षा, आहार-व्यवहार, रीति-नीति, संस्कार सभी को बदल डाला और भारतीय पौधों को विदेशी खाद देकर कुछ इस प्रकार का बना दिया गया कि उनका जन्म तो भारतभूमि पर हुआ किन्तु रूपविन्यास तथा विकास पश्चिम की विचार-धारा में मिल गया। इसे देशसांकर्य कहा जा सकता है। आज युवा और युवती-वर्ग इसी विचार-धारा में प्रवहमान हैं और नितान्त भौतिक पाश में अपने को अर्पित कर चुके हैं। यह पतन है और यदि धर्मविचार को तटस्थ रखते हुए भी इस पर विचार किया जाए तो यह अस्वस्थता है, घोर मानसिक पतन है। आज का वेष, आहार की स्वच्छंदता और मनोरंजन के नाम पर चित्रालयों में उमड़ती भीड़, इस बात की साक्षिणी है कि प्रतिक्षण मानसिक व्यभिचार चालू है। यह कठोर सत्य है। माता-पिता और भाई-बहिन रेडियो तथा सिनेमा के गीतों एवं चित्रों को साथ-साथ देखते हैं और उन्हें अपने साथ बैठे हुए (या बैठी हुई) का विचार तक नहीं आता, यह घोर कुण्ठा के लक्षण हैं। जहाँ कुष्ठ फूटता है, वहाँ चर्म की संवेदनशीलता मिट जाती है और निश्चय आज इस रूप में समाज की नैतिक मृत्यु हो गई है। अश्लील से अश्लील दृश्यों को बराबर कुर्सियों पर बैठकर देखनेवाले पिता ही अपनी कन्याओं को उन्मुक्त आचरण के पथ पर बढ़ने की ढील देते हैं और तभी परिणामस्वरूप 'लवमैरिज' अथवा निषिद्ध सम्पर्क युवा और युवतियों में संचरित होते हैं। इस अनियंत्रण से धर्म ध्वस्त होता है, शिष्टाचार को साँप सूंघ जाता है, संयम संखिया खाकर मर

जाता है, तप उल्टा झूलकर 'पत' (पतन) बन जाता है, त्याग को राग दबोच लेता है, शील की खील बिखर जाती है और सर्वतोमुखी भ्रष्टाचार का अश्लीलता तथा निर्लज्जता के साथ द्विभार्यायोग हो जाता है। तब राष्ट्र की बौद्धिक और शारीरिक चेतना तथा बल में बल पड़ जाते हैं। ऊंचे पुष्ट वृषभ के कन्धोंवाले तरुण दिखायी नहीं देते तथा अपने वृद्धत्व से लज्जा अनुभव करती हुई स्त्रियाँ यौवनशोभनीय प्रसाधन, अलंकार एवं केशों के श्यामीकरण के लिए उपादान खोजती रहती हैं। उन्हें मातृत्व जैसे सम्मानित पद वयोविगलन प्रतीत होते हैं। आज बड़े-बड़े नगरों में बस के लिए क्यू (पंक्ति) बनाकर खड़े हुए चेहरों में उक्त स्थिति को आँखों देखा जा सकता है। शिष्ट मर्यादा भाषा का मुखबन्धन करती है और इसका पूर्ण चित्रण उसके लिए पंकस्नान है। इस विचारमन्थन से यह स्पष्ट है कि 'घृतकुम्भसमा नारी तप्तांगारसमः पुमान्' कहकर प्राचीनों ने स्त्री-पुरुष के बीच जो व्यवधानरेखा बनाई थी, वह उन्हीं के लिए वरदान थी और जीवन सधा हुआ चलता था, पतन अथवा फिसलन का भय नहीं था। आज तो लोग जानबूझकर फिसलना पसन्द करते हैं, संयम और संयमी को गाली देते हैं। विवेक को अविवेक और पशुता को देवत्व से विभूषित करते हैं। अल्पजीवियों के इन उपक्रमों में अन्धा स्वार्थ ही सखा है, कुटिलता ही सिद्धिमार्ग है, दीनता ही व्यक्तित्व है और उदारता को 'अर्धचन्द्र' की दक्षिणा दी जा रही है। और यह सब हो रहा है प्रगति के नाम पर, उन्नति मानकर, विकास के पथ पर, तथा उन बुर्जुआ विचारों के कफ़न में कील ठोकने के लिए, जिनकी मृत्यु हो गई है या जो 'ईसा' की तरह अपनी सत्यता के लिए 'क्रॉस' पर टाँग दिये गये हैं। अतः या तो इस दारुणता का अन्त कर देना होगा या यह दारुणता ही विश्व की अन्तकारिणी हो जाएगी। तब नारी को भी अपना पूर्ववर्चस्व प्राप्त करने में बहुत समय लगेगा; क्योंकि लंघित ऊँचाइयों से गर्त में गिरकर पुनः ऊपर चढ़ना कठिन होता है। किसी गर्त में खड़े हुए के लिए वह इतना भयानक नहीं, जितना ऊँचाइयों से फिसलकर गर्त में गिरनेवाले को। जिनका जीवन गर्त में ही बीता है, बीत रहा है, वे कदाचित् अवसर पाकर ऊपर उठने का प्रयत्न करने के लिए जीवित तो हैं, जबकि ऊँचे शिखरों से गिरनेवाले की तो तुरन्त मृत्यु निश्चित है। सच है, काले वस्त्र को दाग नहीं लगता और उज्ज्वल पर लगा हुआ कलंक मिट नहीं पाता। भारतीय नारी का इतिहास उज्ज्वलता का पृष्ठ है। उसकी परम्परा महासतियों ने सुरक्षित रखी है। ब्राह्मी, सुन्दरी, अंजना, अनन्तमती, दमयन्ती, चन्दना और सीता पर समाज की संस्कृति ने गर्व किया है, कांचनियों को गरिमा के आसन कभी नहीं मिले। स्तोत्रकारों ने जब स्त्रियों का स्मरण किया तो तीर्थंकरों के मातृत्व धन्य हो उठे। 'भक्तामर' स्तोत्र की पंक्तियों को ही लिया जाए तो श्री मानतुंगाचार्य लिखते हैं—'हे मातः मरुदेवि ! आप धन्य हैं। आपने भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थंकर को जन्म दिया जैसे सूर्य को पूर्व

दिवा जन्म देती है[1]। श्री शुभचन्द्राचार्य लिखते हैं—'शम, शील, संयम से युक्त, अपने वंश में तिलक समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित नारियाँ धन्य हैं[2]। आचार्यों की इस आवाज में भारतभूमि की संस्कृति मुखर हुई है। यह गूँज ही इस राष्ट्र की सम्पत्ति है। नारी के लिए प्रयुक्त ये विशेषण पुकार-पुकार कर कहते हैं कि शम, शील, संयम, सत्य और श्रुत ही यहाँ नारी का स्वरूप है। जिन्होंने अपने आँचल से शीलशरीर को ढँके रखा, उन्हीं का यश:सौरभ यहाँ कस्तूरी के समान दिगन्तों में फैला है। शीलवती नारी समाज की निधि है जो रत्न उगलती है। वह चेलना है जिसकी अन्तश्चेतना सतत जागरूक रहकर अपने षडावश्यकों का पालन करती है। वह महासती सीता है जो श्रीरामचन्द्र द्वारा परित्यक्त किये जाने पर भी मन में पति के प्रति किसी विरोधी भाव को प्रश्रय न देकर सेनापति कृतान्तवक्त्र से कहती है कि 'श्री राम से कहना कि मेरे समान लोकनिन्दा के भय से कभी धर्म को न छोड़ें'—अहो! सतियों का मन स्वप्न में भी अपने धर्म से विचलित नहीं होता। वे धर्म के लिए शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी पीड़ाओं को तप मानकर सहन करती आई हैं। उनकी तितिक्षा का कोष अमाप है, उनकी समर्पण-भावना पति में एकाकार होकर उसके विरुद्ध मानसचिन्तन तक नहीं करती। नारी क्षमा है, मातृत्व में नरलोक को संजीवन औषधि उसीसे स्तन्यधार के रूप में मिलती है। वह पुरुष के रोष-दोष को पचाकर उसे निर्मलत्व प्रदान करती है। चन्दन की लकड़ी के समान दग्ध होकर भी सुरभि देती है और कलिका के समान कुचली जाकर भी परिमल उत्पन्न करती है। जो नारी के इस उदात्त-उज्ज्वलरूप के स्तोता हैं, उन्हें ही वास्तव में नारीजाति का सच्चारित्र सुरक्षित रहे, इसकी चिन्ता है। उत्सर्ग और त्याग-तितिक्षा से आकीर्ण नारी का जीवन समाज की विभूतिमत्ता को समुन्नत रखनेवाला है। स्वयं के लिए अमृतदायी है। व्यामोह में फँसकर यदि नारी अपने प्राचीन इतिहास से मुख मोड़ लेगी, वह दिन मानवजाति के दुर्भाग्य का होगा। उस दिन स्वेच्छाचार उत्सव मनायेगा, पाप प्रसन्न-पुलकित होगा, अनय-अनीति के लिए आठों दिशाएँ खुल जाएँगी। इसीलिए मानव मातृजाति से अंजलिबद्ध होकर याचना करता है कि वह अग्निपरीक्षा देनेवाली सीता बने, समाज को उन्मार्गगामी होने में सहायक कांचनी, रूपाजीवा न बने। वह उषा के समान रहे कि सूर्यपुत्रों का प्रसव कर सके जो लोकव्यापी तिमिर पर वज्र बनकर

---

१. *'स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,*
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि, सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥'—भक्तामर., २२.

२. *'ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः।*
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥'—ज्ञानार्णव, १२। ५७.

बरसते हैं। वह अपनी सन्तानों में ऐसे संस्कारों का निर्माण करे कि वे श्रेष्ठ त्यागी अथवा उत्तम श्रावक बनकर जीवन को सफल करें; क्योंकि सन्तान को माताएँ ही सुसंस्कारी, धीर, वीर अथवा चारित्र-शिरोमणि बना सकी हैं और आगे भी बना सकेंगी। एक माँ अपने पुत्र के लिए शत अध्यापकों से बढ़कर है। वही उसकी प्रथम आदर्शगुरु है, शिक्षिका है। बालक का अधिक समय माँ के आसपास ही बीतता है, अतः आरम्भिक संस्कार उसे माँ से ही प्राप्त होते हैं। अतः देश, धर्म, जाति तथा सर्वविध अभ्युत्थान के लिए माँ ही बालक को विभूषित करती है। केवल बालक को जन्म देने से माता का मातृत्व सार्थक नहीं होता उसे उस मिट्टी में कुलाल के समान संस्कारचक्र पर रखकर शराव, कुम्भ या कुछ और बनाना पड़ता है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, श्री अकलंकदेव, समाधि-सम्राट श्री शान्तिसागर महाराज और श्री गणेशप्रसादजी वर्णी जैसे व्यक्तित्व माताओं की संस्कार-पाठशाला के स्नातक पहले हैं और अन्य शालाओं के बाद में। आज इस संक्रमण काल में उन तप-त्याग-तेजोमयी माताओं के उस पवित्र संस्कारी स्वरूप की झलक अनुपलब्धि के अन्धकार में अन्तर्हित होती जा रही है, यह स्थिति गम्भीर है। इससे संस्कृति असम्पन्न होती जा रही है और उदात्त संस्कारों की पाठशालाओं पर 'ताला' लगता प्रतीत होता है। महावीर की माता का नाम 'प्रियकारिणी' था। भगवान् को उत्पन्न करने से बढ़कर लोक के लिए प्रिय कार्य क्या हो सकता था? इसलिए वह अवश्य ही प्रिय-कारिणी ही थी तभी तो राजा सिद्धार्थ भी सिद्धार्थ (सिद्धप्रयोजन) थे। आज भी स्त्रियों की कुक्षि प्रियकारिणी देवी का उत्तराधिकार ले और अपने नारीत्व को धन्य करे। जब कोई सुहागिन वधू सास अथवा अपनी बड़ी के पैरों लगती है तो आशीर्वाद देनेवाली उसे सीता जैसी होने को अशीषती हैं। सीता जैसी बनने का यह आशीर्वाद युगों-युगों से सास अपनी बहुओं के लिए देती आई हैं और वह समय कभी नहीं आयेगा जिसमें वे उन्हें स्वैरिणी होने का आशीर्वाद दें। नारी के गृहस्थ इतिहास की एक झलक 'अमरकोष' की शब्दावली में इस प्रकार है कि, प्रथम वह पाणिग्रहण कर 'पत्नी' बनती है, तब पति की अर्द्धांगिनी होने से 'द्वितीया' बनती है, गृहस्थधर्म का सह-आचरण करने से 'सहधर्मिणी' उसे कहा जाता है। वह कुटुम्ब का भरण करती है और उत्तमोत्तम पाक 'सिद्धान्न-सदन' में प्रस्तुत कर परिवार को पुष्टि प्रदान करने से 'भार्या'त्व को सार्थक करती है। यथासमय उसे सन्तान प्राप्ति होती है, तब उसे 'जाया' कहा जाता है और आगे बहुकुटुम्ब संस्था की अग्रजा होने से 'कुटुम्बिनी' पद को शोभित करती है*। इस रूप में नारी कुटुम्ब की एक ऐसी संस्था है जिसकी गरिमा सुप्रतिष्ठित है। आज के नये शब्दों में उसे 'वाइफ' कहा जाने लगा है और यदि मातृपद से नाम लिया

---

* 'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्मिणी ।
भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी ॥'—अमरकोष, द्वि. काण्ड

जाता है तो 'ममी' कहते हैं। 'ममी' शब्द 'मृतकमंजूषा' के लिए भी प्रयुक्त होता है और 'डेडी' में 'डेथ' के भाव हैं। 'वाइफ' में पतिप्रिया 'पत्नी' का भाव नहीं आता। सीता के समान वह बनवास दिये जाने पर किसी राम को 'अग्रतस्ते यमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्' (मैं तुम्हारे आगे-आगे पथ के काँटों को साफ करती हुई चलूँगी) नहीं कहेगी; क्योंकि वह 'पर्स' को प्यार करती है। वनभूमि के कण्टकाकुल 'फर्श' को नहीं। वह तो कहेगी 'विच्छेदाय गमिष्यामि न्यायालयमहं त्वरा' मैं तो तलाक़ के लिए न्यायालय जाऊँगी। उस प्रकार 'पति-पत्नी' जितने सुखी हो सकते हैं, एक-दूसरे पर अन्मान्त विश्वास कर सकते हैं, उतना 'वाइफ-हसबैंड' नहीं कर पाते। भारतीय नारी की शालीनता, सुन्दरता उसके अपने राष्ट्रीय वेष की परम्परा में है और उसका सम्मान माता, भगिनी तथा पत्नी नामों में है। शब्द भले ही पुद्गल-द्रव्य हों तथापि इनके पीछे जो परम्परा, निरुक्ति और आत्मीयता का माधुर्य मिश्रित होता है उसका स्थान शब्दान्तर नहीं ले सकते। पिता के आयी हुई दूसरी पत्नी तक यदि पूर्ववर्ती के पुत्रों का मातृत्व नहीं पा सकती तथा 'विमाता' ही कही जाती है तो वे शब्द जो सहस्रातिसहस्र वर्षों से इक्षुदण्ड में शर्करा के समान हमारे प्राणों में घुलमिलकर एकाकार हो गये हैं, किसी अभ्यागत को गृहपतित्व देने के समान आत्मीयता का अशेष कोष कैसे दे सकते हैं, उन शब्दों को, जो भारत की धूलि पर भारतीयों के पदसंचार के साथ नहीं लिखे गये हैं। 'पत्नी' शब्द में भारतभूमि का आध्यात्मिक सत्व मिला हुआ है जो 'वाइफ' या 'भोगिनी' में नहीं है। जिन्होंने भारत में नारीजाति की निन्दा की है वे भी उसके मित्र ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि उन्होंने स्त्री के स्त्रीत्व को, नारी के आत्मिक सौन्दर्य को मरने-मिटने नहीं दिया। जब आचार्य शुभचन्द्र 'ज्ञानार्णव' में लिखते हैं कि—'शास्त्रों के पारगामी एवं संसारभ्रमण से विरक्त, निःस्पृह, उपशमवित्त, ब्रह्मव्रती स्त्रियों की निन्दा करते हैं तो उनका यह आशय नहीं कि वे स्त्रियों के शत्रु हैं अपितु अपेक्षाभेद से, त्यागमार्ग में प्रवृत्त प्राणी की रागचेतना को परास्त करने के उद्देश्य से स्व-पर पर्याय-परिज्ञान के उद्बोध के लिए वे वैसा कहते हैं; किन्तु जो स्त्रियाँ यम-नियम-स्वाध्याय-शील-चारित्रादि से विभूषित हैं, वैराग्य उपशमादि से पवित्र हैं, और श्रमणी होकर नारीपर्याय के समुद्धार में लगी हुई हैं, उन्हें निन्दनीय नहीं बताया गया। मूलतः निन्दा दोषों की है, गुणों की नहीं।' तो यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा को स्वप्रतिष्ठ करने तथा परपर्यायों से उदासीन रखने के लिए निःसंगत्व के लिए ही 'स्तनौ मांसग्रन्थी वदनमपि लालागृहमिदम्'—इत्यादि लिखा गया है। यह उल्लेख सापेक्ष होने से क्षम्य है और संसार की असारता का निरूपक होने से वास्तविक भी*। विश्व में त्यागियों और दार्शनिकों को छोड़कर

---

* *'निर्विण्णैर्भवसंक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निःस्पृहै-*
र्नार्यो यद्यपि दूषिताः शमधनैर्ब्रह्मव्रतालंबिभिः ।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्तांकिता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवि ॥' —ज्ञानार्णव, १२। ५९,

सहस्रों लेखकों ने, कवियों तथा शृंगारपरायण रचनाकारों ने काव्य तथा शिल्प के माध्यम से स्त्री के अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया है किन्तु संसार के यावत् पदार्थों को राग तथा तद्भव बन्धन मानने वाले विराग-उपशमवृत्ति-प्रधान ज्ञानपथिकों ने आत्म-साधना के लिए नारी के मोहपाश में आबद्ध करने वाले अंगों की निन्दा की है[१]। यह उनके लिए समुचित ही है। मातृत्व से व्यतिरिक्त नारी का एक रूप 'मोहिनी' भी है और उसीके प्रति वीतराग भाव को उद्बुद्ध करने के लिए वैराग्य-शतक लिखने वाले अनेक भर्तृहरियों ने कलम उठायी है। इन्हें नारी-निन्दा के पद मानना शब्दशक्ति की असीम सीमा से अज्ञान प्रमाणित करना होगा; क्योंकि जिन आचार्यों ने नारी-निन्दा के छन्द लिखे हैं, उन्होंने उन्हीं छन्दों के साथ नारीविषयक श्रेष्ठ सूक्तियाँ भी लिखी हैं। उसके जननीत्व को सदा ही प्रशंसनीय कहा गया है और यौनस्वरूप को निन्दित। आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि 'विदुषी नारी स्त्रीजाति में अग्रगणनीय है[२]। इसी प्रकार 'हरिवंश पुराण' के एकादश सर्ग में जयकुमार और सुलोचना के कथाप्रसंग में सुलोचना को ग्यारह अंगों का धारण करने वाली आर्यिका बताया गया है[3]। प्रसिद्ध नीतिकाव्य 'क्षत्रचूडामणि' में पद्मा नामिका किसी मुख्य श्रमणी की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि उसने जीवन्धर नाम के राजा की माताओं को श्रमणी दीक्षा प्रदान की[४]। भगवान् की समवशरण-सभा में आर्यिकाओं का स्थान विशेष नियत होता है और उसमें क्रमशः 'ऋषिगण, स्वर्गवासिनी देवी, साध्वी, आर्यिका, ज्योतिषियों की देवी, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासी देवियाँ, भवन-वासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, स्वर्गवासी देव और मनुष्य तथा तिर्यंच विराज-मान होते हैं।[५] इस प्रकार नारीजाति के प्रति श्रमण विचारधारा में सम्मान के पर्याप्त भाव विद्यमान हैं। जो स्त्रियाँ व्रत, नियमादि ग्रहण कर पवित्र जीवन व्यतीत करती हैं उनके प्रति न केवल यहाँ उदार भाव ही हैं अपितु वे श्रमणीरूप से त्यागी चर्या का पालन करती हुई महाव्रतियों के प्रायः सदृश मान्यता प्राप्त करती रही हैं। उपचार से वे महाव्रतमती मानी गई हैं। सागारधर्मामृत का प्रमाण है कि 'एक कौपीनधारी ऐलक महाव्रती नहीं है; किन्तु दो खण्ड वस्त्र रखते हुए भी

---

१. *'नैसर्गिकं हि नारीणां चेतः सम्मोहि चेष्टितम् ।'* —क्षत्रचूड़ामणि, ८ । ४

२. *'विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः ।*
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥' —महापुराण, ९८.

३. *'द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी ।*
एकादशांगभृज्जाताऽर्यिकापि च सुलोचना ॥' —हरिवंशपुराण, ११। ५२.

४. *'पद्माख्या श्रमणीमुख्या विश्राण्य श्रमणीपदम् ।*
तन्मातृभ्यां ततस्तं च महीनाथमबोधयत् ॥' —क्षत्रचूड़ामणिः ११।१६.

५. *'ऋषिकल्पजवनितार्या ज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः ।*
ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसन्ति तेष्वनुपूर्वम् ॥'

आर्यिकाओं को महाव्रत-अधिकारिणी बताया गया है* । नारी के योग्य प्रशंसापदों की जैन-संस्कृति में न्यूनता नहीं है और न उन्हें विकास करने से निषेध किया गया है। आवश्यकता इस बात की अनुभव की गई है कि नारी सतीमार्ग पर प्रवर्तमान रहे। उसकी उपस्थिति गृह, समाज, धर्म और राष्ट्र के लिए सदुपकारिणी बने। ज्योतिषशास्त्र का एक पद है कि (पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनिजीवकुजादय:'— अर्थात् शनि, बृहस्पति, मंगल सभी सप्तम स्थान को देखते हैं और सप्तम स्थान 'स्त्री' भवन कहा जाता है; कुण्डली में जो ग्रह बैठते हैं वे सप्तम भवन अथवा स्त्री-भवन को देखते हैं; क्योंकि सारी पवित्रता स्त्री-भवन पर निर्भर है। यदि पुरुष भाग्य, सन्तान, ऐश्वर्य आदि सुखों में समृद्ध है; किन्तु यदि उसका स्त्री-भवन दुर्गत है तो जन्म-कुण्डली का आधा फलादेश निहत हो जाता है। इसलिए सारे ग्रह सप्तम पर दृष्टि रखते हैं। नारी की सुरक्षा के लिए भी समाज विशेष सतर्कता रखता आया है। इतिहास साक्षी है, इस सतर्कता ने नारीजाति को पतन से बचाया है और समाज तथा धर्म में सम्मानास्पद अर्पित किया है। □

---

* *'कौपीनेऽपि समर्च्छत्वान् नार्हत्यार्यो महाव्रतम् ।*
अपि भक्तममुर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति ॥' —सागार. ३६

निर्ग्रन्थ मुनि

रात्रिंदिव आत्ममनन करनेवाले को मुनि कहते हैं। यह संसार अनन्तानन्त जीवों से भरा हुआ है। जीव-निकाय अपने ही अनन्तानुबन्धन से उत्पन्न हो रहे हैं और लय (मृत्यु) होते जा रहे हैं। अनादिकाल से ऐसा होता चला आ रहा है और आगे अनन्तकाल तक ऐसा होता रहेगा। जीव के अपने कर्म नाना परपरिणतियों में उसे ले जाते हैं और वह कर्मरज्जु से आकृष्ट इस भव से उस भव तक चंक्रमण करता रहता है। इस भव-भवान्तर की जन्म-मृत्यु-गाथाओं में कण्टक में तीक्ष्णता के समान, विष में मारकत्व गुण के समान और पुष्प में सुरभि के समान नाना प्रकार के दुःख और सुख, कायक्लेश, पीड़ा, रोग, भय आदि अनुविद्ध होकर लगे हुए हैं। जन्मने की प्रक्रिया स्वयं में पाप और दुःखपूर्ण है। जिस जीवन का आरम्भ अशुभ-कर्म से उत्पन्न है, उसका मध्य और अन्त शुभ किंवा सुखद कैसे हो सकता है? इन्हीं विषम विषसदृश लोकवृत्तियों को देखते हुए भव्यात्मा जीव को विषय-वासनाओं से विराग हो जाता है। विराग से चिन्तन का उदय होता है और तत्त्वज्ञान-प्राप्ति से यह चिन्तन आत्मचिन्तन में परिवर्तित हो जाता है। आत्मचिन्तन से उसे स्व-पर विवेक प्राप्त होता है जिससे मोहक्षय होकर परमात्मपद प्राप्त होता है। जो लोग मोह को मित्र मानते हैं उनकी दृष्टि वास्तविक तथ्यों से अपरिचित होती है और वे पापमय अशुभ कर्मों को आनन्द मानते हुए नाना योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। यद्यपि जैसे-जैसे शरीर पक्वायु होता है और विषयवासनाओं में असमर्थ हो जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य चिन्तन के लिए विवश हो जाता है और शरीरभिन्न आत्मा के अस्तित्व को मानने लगता है तथापि उस अवसरहृत का ज्ञान उपयोगी नहीं हो पाता। अवसर पर किसी कार्य का शुभारम्भ कर देना उसकी सफलताओं को अधिगत करने का प्रथम संकेत है। कृषक अवसर पर खेत जोतते हैं और पक्व बालियों से धान्यराशि प्राप्त करते हैं। जब दूसरे किसान पकी हुई खेती पर दराँती चलाते हों, उस समय हल जोतनेवाला वृथाश्रमी नहीं तो क्या है? अतः तत्त्वचिन्तन के ये क्षण अपनी दैहिक, मानसिक और कायिक समुन्नत अवस्थाओं में ही उपलब्ध किये जाएं तो लाभदायी हो सकते हैं। इसी विचार से त्याग को परमसुख तथा भवागमन-निर्गमन शृंखला का समापक मानने वाले कर्मक्षयार्थ मुनिव्रत धारण करते हैं। मुनित्व ग्रहण करना संसारबीज को दग्ध करना है। मुनिचर्या के लिए विहित धर्मानुशासन इतने समर्थ और संशयोच्छेदी हैं कि मुक्तिपरिणाम करामलकवत् भासित होने लगता है। मुनि का विशेषण सम्पत्तिमान्, पुत्रवान् या छत्रचामरविभूतिमान् नहीं है अपितु निर्ग्रन्थ है। 'ग्रन्थ' शब्द संचयार्थक है, परिग्रहवाचक है। यह संसार परिग्रह का नामान्तर है। विश्व के यावत् भौतिक पदार्थ परिग्रह हैं; अतः परिग्रहों की सीमा

नहीं है। इन परिग्रहों से व्यामोह बढ़ता है, अहंकार का उदय होता है, मनुष्य मूर्च्छावस्था में जीवित रहता हुआ भी अपने-आपको सुखी मान बैठता है। तथापि रातदिन उन परिग्रहों से, उनके संवर्धन, रक्षण और नियोजन की दुश्चिन्ता से वह सुख की नींद तक नहीं ले पाता। आर्त और रौद्र ध्यान सम्पत्ति के आवश्यक परिणाम हैं। किसी नीतिकार ने कहा है कि–'धनादि के उपार्जन में बहुत कष्ट होता है, उपार्जन कर लेने पर रातदिन उनकी गोपनीयता (सुरक्षा) की चिन्ता घेरे रहती है। यदि वह अर्थ व्यय करना पड़ता है, खो जाता है तो महान् कष्ट होता है और उपार्जन-रक्षण-व्यय सभी अवस्थाओं में उद्विग्नता, दुश्चिन्ता, आशंका और नाश का भय, चौरभीति बने रहते हैं। इस प्रकार अनर्थमूलक अर्थों को धिक्कार है'।[१] संसार में जितने अधिक धनाढ्य हैं उनकी मोहराशि उतनी बड़ी है। व्यस्तता का यह हाल है कि न भोजन का अवकाश है और न विश्राम का क्षण। अहोरात्र बढ़ते हुए अर्थभार के नीचे कछुए का चाम ओढ़े पिसते रहते हैं और एक मुट्ठी अन्न एवं शरीरप्रमाण भूमिशयन के लिए नाना कष्टपरम्पराओं को आमंत्रण देते रहते हैं। इसीको सम्यग्ज्ञानियों ने मिथ्यात्व तथा परपरिणति कहा है। 'पर को अपना मान बैठा निज को पहचाना नहीं'–धनादि के लिए अपार कष्टपरम्परा को प्रतिदिन अधिकाधिक सहन करना और समृद्ध होती हुई भौतिक विपुलता से आनन्द मानना मिथ्यात्व से उपार्जित कर्मशक्ति का चमत्कार है। 'परमात्मप्रकाश' का कथन है कि–'ये कर्म दृढ़ हैं, घने चिकने हैं, भारी हैं और वज्र समान हैं। सामान्य जनों की तो बात ही क्या? ये ज्ञानविचक्षण जीव को भी उन्मार्ग-पतित कर देते हैं।[२] इस मिथ्यात्व से परिवारित जीव विपरीत श्रद्धान करने लगता है और अपने कर्मों से रचे गये शरीर, वित्त, दारा, पुत्र, भवन, पशु, दास-दासी आदि परभावों को अपना कहता है[3]। यह स्थिति बन्धनमयी है। कर्मरज्जुओं को बल देकर अधिक दृढ़ करने वाली है। इसे मूर्च्छा कहते हैं, परिग्रह कहकर पुकारते हैं और ग्रन्थ, ग्रन्थि या गाँठ बताते हैं। मुनि, जो मिथ्यात्वगज पर सिंहपाद (सम्यक्त्व सिंहपाद) रखते हैं, यदि ग्रन्थियों से विभूतिमान् हों तो उन्हें भी परपरिणतिपरायण मानना पड़ेगा और तब मुनित्व नाम से एक अन्य द्रव्यलिंग की स्थापना अहैतुकी, निष्प्रयोजन होगी। इसीलिए मुनि को 'निर्ग्रन्थ' विशेषण दिया गया। दीक्षा समय में मुनिव्रती सर्वथा नग्न, दिगम्बर होकर अपनी परिग्रहशून्यता का परिचय देते हैं। न आन्तरिक विषय-कषाय ग्रन्थि रखते हैं और न बाह्य वस्त्रादि रखते हैं। वे इन्द्रियसंयम तथा प्राणसंयम के

---

१. *'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।*
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान् ॥' –नीति.

२. *'कम्मइँ दिढ घणचिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ ।*
णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइँ ॥'–१। ७८

३. *'जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।*
कम्म विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥'–१। ७९.

बल से शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होकर कर्म-निर्मूलन करते हैं। दिगम्बरत्व को अत्यन्त क्लिष्ट माननेवालों का अभिमत है कि 'भावैः शुद्धैः मनः शुद्धम्'— मनःशुद्धि भावशुद्धि पर आलम्बित है और विशुद्ध चारित्र भावों पर निर्भर है अतः दिगम्बरत्व अनिवार्य नहीं; किन्तु ऐसा कहना आगमविरुद्ध एवं युक्तिरहित होने से अमान्य है। 'मूलाराधना' का अभिप्राय है कि 'बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः'— बाहरी वस्त्रादि परिग्रह मात्र का त्याग आन्तरिक त्याग का मूल है। जबतक चावल के कणों पर छिलका विद्यमान है तब तक वह ओदनोपयोगी नहीं हो सकता। उसे उपयोगी बनाने के लिए उलूखल में कूटकर शूर्प से निस्तुषकर निःशुल्क करना होता है। छिलका उसके आभ्यन्तर परिपाक का प्रतिबन्धक है और वस्त्रादि का धारण करना मुनित्व के सर्वथा निःसंग का प्रतिपक्षी है। दिगम्बर मुनि संसार बीज का नाश करने के लिए दिगम्बर मुद्रा धारण करते हैं और अपने ज्ञान-ध्यान से भवबीज के अंकुरण को सर्वथा निःशेष कर देते हैं। वैसे जिन चावलों को भून दिया जाता है उनका छिलका जलकर स्वतः भी अलग हो जाता है। दिगम्बरत्व द्वारा उसी क्षपितभवबीज की निस्तुष स्थिति का परिचय निर्ग्रन्थव्रती देते हैं। 'नहि सतुषस्य तण्डुलस्य शोधः शक्यः'—तुषसहित तण्डुल का शोधना शक्य नहीं। वस्त्रत्याग के पश्चात् ही परिणाम अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। मूलाराधना की टीका के ७४ वें पृष्ठ पर लिखा है कि 'संग का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण, तथा मन एवं इन्द्रियों पर विजय ये ध्यानजन्मा मुनि की सामग्री हैं*। कहो तो यही उसका परिग्रह है।

दिगम्बर मुनिचर्या सुलभ नहीं है। यह महाव्रती का जीवन है। बाहरी पदविक्षेप को सँभालकर चलते हुए जहाँ चींटी का भी ध्यान रखना आवश्यक है वहाँ आभ्यन्तर आत्मप्रदेश को कर्मबन्ध से नितान्त विमुक्त रखना परम आवश्यक है। यदि विषयकषायों से रंजित अणुभाग भी मुनिमन में उदीर्ण होता है तो वह कर्म-बन्ध उत्पन्न करता है। इसलिए मुनि सदैव अप्रमत्त रहते हैं। उनको दिये गये विशेषण काव्यमय अतिशयोक्ति अथवा केवल प्रशंसापरक नहीं कहे जा सकते। वे वस्तुतः उन गुणों का अहर्निश पालन करते हैं और अतिचार को क्षम्य नहीं मानते। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह उनके महाव्रत हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदाननिक्षेपण—पंच समितियाँ हैं। स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र-निरोध करना पंचेन्द्रियनिरोध है। सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—दैनिक षडावश्यक क्रियाएँ हैं और केशलुंचन, अचैलक्य, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन तथा एकाहार ये प्रकीर्णगुण मिलाकर अष्टाविंश मूलगुण होते हैं जिनका पालन निर्ग्रन्थ मुनि करते हैं। सर्वसावद्यविरत, परहितनिरत, सर्व-

---

* *'संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।*
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ॥'—मूलाराधना टीका, पृष्ठ-७४.

स्वत्यागी, परत्वविरागी, मोहममताजयी, कामविजयी, तपस्त्यागसंयमादर्श, विश्ववन्द्य इत्यादि विशेषण उनके स्वरूप के वास्तविक अलंकरण हैं। मुनि मन, वचन और काय के त्रियोग का सदा ध्यान रखते हैं। मन और वचन को भिन्न-भिन्न रखते हुए भाषण नहीं करते। उनका वचन उनके मन और काय के एकत्व से परामृष्ट है। यदि मन कुछ और कहता है तथा वाणी पर कुछ अन्य शब्द उच्चारित हैं तो यह भी असत्य भाषण होगा अतः त्रियोग सँभालकर ही वे महाव्रतों का पालन करने में अप्रमत्त रहते हैं। इसी आशय को व्यक्त करते हुए नीति में कहा गया है—'मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्'—जो महान् आत्मा हैं उनके मन में, वचन में तथा कर्म में एकवाक्यता होती है। संसार का प्रत्येक श्रेयोमार्गी, अभ्युदयाकांक्षी इस त्रिकरण-शुद्धि का समन्वित प्रयोग करे, इसे मुनि अपने चारित्र से शिक्षण देते हैं। दिगम्बर-वेष आकिंचन्य की पराकाष्ठा है और अहिंसा की आधारशिला है। कषाय और वासना से हिंसक परिणति होती है तथा अकिंचनत्व न स्वीकारने पर भी अहंकार का उदय होकर अहिंसाधर्म की उच्चकोटि की परिपालना में विक्षेप उत्पन्न हो सकता है। इस हेतु से निर्ग्रन्थवेष वास्तव में अपने-आप में सर्वथा निराकुलत्व प्राप्ति का उपाय है। इसीलिए इसे निर्वाणमुद्रा कहते हैं। दक्षिण भारत में अचेलक मुनि को निर्वाणस्वामी कहते हैं। आगमों में भी 'मुक्तिश्रीवल्लभ' जिनेन्द्रों का विशेषण है। बन्धनों के अत्यन्त त्याग का परिणाम ही मोक्ष है। वह अत्यन्त त्याग बाह्य उपकरणों के हानि मात्र से नहीं सिद्ध होता। उसके लिए अन्तःपरिग्रहों का छोड़ना परमावश्यक है। श्रमणसंस्कृति में अस्नान, स्थितिभोजन, भूमिशयन, केशलोंच इत्यादि गुणसन्दर्भों से यह स्पष्ट सूचना दी गई है कि मुनि शरीर को भी परिग्रह समझें और उपेक्षा रखकर इसके शृङ्गार-संस्कार का सर्वथा परित्याग करें। यह वेष विश्व में केवल श्रमणों का है और मोक्ष गमन के विषय में उनकी इस परपदार्थरतिविच्छेदक स्थापना के औचित्य से निषेध नहीं किया जा सकता। किसीने कहा है कि तिलों में तैल है, दधि में घृत है और इक्षु-काण्ड में शर्करा है; किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए उनका निष्पीडन, मन्थन आवश्यक है। वैसे ही इस देह में आत्मा है और तप-त्याग-संयम से उसे प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रदर्शित मार्ग से चलते हुए जो संयम का पालन करते हैं वे ही सच्चे श्रमण हैं। असंयमी कभी श्रमण नहीं हो सकता[1]। आचार्यों का ऐसा विश्वास है कि कदाचित दैवयोग से अचल कहे जानेवाले पर्वत चलायमान हो जाएँ किन्तु कामिनी-कंचनसहित सम्पूर्ण परवस्तुओं का त्याग करनेवाले मुनि का साम्यप्रतिष्ठित मन चलायमान नहीं होता।[2] वस्तुतः मन के चांचल्य को समाप्त करने के लिए, मोहध्वान्तनिशा को निरस्त करने के लिए तथा आत्मप्राप्ति के लिए मुनि होना आवश्यक है। मुनि होना, अर्थात्

---

१. *'आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स—*
णत्थीति भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥'—प्रवचनसार, ३६.

२. *'चलत्यचलमालेयं कदाचिद् दैवयोगतः ।*
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥'—ज्ञानार्णव, २४ । ३०.

महाव्रती होना, अर्थात् मूलगुण पालन करना और अशेष कर्मों का क्षय कर अनन्त आत्मसुख प्राप्त करना। गृहस्थ भी मोहरहित हो सकता है; किन्तु जबतक व्रतपालन की शपथ न ली जाए तबतक कालविशेष में व्रतविहीन मानसिक अतिचार या व्यवहारतः धर्ममर्यादा उल्लंघन कर सकता है, किन्तु जिसने व्रतों को ग्रहण कर लिया वह सल्लेखना से अपने प्राणविसर्जन तो कर सकता है किन्तु प्राणों के निमित्त व्रतभंग नहीं करता। यही दृढ़ आस्था मुनित्व की आधारभूमि है। अव्रती का चित्त मोह-भूमियों में परिभ्रमण करता रहता है; क्योंकि उसने निषेध लिया नहीं है और मन महान् बलवान् है। जैसे प्रचण्ड आँधी बड़े-बड़े वृक्षों को समूल उखाड़ फेंकती है उसी प्रकार मन ज्ञान और वैराग्य को क्षण में ध्वस्त कर देता है। विमल स्वभाव आत्मा पर मलिनता उद्भावक मन ही है। इस दृष्टि से भी मनोनियंत्रण करनेवाले मुनिव्रत लेते हैं। महर्षि पुष्पदन्त ने कहा है कि अपने कर्मों का क्षय करने के लिए दीक्षा ली जाती है। कुछ व्यक्ति पुण्यों का संवर्धन करने के लिए और कुछ संसार से मुक्त होने के लिए दीक्षा लेते हैं*। इस प्रकार कर्म क्षय करने, पुण्यसंचित करने अथवा मोक्षरूप सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा रखनेवाले मुनिदीक्षा लेते हैं। कर्मरज्जु को काटने के लिए मुनिव्रतरूपिणी तीक्ष्ण असिधारा ही समर्थ है। संसार-मग्न व्यक्ति कर्मविस्तार ही करता रहता है और क्षणिक सुखावाप्ति के लिए दीर्घ-कालीन अनर्थों की परम्परा प्रसूत करनेवाले मिथ्यात्व में फँसा रहता है। मानो काक उड़ाने के लिए अमूल्य मणि को फेंकता है; यह मिथ्यात्व सम्यग्ज्ञान के अभाव में अप्रतीत रहता है। जैसे मृगतृष्णा का ज्ञान होने से पूर्व मृग उसे जलाशय मानकर उसी ओर बढ़ता रहता है उसी प्रकार मनुष्य यथार्थ ज्ञान के अभाव में मोह-मरुस्थल को चिन्तामणिभूमि मानता रहता है; किन्तु बालू में मुंह मारने से जैसे मृग को पानी नहीं मिलता वैसे जन्मभर मिथ्यात्व से संगति करने वाले को सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्त्व की प्राप्ति से आत्मा नेत्रवान् हो जाता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह त्रिसम्यक्त्व ही मिथ्यात्व विनाशक हैं। इन्हें त्रिरत्न कहते हैं। ये तीन रत्न संसार भर के रत्नों की मूल्य सम्पदा से विशिष्ट हैं। मुनि इन तीन रत्नों को धारण करते हैं। त्रिरत्नकुशल होना मुनिपद की शोभा है। चाहे विश्व-विप्लव हो जाए, भूकम्प उठे और ज्वालामुखी दीर्ण हो जाएँ, मुनि अपने त्रिरत्नों की रक्षा करेंगे। यदि उनके सम्यग्-ज्ञानचारित्रदर्शन अविपन्न हैं तो उन्हें परपदार्थों के म्लान होने या विकास प्राप्त करने से कोई हर्ष-विषाद नहीं। यह मुनिव्रत पुरुषार्थ मार्ग का समर्थक है। स्वयं मुनि परमपुरुषार्थ करने के लिए ही निर्ग्रन्थ होते हैं। श्रमणसंस्कृति के मत से कर्मफल का भोक्ता कर्ता ही है। दूसरा दूसरे के लिए कर्म का फलभोगी नहीं। जो पानी पियेगा उसकी तृषा शान्त होगी। जो अंगारों पर चलेगा उसी का पांव जलेगा। यदि देवदत्त का नाम लेकर यज्ञदत्त अंगारों पर चरण धर दे तो क्या देवदत्त का पाँव जलेगा? इसी प्रकार शुभ-

* *'दीक्षां गृह्णन्ति मनुजाः स्वकर्महरणाय च।*
स्वपुण्यवृद्धये केचित् संसृतिमुक्तये॥'–पुष्पदन्त.

अशुभ कर्म करने वाला ही उस-उसका परिणामभागी बनता है।। सम्यक् चारित्र पालन करना परमपुरुषार्थ करना है। इस मार्ग की प्राप्ति भगवान् के चरणद्वन्द्व के कृपाप्रसाद की प्राप्ति बिना नहीं होती। 'शान्तिभक्ति' का नित्यपाठ करने-वालों को विदित है कि 'अव्याबाध, अनुपम, अचिंत्य तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति तीर्थंकर परमदेव की चरणयुगलभक्ति से ही प्राप्त की जा सकती है।[1] जबतक भगवान् के चरणों का कृपाप्रसाद नहीं मिलता तबतक जीवनिकाय के पापों का अन्त नहीं और शुभ की प्राप्ति नहीं।[2] जबतक मनुष्य असातावेदनीय कर्म से आकीर्ण रहता है तबतक वह सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन उन्मीलित होकर भी सम्यक्चारित्रमार्ग पर नहीं चल पाता। कोई अपुण्य उसका प्रतिबन्धक बना रहता है। जैसे शीतऋतु में सूर्य के उदय होने पर भी कमलवन खिल नहीं पाते, क्योंकि उनके पत्तों पर हिम जमा रहता है। वह हिम सूर्यालोक प्राप्ति पर भी प्रतिबन्धक अपुण्य के समान होकर उसके विकास को रोकता है। तभी लोक में सम्यक्चारित्रमार्गी स्वल्प हैं। सम्यक्चारित्रवान् के विषय में 'योग-सार' का निर्वचन है कि—'हे जीव ! जब मन निर्ग्रन्थ हो जाता है तब ही तुम भी वास्तविक निर्ग्रन्थ होते हो और जैसे ही तुमने निर्ग्रन्थत्व प्राप्त किया वैसे ही शिवमार्ग (मुक्तिपथ) प्राप्त हो जाएगा।[3] तुम्हें सदा अपने को जिनेन्द्र से एकीभाव भाना चाहिए। जो जिन हैं, वही तू है, यही भावना मोक्षदायिनी है और कोई तन्त्र, मंत्र मोक्षकारण नहीं हैं। शुभ और अशुभ लोहमय एवं सुवर्णमय शृङ्खलाएँ हैं, ज्ञानियों के लिए दोनों का त्याग विहित है।[4] राग और द्वेष इन दो का परित्याग करते हुए जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन दो गुणों को स्वीकारता है तथा अपने आत्मा में निमग्न रहता है, भगवान् जिनेन्द्र का वचन है कि वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।[5] इस निर्वाण-पथ का पथिक साधु विषयों से दूर, आशाओं से अजान, आरम्भपरित्यागी, परिग्रहवर्जित और मात्र अपने ज्ञानध्यान में निमग्न रहता है।[6] उसका मन प्रासादों में, श्मशान में, स्तुति में, निन्दा में, पंक में, केसर-कुंकुम में, पलंग और कण्टक में, पत्थर तथा मणि (इन्दु-

---

१. *'अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं*
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव सम्प्राप्यते ।।'—शान्तिभक्तिः ६.

२. *'यावत्वच्चरणद्वयस्य भगवन् ! न स्यात् प्रसादोदयः*
तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पापं महत् ।।'—शान्तिभक्तिः ७

३-४. *'यदा मनो निर्ग्रन्थो जीव ! तदा त्वं निर्ग्रन्थः ।*
यदा त्वं निर्ग्रन्थो जीव ! ततो लभ्यते शिवपन्थाः ।।
'यो जिनः सोऽहं स एवाहं' एतद् भावय निर्भ्रान्तम् ।
मोक्षस्य कारणं योगिन् ! अन्यो न तंत्रो न मंत्रः ।।'—योगसार, ७३। ७५.

५. *'द्वौ त्यक्त्वा द्विगुणसहितो य आत्मनि वसति ।*
जिनः स्वामी एवं भणति लघु निर्वाणं लभते ।।'—योगसार, ७७.

६. *'विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।*
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ।।'—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, १०.

कान्तमणि) में, चर्म और चीनांशुक में, विकृतांग एवं सुन्दर नारी में किसी भी सुन्दर-असुन्दर में आकर्षण-विकर्षण अनुभव नहीं करता और साम्य में प्रतिष्ठित रहकर आत्म-लीन रहता है [1]। यह आत्मरति ही मनुष्य की स्वपरिणति है। कहते हैं, स्पर्शमणि से लोहा भी सुवर्ण हो जाता है किन्तु स्पर्शमणि तथा लोहे के बीच कागज का पतला व्यवधान हो तो वह सुवर्ण नहीं हो सकता। आत्मा के साथ भी यदि सूक्ष्म, अणु-भाग भी कर्म शेष हो तो उसे शिवपद प्राप्ति नहीं होती। ऋणशेष और व्याधिशेष के समान कर्मशेष भी मोक्षप्रतिबन्धक है। अग्नि को सम्पूर्ण रूप से बुझाना चाहिए। यदि एक छोटी चिनगारी भी शेष रह गई तो बढ़कर अप्रशमनीय बन जाएगी। यह लौकिकी तृष्णा भी यदि सूची के अग्रभाग पर बैठने जितनी शेष रह जाती है तो कालान्तर में फैलकर समुद्रान्त पृथ्वी-परिधि को घेर लेती है। अतः निःशेषक्षय करने पर ही शिवपद गमन किया जा सकता है। बाहुबली कठोर तपश्चर्या कर रहे थे किन्तु पदनखाग्र पृथ्वी पर टिका हुआ था और वह सोच रहे थे—मैं भरतचक्रवर्ती की भूमि पर खड़ा हूँ। जबतक उन्हें यह भान रहा वह मोक्ष नहीं पा सके। शल्य का अंश भी नहीं रखते हुए त्यागी अपने महाव्रतों का पालन करते हैं। आत्महित साधन करना उनके लिए सर्वोपरि है।[2] 'अन्धवत् पश्य रूपाणि शृणु शब्दमकर्णवत्' कि अन्धे के समान रूप की दुनिया को देखो तथा बधिर के समान शब्दों (नारीनूपुरध्वनि आदि) को सुनो—यह उक्ति सम्भवतः त्यागमार्ग पर संचरण करनेवालों को लक्ष्य में रखकर बनायी गई है। और यह तो संसारधर्मा मनुष्य भी अपने अनुभवों से जानते हैं कि कामनाओं के उपभोग से कामनाओं की शान्ति नहीं होती। जैसे जेब का पैसा खर्च देने से वह समाप्त हो जाता है वैसे कामनाएँ खर्ची नहीं जा सकतीं, वे तो भोगने पर अधिक-अधिक बढ़ती हैं। जैसे कोई घृतधारा से अग्नि को शान्त नहीं कर सकता वैसे कामनाओं की पूर्ति से कामनाओं को दग्ध (निःशेष) नहीं किया जा सकता [3]। अभ्यास, तीव्र वैराग्य और पंचेन्द्रिय संयमपूर्वक व्रत, उपवास, तत्त्वचिंतन आदि से ही वासनाओं का क्षय किया जा सकता है। अभ्यास करते रहने से दृढ़ता आती है। मल्ल दण्ड-बैठकों से नित्य अभ्यास करते हुए अपने अंगों को दृढ़ करते हैं और योगी द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन कर वैराग्य का अभ्यास स्थिर करते हैं। उनके त्यागमय जीवन को

---

१. *'सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा*
पल्यंके कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णांगे दिव्यनार्यामसमशमवशाद् यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम्॥' —ज्ञानार्णव, २४।२९.

२. *'आदिहिदं कादव्वं जदि सक्कइ परहिदं च कादव्वम्।*
आदिहिदपरहिदादो आदि हिदं सुट्ठु कादव्वम्॥'

३. *'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।*
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'

देखकर भर्तृहरि ने लिखा है कि वे धन्य हैं, जिन्होंने हाथों को पात्र बना लिया है, चरणों को वाहन, भिक्षावृत्ति को अन्नपूर्ति, दिशाओं को वस्त्र, पृथ्वी को शैया मान लिया है। जो अपने आत्मा में ही निमग्न हैं और सम्पूर्ण दैन्यजनकपरिणतियों से संन्यास लेकर अपने कर्मों का निर्मूलन करते हैं।[१] उपसर्गों पर विजय पाना, परीषहों को सहन करना, अपकारी पर भी क्रोध न करना, स्तुतिकर्ता को विशेष अनुराग की, स्नेह की भावना न देना—ये साधु के सहज स्वभाव हैं। किसी ने कहा है—कोई व्यक्ति मुनिमहाराज को पारिजात के पुष्पों से पूजता है और कोई नग्न क्षपणक कहकर क्रोध करता है, गले में सर्प डाल देता है और डंडा लेकर मारने-पीटने लगता है; किन्तु उन उपकारक और अपकारक पर जिसकी तुल्यवृत्ति होती है, वही योगी है। वही योगी परमज्ञानी है, समताभावी है[२]। जब राजा श्रेणिक ने दिगम्बर मुनि के गले में मृत सर्प डाल दिया और तीन दिन बाद रानी चेलना ने श्रेणिक सहित आकर उस सर्प को निकाला तब उपसर्गमुक्त मुनि-महाराज ने कहा—'युवयोर्धर्मवृद्धिरस्तु'—तुम दोनों की धर्मवृद्धि हो। यह सुनकर श्रेणिक को ज्ञान हुआ कि मुनि परम समभावी हैं। न तो उन्होंने चेलना को विशेष आशीर्वाद दिया और न मुझे अभिशाप दिया। दोनों को एक साथ 'युवयोः' कहकर धर्मवृद्धि दी। यह समत्व ही मुनियों का भूषण है। यदि यह समत्व उन्हें प्राप्त नहीं हुआ तो वेष वास्तविक नहीं कहा जा सकेगा। केशों का लुंचन, वस्त्र का त्याग और साधु का नेपथ्य आभ्यन्तर शुद्धि के बिना अपूर्ण है। परमात्मप्रकाश का यही अभिमत है[3]। शास्त्रस्वाध्याय तथा जिनभक्ति में लगा हुआ साधु प्रशस्य है।

निर्ग्रन्थ होने की इच्छा रखनेवाले त्यागी को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की भूमि पर ही त्याग की स्थापना होती है। राग को निःशेष करना तथा त्याग को ग्रहण करना इस मार्ग का प्रथम पद है। ब्रह्मचर्यावस्था में शास्त्रों का स्वाध्याय तथा गुरुमुख से अध्ययन कर अपने को आगम का जानकार बनाना तथा आचार्य, मुनि-संघ में रहकर समीप से त्यागमय जीवन की चर्या का अध्ययन करना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचारी होने के पश्चात् उसे क्षुल्लक और तदनन्तर ऐलक दीक्षा दी

---

१. *'पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं*
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति।''—वैराग्यशतक., ५७

२. *'एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः*
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम्॥'—ज्ञानार्णव, २७.

३. *'केण वि अप्पउ वंचियउ सिस लुंचिवि छारेण।*
सयल वि संगं ण परिहरिय जिणवरलिंगधरेण॥' —परमात्मप्रकाश, ९०

जाती है। ये सभी अवस्थाएँ स्नातकोत्तर परीक्षा की पूर्वावस्थाएँ हैं। इस समय में उत्तरोत्तर आहार, पान, परिधान, परिग्रह का संयमाभ्यास करते हुए जब मुमुक्षु भव्य अपने आप में निराकुलता, शान्ति, वैराग्य और समता अनुभव करे, संसार विषयों से हेय-उपादानविज्ञान चक्षु द्वारा पूर्ण विरक्त हो जाए, तब सर्वथा मुनिव्रत पालनार्थ 'निर्ग्रन्थ' मुद्राधारण का उपक्रम करें* । जिसे मुनि दीक्षा दी जानेवाली हो, वह या तो अनेक वर्षों से संघ में रहता हुआ ब्रह्मचर्य, क्षुल्लक तथा ऐलक दीक्षाओं का पालन किया हुआ, सुपरीक्षित पात्र होता है या कोई भव्यात्मा गृहस्थ तरुण अथवा जराजीर्ण भी हो सकता है। दीक्षापात्र के विषय में दीक्षा से पूर्व आचार्य किंवा गुरु को सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। यह वह सर्वथा निर्दोष हो तो चतु:संघ के समक्ष उसे दीक्षाविधि द्वारा निर्ग्रन्थ-श्रामण्य प्रदान करना चाहिए। इसके पूर्व दीक्षाग्रहीता को चाहिए कि वह अपने संसारावस्था के कुटुम्ब परिवार से अनुमति प्राप्त करे। पत्नी, माता, पिता, पुत्र-पुत्री और अन्य प्रष्टव्यजनों से पूछे। यदि उन्हें उसके मुनि होने पर आपत्ति हो, आर्थिक संकट या अन्य विपत्तियों की आशंका हो तो स्नेह-वात्सल्यपूर्वक उन परिस्थितियों का समाधान करे और इसके पश्चात् सबके अविरोध से दीक्षायाचना के लिए गुरु के समक्ष उपस्थित हो। गुरु को भी चाहिए कि वह अपनी ओर से दीक्षार्थी के विषय में अभिज्ञता प्राप्त करे। यदि वह आठ वर्ष से न्यून वय का बालक हो, अशक्त वृद्ध हो, नपुंसक हो, विकलांग, जड़, रोगी, चोर, राजापराधी, उन्मत्त, अन्ध, दास, दुष्ट, मूढ़, ऋणपीड़ित, कारावास पाया हुआ, कहीं से पलायन कर आया हुआ तथा अन्य इस प्रकार के सापराध आचरणों से युक्त हो तो उसे मुनिदीक्षा नहीं देनी चाहिए; क्योंकि जो स्वयं दोषविद्ध है वह धर्मप्रभावना के निर्दोष मार्ग पर चलने का अधिकार नहीं रखता। 'तेऽपि न दीक्षार्हा, लोके अवर्णवादसम्भवात्'—लोक में निन्दावाद फैलेगा अत: निन्दा-प्राप्तों को पूज्य मुनिपद नहीं दिया जा सकता। किन्तु जो लोक में प्रशस्य रहा हो, इन्द्रिय-संयमी हो, कुल से, रूप से, वय से, गुणों से योग्य हो, मनोज्ञ हो, विद्वान्, शास्त्रवेदी तथा सम्यक्चारित्र पालन में समर्थ हो वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य—इन पंच आचारों से युक्त आचार्य महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें सविनय निवेदन करे कि 'हे भगवन्! आप मुझे श्रामण्य प्रदान करें। तब आचार्य उसे शुभ मुहूर्त देखकर, स्थिर लग्न में यथाशास्त्र दिगम्बरत्व प्रदान करते हैं। आचारसार में वर्णन है कि दीक्षार्थी को जब श्रामण्य-प्राप्ति की स्वीकृति गुरुदेव प्रदान कर देते हैं तो उसकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। स्वीकृतिमात्र से वह अमृतपान किया हुआ-सा हो जाता है। मद-झरते गजेन्द्र के समान प्रसन्न हो जाता है। बाह्य और अन्तरंग के संगमात्र को किसी प्रशस्त् मुहूर्त में सदा सर्वदा के लिए विदा दे देता है। इस दीक्षा से दीक्षित के पशुबन्धन

---

* *'प्रथमं ब्रह्मचारी संधार्यानन्तरं क्षुल्लकदीक्षाम्।*
ऐलकदीक्षां धृत्वाऽनन्तरमपि वर्ततेऽत्र निर्ग्रन्थ: ॥'

क्षीण हो जाते हैं और ज्ञान का सदभाव होता है। मानो, इसी आशय को प्रकट करने के लिए दीक्षा में 'दी—क्षा' ये दो शब्द रखे गये हैं। तत्त्वार्तिककार ने ऐसा लिखा है। इसका आशय यही है कि शुभ के उदय से दीक्षा की स्थिति किसी के जीवन में लभ्य होती है। कोई निर्विघ्न दीक्षाधारी हुआ है इससे यह सूचना मिलती है कि वह पुण्यवान है। बिना सुकृत के भगवान जिनेन्द्र की मुद्रा लोक में अतिदुर्लभ है। 'अन्यैव गतिरश्वस्य गतिरन्यैव दन्तिनः'—अश्व की चाल भिन्न होती है और गजराज की चाल भिन्न होती है। जिनके सुकृत फलते हैं उन्हें तीर्थंकर प्रकृतिबन्ध होता है और जिनके कर्मबन्ध अशुभ परिणामी होते हैं वे हेमसेन के समान ककड़ी में कृमि भी हो जाते हैं। इस मुनि-दीक्षा के अनन्तर व्यक्ति महनीयचरित कोटि में आ जाता है। उसकी चर्या को लोग उसी प्रकार देखते हैं जैसे उत्फुल्ल कमल सूर्यकिरणों को। दिगम्बर मुनि का सम्पूर्ण जीवन अपरोक्ष होता है। कोई गोपनीयता नहीं होती। किसी वाहन पर वे यात्रा नहीं करते, मात्र पदविहार करते हैं और इसमें भी देशव्रत रखते हैं तथा चाहे जहाँ, चाहे जितनी दूर बिना प्रयोजन नहीं चलते। एक समय अंजलि में आहार-जल लेते हैं। 'अन्तराय' होने पर हर्ष-शोक नहीं करते। धर्मप्रभावना करने के लिए शास्त्रप्रवचन करते हैं। निःसंगव्रत को चरितार्थ करने के लिए एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं रहते। वर्षाकाल में कृमि-कीट, नदी-नाले और दुर्दिनों की परिस्थिति से एक स्थान पर रहने की शास्त्रानुमति है। 'वर्षायोग' साधते हुए मुनि धर्मध्यान करते हैं, श्रावकों को प्रवचन देते हैं और भगवान् जिनेन्द्र के शासन को प्रभावशील करने के लिए लोकसम्पर्क रखते हैं। क्षत्रचूडामणिकार ने जीवों को भवसन्तरण का मार्ग बताते हुए श्रमणसंस्कृति के हेयोपादेय विज्ञान का निष्कर्ष एक पंक्ति में रख दिया है। लिखते हैं—'जैनीं दीक्षामुपादत्त यस्यां कायेऽपि हेयता'—(१०/२) उस जिनेन्द्र भगवान के धर्म में दीक्षित बनो, जिसमें काय को भी परद्रव्य अतएव हेय बताया है। वस्तुतः अच्छे-अच्छे पंच पक्वान्न, दिन में अनेक बार जो खाते हैं और इस पर भी अपने को साधु, त्यागी, संन्यासी कहने का दर्प करते हैं वे कायपुष्ट जीव देहासक्त होने से मोक्षमार्गी हो सकेंगे क्या? बहुत लोग देह को अन्नकीट बनाये हुए हैं और रात-दिन खाये चले जा रहे हैं और बहुत-से देह को शृंगार-प्रसाधन की दूकान बनाये हुए हैं। सारे शरीर पर पाउडर, स्नो, क्रीम, वेसलिन, तैल, नाना प्रकार के रंग-रोगन और जाने क्या-क्या लगाकर उसे आकर्षक करने के प्रयत्नों में धन और समय का नाश करते हैं। प्रतिदिन, प्रतिक्षण, अन्दर और बाहर से क्षुधित ये संसारमग्न जीव खट्टी डकारें आने पर भी खाये जा रहे हैं और प्यास न होने पर भी तृष्णा को पिये जा रहे हैं। ऐसे समय में अन्नसंयम की धीरता का जीवनपर्यन्त परिचय देनेवाले श्रमणमुनि धन्य हैं। वे काय में प्राण बने रहें, इस भावना से अहोरात्र में, सूर्योदय के तीन घड़ी पश्चात् अथवा सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व यथालाभ सन्तुष्ट रहते हुए एकाहार लेते हैं। जैसे कोई रथ को गतिशील रखने के लिए उसे स्नेह से चुपड़ता है न कि दृष्टिसुख के लिए चक्रों को घृतस्नपित करता

है, वैसे प्राणसंयमार्थ मुनि आहार लेते हैं[१]। इस विषय में मूलाचार, रयणसार, परमात्मप्रकाश और आचारसार की उक्तियाँ पठनीय हैं। वास्तव में अस्वाद मुनि का पहला व्रत है जिसके पालन से अन्य महाव्रतों, समितियों, गुप्तियों और मूलगुणों का पालन सुसाध्य हो जाता है। जिह्वा का वशीकरण इतर समस्त इन्द्रियों का वशीकरण मार्ग है। जिह्वा स्वादप्रिय है इसे स्वाद से परितृप्त करनेवाला व्रत, संयम, उपवास तथा रुक्ष-लुक्ष आहार नहीं ले पाता। स्थितप्रज्ञ होने के लिए इन्द्रियों को वश में करना अनिवार्य है। प्राचीन समय में त्यागियों का संहनन सामर्थ्य अधिक था इसलिए वे दीर्घकाल तक उपवास करने में समर्थ थे; किन्तु आधुनिक समय में कालप्रभाव से वज्रसंहननधारी नहीं होते अतः त्यागियों को काय न तो इतना कृश करना चाहिए कि चर्याशक्ति भी न रहे और न इतना पुष्ट-पीवर कि उठने-बैठने में क्लेश-प्रतीति हो। मध्यमवृत्ति से आहार लेना चाहिए कि इन्द्रियाँ उन्मार्ग में प्रवृत्त न हों और वश में रहें[२]। आचार्यों का अनुभूत मत है कि प्राचीनों के तुल्य इस काल के त्यागी लम्बे उपवासों को सहन नहीं कर सकते[३]। सोमदेव सूरि को तो यही आश्चर्य है कि आज भी निर्ग्रन्थ मुनिचर्या के पालन करनेवाले विद्यमान हैं[४]। सूरियों के इस आश्चर्य का समाधान आज की परिस्थितियों का अध्ययन करने पर सुगम प्रतीत होता है। परिग्रहों पर आसक्ति आज के समान पूर्वकाल में नहीं सुनी गई और धर्माचरण को इतना दुर्बल अनुभव नहीं किया गया। आज का मानव

---

१. *'अक्खोमक्खणिमित्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।*
पाणं धम्मणिमित्तं धम्ममपि चरंति मोक्खट्ठं ॥' —मूलाचार, ५०.
'भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाण संजमणिमित्तं ।
झाणज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरओ ॥' —रयणसार, ११३.
'जे सरसिं संतुट्ठमण विरसि कसाय वहंति ।
ते मुणि भोयणधार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥' —परमात्मप्रकाश, १११.
'भृंगः पुष्पासवं यद्वद् गृह्णात्येकगृहेऽशनम् ।
गृहिबाधां विना तद्वद् भुंजीत भ्रमराशनः ॥' —आचारसार, १२७.
'उदराग्निसमणमक्खमक्खणगोयारसब्भपूरणभमरं ।
ण उण तप्पयारे णिच्चेवं भुजरा भिक्खु ॥' —रयणसार, ११४.

२. *'न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।*
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च व्यंजनैः ॥
वशे यथा स्युरक्षाणि नोत धावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥' —महापुराण, ५।६

३. *तद्वैर्यं यमिनां मन्ये, न सम्प्रति पुरातनम् ।*
अथ स्वप्नेऽपि नामास्था प्राचीनां कर्तुमक्षमाः ॥' —ज्ञानार्णव, २८।१७.

४. *'काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके ।*
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥' —सोमदेव. २८.

अत्यन्त स्वजीवी हो गया है और देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, उपवास, तप तथा पवित्र आचरण के क्षेत्र वन्ध्यप्राय हो चले हैं। आहार की पवित्रता गिने-चुने लोगों में सीमित हो गई है और इन्द्रियसंयम की हँसी उड़ायी जा रही है। ऐसे विषम काल में इन्द्रियभोगों से विरक्त, अस्वादव्रती, वस्त्रत्यागी, कषायजयी मुनित्व को निभाना, दीक्षा लेना और सहस्रातिसहस्र वर्ष प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की शृंखला को बनाये रखना नितान्त कठिन ही कहा जा सकता है। आचार्यों ने अपने ज्ञानोन्मेष से यह अवगत कर लिया था कि धर्मप्राण भारत देश में भौतिकता का अतिसंकट उपस्थित होगा और धर्माचार लुप्त नहीं तो विपन्न अवश्य होगा। वही यह समय चल रहा है। दीक्षान्त भाषणों से दीक्षित होकर विश्वविद्यालयों से प्रतिवर्ष एक नहीं शत-शत युवा राष्ट्र की स्वतंत्र जनवीथियों पर चंक्रमण करने निकलते हैं और उनमें अधिकांश अपनी आदतों, खर्चों, मौज-शौक के उपकरणों के सीमित दायरे में 'फिट' रहते हुए जीवनयात्रा पर चल निकलते हैं। उन्हें वर्णमाला के ककार से अन्तिम अक्षर तक धर्मविषय कभी पढ़ाया नहीं गया, शील-शौच सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी गई और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष अति-भौतिक पीढ़ी का योजनाबद्ध नया समाज यहाँ तैयार हो चुका है, तैयार किया गया है। 'आत्मा और शरीर' विषय को लेकर शोधग्रन्थ (थीसिस) लिखनेवाले तो बहुत मिलेंगे परन्तु उन विषयों से अपना निकट सम्पर्क स्थापित करनेवाले कदाचित् ढूंढ़ने पर मिलें। अध्ययन करने पर उसे उगलना तो लोग आधुनिक शिक्षणकला से जान गये हैं परन्तु निगलकर उसे पचाना और अपने अंगों का शोणित बना लेना, अपना लेना बहुत कम जानते हैं। यही कारण है कि उन्हें आकृति पर सुर्खी लगानी पड़ती है, वह उनमें से उत्पन्न होकर परिलक्षित नहीं होती। बाहर से आरोपित प्रपंचों के परिवेश में आज का जीवन चल रहा है। आवरण का सौन्दर्य तो बढ़ गया है परन्तु निरावरण दशा में यदि मनुष्य अपने को देख सके तो नितान्त लघु अनुभूति से कातर होना पड़ेगा। इसीको कहते हैं—'बाह्यग्रन्थिविहीना दरिद्रमनुजा:'—किन्तु जिसने आत्मसाक्षात्कार से अपनी अपार विभूतियों को, सम्पन्नताओं को जान लिया है वह अपने आप में पूर्ण है। ऐसा पूर्ण व्यक्तित्व ही परम निःश्रेयस की दुर्विलंघ्य घाटियों को पार करता है। आज के क्लिष्ट काल में भी सोमदेवसूरि के आश्चर्य को जीवित रखनेवाले ऐसे पुण्यवान, सुकृती, धन्य महापुरुष होते हैं। विश्व के यावत् भोगों की निंद्य परिणति को जानकर विरक्त होकर वे प्रव्रज्या ले लेते हैं तथा आत्मकल्याण के लिए जीवन को सुरक्षित कर लेते हैं। इस निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या को आकाश से बरसती रत्नावली की उपमा क्षत्रचूड़ामणिकार ने दी है।* वादीभसिंह कहते हैं कि जो व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ में, मध्य में अथवा उत्तरार्ध में भी प्रव्रज्या ले लेता है वह कथंचित् अपने मनुष्यभव को सार्थक करने की ओर प्रवृत्त हुआ माना जा सकता है; किन्तु संसारी और विषयी जीवन बिताकर कूच करनेवाला तो ऐसा है जिसने

---

* *'प्रव्रज्या जातुचित् प्राज्ञैः प्रतिषेद्धुं न युज्यते।*
न हि खादापतन्ती चेद् रत्नवृष्टिर्निवार्यते।' –क्षत्रचूड़ामणि.

भस्म पाने के लिए रत्नहार जला दिया हो ।[१] सम्यग्ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव धारण करनेवाले मुनि को जिस सुख की प्राप्ति होती है उसका अनन्तवाँ भाग भी स्वर्ग के देवेन्द्रों को प्राप्त नहीं होता ।[२] क्योंकि सुख का आस्पद तो आत्मस्थित होना है, ज्ञान की रज्जु से इधर-उधर धावन करते हुए मनरूप हाथी को बाँधना है,[३] मानस में कल्लोल लेती वासनाचंचल तरंगों को प्रशमित कर स्थिर जलाशय में आत्ममणि को देखना है । उपशम भाव से अनुष्ठित व्रतों तथा तप से संयमभाव को प्राप्त करना है ।[४] इसी की विधिपूर्वक संगति त्यागमय जीवन में निहित है । □

---

१. 'वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।
भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते ॥' —क्षत्रचूड़ामणि.

२. 'यत् सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥'

३. 'मण करहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं णहु बद्धो ।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता ॥' —योगसार, १

४. 'उपसम तव भावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होइ ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥" —आ. कुन्दकुन्द.

मनोविज्ञान-मीमांसा

मन अर्थात् मानवसंज्ञा को साभिप्राय करनेवाला मननात्मक उपादान, मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र और शत्रु। राग परिणत होकर संसार के अनन्तविषयों, कषायों और प्रपंचों में अहोरात्र निमग्न तो विरक्त होने पर एक झटके के साथ आत्मा के स्वरूप चिन्तन में तन्मय—तल्लीन हो जानेवाला। राग-विराग के उभय क्षेत्रों में बिना किसी बाधा के संचार करनेवाला, दशों दिशाओं में अप्रतिहतगति किसी सम्राट् के समान। एक समय भर्तृहरि से जिसने शृंगार शतक लिखवाया, दूसरे समय 'धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मांच'—के उद्गारों के साथ उसी ने उन्हें अरण्यगामी बना दिया। एक ऐसा निरंकुश गजेन्द्र, जो अपनी इच्छा से कमल-नाल के समान संयम का अपहरण कर सकता है और अच्छाइयों की अम्बारी लगाकर चले तो मनुष्य को उच्चतम सम्मानभूमि पर पहुँचा सकता है। ऐसा दुर्धर्ष है यह मन जो आँखों से देखता है, कानों से सुनता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से अपना इच्छित प्रयोजन सिद्ध कर लेता है। इसीलिए तो इच्छा को मनीषा—मन की एषणा कहा जाता है। 'मनोहि हेतुःसर्वेषामिन्द्रियाणाम् प्रवर्तने' इन्द्रियों की प्रवृत्ति में मन ही हेतु है। जब इसे गीत अच्छा लगता है तब यह कानों की खिड़की खोलकर उसे सुनता है, किसी रूपसौन्दर्य को देखना चाहता है तो नेत्रों से उसे पी लेता है, किसी आस्वाद्य वस्तु की रसानुभूति चाहता है तो उसे रसनेन्द्रिय के अधीन कर देता है—और इस प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से अरूप होकर भी आस्वादन करता है। जब मनुष्य स्व-पर के भेदज्ञान से संसार-विषयों से उदासीन, विरक्त अथच वितृष्ण हो जाता है तब यही मन शृंगार-अवस्था के षड्यन्त्रों का मुखबिर बन जाता है और वैराग्य के पक्ष में होकर विरुद्धसाक्षी देने लगता है। एक समय जो नारीमुख को पद्मगन्धी बताता था, आज दाँतरूप हड्डियों का निवास कहता है। पूर्वावस्था में जो शृंगार की बातें कान खोलकर सुनता था और रूप को घूर-घूरकर देखता था, आज कहता है—'अन्धवत् पश्य रूपाणि शृणु शब्दमकर्णवत्'—रूप की ओर अन्धे के समान देखो और पदनूपुरों की झंकार को बधिर के समान सुनो। भला अन्धा क्या देखेगा और विकर्ण क्या सुनेगा? पर, बात मन की मुखबिरी की थी। इस प्रकार किसी भी बात से साफ मुकर जाना मन के बूते की बात है। किन्तु मन की मीमांसा इतने पर ही समाप्त नहीं होती। इसे 'चंचल' कह देने भर से इसकी सामर्थ्यों से इन्कार नहीं किया जा सकता; क्योंकि—इसीने तीर्थंकर बनाये और इसीने चक्रवर्तियों के मस्तक पर मुकुट रखे। संसारपक्ष में मानव की प्रगति का जितना इतिहास है, सब मन का क्रीड़ाविलास है और निवृत्तिमार्ग की जितनी सीढ़ियाँ हैं, उन पर मार्ग-दर्शक के रूप में मन के पदचिह्न ही अग्रगामी हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि मनुष्य

मन की बहुमुखविकीर्ण शक्तियों को किसी एक कार्य के लिए केन्द्रबिन्दु पर एकत्रित कर ले। यदि अनेक व्यवसायों में बिखर कर मन्दशक्ति हुए मन को कोई एकाग्र कर लेता है तो वह करिष्यमाण अथवा विधीयमान कार्य की भावी बाधाओं (रुकावटों) को पार कर लेता है; क्योंकि कार्य के दो भाग (खण्ड) होते हैं—एक दत्तचित्तता (मन की एकाग्रता) और दूसरा आवश्यक-अपेक्षित श्रम। इनमें श्रम से अधिक दत्तचित्तता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे समझाने के लिए आतशी शीशा (आग्नेय काँच) का उदाहरण उपयुक्त होगा। सूर्य की किरणों में दाहक शक्ति विद्यमान है, इस बात को जानकर जब कोई उस आग्नेय काँच पर उन किरणों को एकत्र करता है और उसकी तीक्ष्ण किरणों के नीचे वस्त्र रख देता है तो उनसे अग्नि उत्पन्न हो जाती है। किरणें जब तक उस आग्नेय काँच पर केन्द्रित नहीं की जातीं, तब तक अग्निमय होने पर भी अग्नि उत्पन्न नहीं कर पातीं क्योंकि किसी सामर्थ्य की सम्पन्नता उसकी एकाग्रता पर निर्भर है। जो लोग संसार में किसी उद्योग, व्यवसाय, कला, शिल्प, काव्य अथवा शास्त्रलेखन में कृतकाम या यशस्वी हुए हैं, हो रहे हैं, उनके लिए दिन-रात के चौबीस घण्टे कभी बड़े (विस्तारवाले) नहीं हुए और जो अकर्मण्य, आलसी हैं, उनके लिए उनमें न्यूनता नहीं आई। फिर भी परिणामस्वरूप उद्यमियों ने अपने संसार को और अधिक सौन्दर्य, शालीनता, सुख-सुविधाएँ एवं विकास दिये और आलसी के संसार का क्षेत्रफल पहले था, उससे भी सिकुड़ गया। इस मन ने ही एक का नाम मनस्वी, महामना के नाम से प्रसिद्ध कर दिया और दूसरे को मनःशक्तियों का परिचय भी नहीं मिल पाया। इसीलिए जिन्होंने यह जान लिया कि मन को सुनियोजित कार्य पर लगाकर उससे सिद्धियों का दोहन किया जा सकता है, उन्हें ही सर्वार्थचिन्तामणि की उपलब्धि हुई है। जो मन के भृत्य हैं, वे सदा पराजय और ठोकरें खाते हैं; किन्तु जिन्होंने मन को भृत्य बना लिया है, मन उन्हें कन्धों पर उठाये घूमता है। इस रूप में जय और पराजय मन से पराजित अथवा मन पर विजय के नामान्तर हैं। 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं च सुखम्' दृढ़ मनोबल रखने वाला जब कार्य करने के लिए प्रवृत्तिमान होता है तब मार्ग में आने वाले सुखों, दुःखों की गणना नहीं करता। सत्य तो यह है कि जिन्हें नाचना होता है वे वन की कंकरीली, पथरीली भूमि पर भी नाच लेते हैं और जिन्हें नाचना नहीं आता, वे प्रशस्त, समतल अंगण को भी वक्र (टेढ़ा) बताते हैं। कार्य करने की जिन्हें धुन होती है वे अपना मार्ग बना लेते हैं। 'जहाँ चाह वहाँ राह'—इस उक्ति पर उन्हें विश्वास होता है किन्तु हीनमनोबल व्यक्ति तो अग्रगामियों द्वारा क्षुण्ण पथ पर भी नही चल पाते; क्योंकि उन्हें अपने मनोबल का पता नहीं होता। वे क्या कर सकते हैं, कितना सामर्थ्य उनमें विद्यमान है, इतना वे नहीं जानते। परिणाम यह होता है कि अपनी अशक्ति पर दीर्घ निःश्वास खींचते उनका जीवन चुक जाता है और वे कुछ भी नहीं कर पाते। उनके 'करिष्यामि' के संकल्प 'मरिष्यामि' के कफ़न में लिपटकर मुर्दा हो जाते हैं। अतएव आत्मकल्याण के लिए, आत्म-विज्ञान के लिए, ऐहिक और आमुष्मिक सुख के लिए मन को जानना परम आवश्यक है।

मन को जाननेवाला संसार में एक सर्वोत्तम मित्र को अपने पास रखता है, कभी अकेलापन अनुभव नहीं करता। विपत्तियों में उसे एक ऐसा उत्साहप्रद मित्र हमेशा प्राप्त रहता है, जिसके सहारे उसे आपदाओं की घोरता विकल नहीं कर पाती। मन को अपने सहचर के रूप में पाकर मनुष्य साहस और जोखिम के कार्यों में निःशंक कूद पड़ता है। उसे सफलताएँ मिलने लगती हैं। एक सूक्ति है—'क्रिया-सिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे'—सफल होने में मनुष्य के मानस संकल्पों की दुर्धर्षता ही हेतु है। उपकरणों की विपुलता से क्या होता है? मनःशक्ति ही व्यक्ति को असम्भाव्यों के अक्षुण्ण मार्ग पर सफल साहसिक अभियन्ता होने का आमंत्रण देती है। मन के सुदृढ़ संकल्प-बल ही कार्यसिद्धि में सहायक हैं। यह मन मनुष्य का सत्व है, प्राण है, बल है और पराक्रम है। जिसने मन को अनुरूप कार्यों में नियुक्त कर दिया, वही कर्मठ कहलाने का अधिकारी है। अपने मनोबल को न जानने से लोग कायरता का शिकार होते रहते हैं। उनमें विश्वास, स्थिरता, साहस, लगन और विघ्न-बाधाओं से जूझने की शक्ति नहीं होती। उनकी आकृति पर दीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है। आत्मविश्वास की चमक से शून्य उनकी रुग्ण तसवीर सदैव पराजयों के घेरे में कैद रहती है। उसे अल्प-से-अल्प कार्य भी भार अथच असाध्य प्रतीत होता है। एक बार एक व्यक्ति किसी रुई धुननेवाली मिल में गया। वहाँ मैदान में रुई का ढेर लगा था, वह पहाड़-सा दिखायी देता था। वह व्यक्ति इतनी रुई का निचय देखकर चिल्लाने लगा—कौन धुनेगा? कौन बुनेगा? परिणामस्वरूप वह पागल हो गया। अनेक चिकित्साओं के बाद भी उसका उन्माद-रोग शान्त नहीं हुआ। अन्ततः उसे किसी उत्तम मानसिक चिकित्सक के समीप ले जाया गया। उसने सब घटना सुनकर बाजार से कुछ रुपयों की रुई मँगाई और उसे ढेर कर दिया। वह पुनः 'कौन धुनेगा? कौन बुनेगा?' चिल्लाने लगा। डॉक्टर ने उस ढेर में आग लगा दी। रोगी देखता रहा और सारी रुई जल चुकने पर दीर्घ श्वास खींचकर बोला—'चलो, छुट्टी हुई।' उसी समय उसका उन्मादरोग चला गया। ऐसे मनोदौर्बल्य के आखेट रोगियों का यह एक ही दृष्टान्त नहीं है। बहुत हैं, जो अपनी सुप्त शक्तियों को न जानने से पराजित होते रहते हैं। सफलता का प्रथम सूत्र मन को जानना है। जो किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले मनः-शक्ति की तुला पर तौलते हैं और अपनी क्षमताओं की सीमा का अनुमान लगाने पर ही कार्यप्रवृत्त होते हैं उन्हें कृतकार्य होते कठिनता नहीं होती। 'न हि सर्षप-वाही पिपीलिकः सुमेरुं वोढुं क्षमः' सरसों के कण उठानेवाली चिऊँटी सुमेरु को नहीं उठा सकती। सामर्थ्य से बहिर्भूत कार्य नहीं किया जा सकता।

आत्मिक शक्तियों को बलवान् बनाने के लिए मनोनिग्रह परम आवश्यक है। जिस प्रकार सुप्रयुक्त मंत्र से विषधर सर्प को वश में किया जाता है उसी प्रकार ज्ञान-भावना से तथा नित्य अभ्यास से मन को वश में करना चाहिए। जब ज्ञान-समुदाय होगा तो मन अशुभ परिणति का परित्याग करने लगेगा और नियमपूर्वक

इसे शुभ परिणति में नियोजित रखने से आत्मा के विमल स्वरूप की अधिकाधिक प्राप्ति सम्भव होगी।[१] तत्त्वसार का अभिमत है कि किसी जलाशय में रत्न पड़ा हुआ है किन्तु यदि उसका जल पवनवेग से तरंगाकुल है तो तल में विद्यमान रत्न दिखायी नहीं देगा। यही आत्मा के विषय में कहा जा सकता है। जब तक मन की चंचलता शान्त नहीं होती, आत्मा का दर्शन होना कठिन है। किसी राजद्वार पर जब तक प्रहरी चंक्रमण करता रहेगा, कोई उसकी आँख बचाकर अन्दर प्रवेश कैसे कर पायेगा? अतः मनरूपी जल जब तरंगरहित, स्थिर होगा तभी उस आत्म-मणि को देखने का सामर्थ्य अधिगत हो सकेगा।[२] मिथ्यात्व तथा कषाय मन को अस्थिर रखते हैं, जब इनका उपशम हो जाता है तब आत्मस्वरूप में अधिक समय-पर्यन्त स्थिर रहना सम्भव हो जाता है। वास्तव में प्राणी को मनःशुद्धि से ही कलंकों से छुटकारा मिलता है।[३] मन में मिथ्यात्व है, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुम्-नपुंसकवेद, तथा प्रमादादि अनादि-काल से भरे हुए हैं, इन कलंकों के रहते मनःशुद्धि अकल्पनीय है। जब आत्मदर्शन की उत्कट अभिलाषा प्रबुद्ध होती है तब मन को रागद्वेष रहित करना प्रथम आव-श्यक होता है तभी स्वार्थसिद्धि होती है। मनोविकारों की शान्ति से समता प्राप्त होकर आत्माधिगम सुलभ हो जाता है। प्रबोधसार में इसी का निरूपण करते हुए बताया गया है कि—'शुद्ध पारद के सम्मिश्रण से लोह रसायन हो जाता है और परिणामविशुद्ध हुआ मन अनन्त धर्म की प्राप्ति में समर्थ होता है।[४] इसका यह आशय है कि क्रोध, मान, माया आदि विकार मन के विभाव हैं, स्वभाव नहीं और स्वभावतः मन कलंकयुक्त नहीं है अपितु संसर्गज दोषों से दूषित प्रतीत होता है उस आकाश से टपकती हुई जलबिन्दु के समान, जो धूलि के सम्पर्क से मलिन हो जाती है। वस्तुतः मेघ के उदर से निकलते समय उसमें मालिन्य नहीं था किन्तु 'भूमि परत भा डाबर पानी' भूमि पर गिरते ही उसमें धूलि और अन्य मलिनताओं का मिश्रण हो गया। यह मलिनता पानी की अपनी नहीं है। अतः जो मनुष्य रातदिन साबुन का प्रयोग कर वस्त्रों को चमकाता-उजलाता रहता है और अपने देह को उपलेपन-संस्कारों से अभिरूपता प्रदान करता रहता है, यदि

---

१. *'ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यस्तेन मानसम्।*
मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पन्नगः॥'—मूलाराधनादर्पण, ७९२.

२. *'सरसलिले थिरभूये णिरुणिपडियं पि जह रयणं।*
मणसलिले थिरभूये दीसह अप्पा तहा विमले॥'—तत्त्वसार, ४१.

३. *'कलंकविलयः साक्षात् मनःशुद्धयैव देहिनाम्।*
तस्मिन्नविषयीभूते स्वार्थसिद्धिस्तदाहृता॥'—ज्ञानार्णव, ७

४. *'भावैः शुद्धैः मनः साधु धर्मानन्त्याय सम्मतम्।*
पराशुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव॥'—प्रबोधसार, ३२

विवेक की आँखों से अपने मन का सम्मार्जन नहीं कर सके तो वह उसके लिए महान् अलाभ की बात होगी। नश्वर शरीर और जीर्ण होने वाले वस्त्रतंतुओं का उज्ज्वलीकरण तो मूल त्याग कर तुषग्रहण की प्रवृत्ति कही जाएगी। इसी को कहते हैं मूर्च्छा, वास्तविकता से अपरिचय और अवास्तव से आसक्ति। 'मूर्च्छा परिग्रहः' सूत्र का यही अर्थ है अन्यथा वे कीट, भृंग, पशु, पक्षी जो किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते अपरिग्रही और मूर्च्छारहित माने जाएंगे। वह दरिद्र भी जिसके पास मकान, दूकान, जमीं-जायदाद कुछ नहीं है और लंगोटी (कौपीन) के अभाव से पीड़ित है, त्यागी कहा जाएगा; किन्तु वास्तव में वह अपने अभाव से मन ही मन नितान्त सन्तप्त है और 'पुत्रा मे कांस्यपात्रे बहुक्षीरमौदनं भुंजीरन्'—मेरे पुत्र मूल्यवान थालों में दूध-भात खाएँ—ऐसी अभिलाषाओं के मंत्रजाप करता रहता है। जब तक मन में राग है, तबतक अनुपलब्धि या अभाव को त्याग अथवा अमूर्च्छा नहीं कहा जा सकता। ऐसे अपने पापों के उदय से दरिद्र मनुष्य तो बहुत हैं किन्तु जो अभ्यन्तर भावना से संग का, मूर्च्छा का त्याग करे, ऐसा जीव दुर्लभ है*। ऐसा त्यागमय मनस्वी जीवन स्वेच्छा से विषयपराङमुख हुए त्यागियों का है। उन्होंने मन को इन्द्रियों से निःसंग बनाया है, मूर्च्छा का त्याग किया है, बाहर-भीतर की ग्रन्थियों का निर्मोचन किया है। जिस दुर्वार मार को मारने में अमर भी असमर्थ हैं, उसे मार कर 'मारजित्' पद प्राप्त किया है। तभी तो 'मारयो कामखवीस को ऐसे श्रीगुरुराज' कहकर ऐसे त्याग-तपोधन गुरुओं की वन्दना के स्तोत्र लिखे गये हैं।

मन प्रेरणा और शक्ति का स्रोत है। मन लगाकर किये हुए कार्यों में जो सुन्दरता आती है, जिस पूर्णता तथा कलात्मकता के दर्शन होते हैं, बेमन से किये हुए कार्यों में उसके दर्शन नहीं होते। एतावता मनोयोग सुन्दरता, पूर्णता तथा कलात्मकता का आविर्भावक है। उत्तमता से कार्य निभाने वाले व्यक्ति तन, मन और जीवन की शपथ लेते हैं। यह मन कल्पवृक्ष का प्रतीकात्मक नाम है। मानस-संकल्प ही कल्पवृक्ष हैं। मनोविज्ञानवेत्ता किसी की आकृति को देखकर उसके अन्तर्मन की स्थिति एवं गहराई को माप लेते हैं। क्षत्रचूडामणिकार ने कहा है कि 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' मुख के भावविकार मन को कह देते हैं। 'मुख मस्तिष्क का परिचायक है' इस आशय की एक प्रसिद्ध अंग्रेजी कहावत है। जिन्होंने मानसशास्त्र का अध्ययन किया है वे व्यक्ति की गति से, स्थिति से, सम्भाषण से, वार्तालाप में प्रयुक्त शब्दावली से, व्यवहार में लाये गये अशन-वसन-उपकरणों से तथा मौन से भी उस-उस व्यक्ति का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। भारतीय लक्षण-शास्त्रों में व्यक्तियों के शारीरिक अवयवों, अंग-प्रत्यंगों और हीन अथवा अधिकांगों का अध्ययन करते हुए उनकी फलश्रुति का निरूपण किया गया है। यह निरूपण कर्मफलसिद्धांत

---

* *बाह्यग्रन्थिविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।*
किन्त्वभ्यन्तरसंगत्यागी लोकेषु दुर्लभो जीवः ॥'

का अविरोधी है। पूर्वभव के कर्म-परिणाम से मनुष्य अथवा अन्य योनि प्राप्त होती है और उसमें भी उत्तमत्व तथा अधमत्व कर्मपरिणाम से प्राप्त होता है। अंगों का, उपांगों का पूर्ण होना उसके सुकर्मों की घोषणा है। भगवान वर्द्धमान महावीर के शारीरिक सौन्दर्य तथा पूर्णांगता का वर्णन करते हुए, उन्हें उन-उन शरीर लक्षणों से महापुरुष बताया गया था। हिन्दी में एक आभाणक है कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—जो वृक्ष श्रेष्ठ फलवाले होते हैं, उनके पत्ते चिकने होते हैं—पत्तों के कोमल होने तथा मसृणता से अमुक वृक्ष उच्च जातिमान् फल देने वाला है, यह ज्ञात हो जाता है। वैसे भी किसी सुन्दर फल, पुष्प अथवा मनुष्य को देखकर चित्त प्रसन्न होता है और कुरूप तथा हीनाधिकांग के दर्शन से संकोच, ग्लानि तथा विषाद अनुभव करता है। यहाँ मानसशास्त्र के अनुसार यह विचारणीय है कि प्रकृति द्वारा अथवा किसी आघातविशेष से, दुर्घटनाग्रस्त होने से या जन्म से जो व्यक्ति अपने किसी अंग को (आँख, हाथ-पाँव इत्यादि को) खो बैठते हैं, उनमें किसी सर्वांगपूर्ण व्यक्ति के समक्ष हीनभावना का उदय होना स्वाभाविक हो जाता है। अन्धा व्यक्ति जब लकड़ी से टटोलकर मार्ग देखता है, उसके मन में अपने प्रति घृणा, करुणा, और हीनता के भाव उठते हैं और जब कोई उसके अन्धत्व पर तरस खाता हुआ उससे आगे निकल जाता है तब उसके मन में उस नेत्रवान् के प्रति ईर्ष्या, क्रोध और प्रतिकार के भाव उठते हैं। अवचेतन मन पर ये घात-प्रतिघात निरन्तर होते रहते हैं और वह जान भी नहीं पाता। धीरे-धीरे उसका मन अपनी इन असमर्थताओं और कुण्ठाओं से जर्जर हो जाता है। यही बात अन्य हीनअंगों वाले के साथ चरितार्थ होती है। अन्धा व्यक्ति नितान्त असहाय होकर भिक्षाजीवी हो जाता है, क्योंकि लज्जा की अनुभूति कराने के प्रत्यक्ष इन्द्रियोपकरण नेत्र न होने से धीरे-धीरे उसकी मानसिक लज्जा मृत हो जाती है; किन्तु यह सिद्धान्त काणाक्ष व्यक्ति पर लागू नहीं होता, क्योंकि यद्यपि वह नेत्रेन्द्रिय के अर्धभाग से हीन हो बैठता है तथापि उसमें अवलोकनशक्ति विद्यमान रहती है जिसके द्वारा वह अन्धे जितना असमर्थ नहीं हो जाता अतः जब वह द्विनेत्र व्यक्तियों को देखता है तो अपनी एक आँख का फूला उसे प्राणों तक चुभता लगता है। फलतः एक हीनभावना के साथ-साथ उसमें कुछ कुटिलता क्रूरता, वक्रता और वंचकता जैसे अवगुणों का शनैः-शनैः प्रादुर्भाव होने लगता है। ये दोष मानस में चुभे हुए अपने हीनांगों के परिताप से उत्पन्न हो जाते हैं और ऐसे, अपवाद को छोड़कर, शत-शत व्यक्तियों के अध्ययन से प्रसूत निष्कर्षों से लक्षणशास्त्रों की रचना की जाती है। 'युक्तिकल्पतरु' में राजदूत के लक्षण-प्रसंग में लिखा है—'वपुष्मान्, वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते'—सुन्दर, सुडौल शरीरवाला, निर्भय तथा वाक्पटु राजदूत प्रशंसनीय है। जिस पुरुष के नेत्रों का स्वरूप मधु-पिंगल हो वह श्रीमान् होता है। ऐसे मधु-पिंगल

नेत्र प्रायः राजाओं के होते हैं[१]। जिसके नेत्र कर्कश मधु पिंगल हों, वह कुलान्तक होता है। महाभारतकार ने धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के नेत्रों का कर्कश मधुपिंगल वर्णन किया है। जिनका स्वर मेघगम्भीर हो, चक्रवाक–क्रौंच अथवा डूबते हुए कुम्भ से उठते नाद के समान हो, वे ऊँचे अधिकारी होते हैं। इसके विपरीत जिनका स्वर गर्दभसदृश हो, फटे बाँस के समान जर्जर हो, वे दरिद्र तथा अविश्वसनीय होते हैं। कूर्मपृष्ठ के समान उन्नतचरण विशिष्ट व्यक्तियों के होते हैं। जिन व्यक्तियों के हाथ, पैर, कान, शिर, स्कन्ध, वक्षःस्थल और भाल विशाल होते हैं, वे लोक-पूजित पुरुष होते हैं[२]। इत्यादि वर्णन, जो लक्षण-शास्त्रों में दिया गया है, वह लक्षणविदों के अध्ययन का फल है, निष्कर्ष है। प्राचीन भारत में इस प्रकार की शोध करनेवाले विद्वान् होते थे, जिनके ग्रन्थों को परिहास अथवा उपेक्षा से नहीं देखा जा सकता। आज 'थीसिस' लिखने का जो प्रकार है, उससे कहीं अधिक सारगर्भ यह प्राचीन अध्यवसाय था। किसी उत्तरदायी पद पर नियुक्त करते समय व्यक्ति के शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व को भी ध्यान में रखा जाता था। दृढ़, ऊँची काठीवाले तथा श्यामवर्ण सेनापति शत्रुओं के लिए काल प्रतीत होते थे। सुन्दर, गौरवर्ण, स्मितमुख, विचारवान् वैद्य के दर्शन से रोगी का आधा रोग स्वतः दूर हो जाता है। यदि शास्त्रकारों ने 'मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्ग वपुषा निरूपयन्तं' लिखा तो इसमें रहस्य यही है कि तपस्त्यागपरायण मुनिराज की आकृति पर मनोवाक्काय-त्रियोगसिद्धिजन्य विशिष्ट वीतराग भाव इतने प्रस्फुरित हो उठते हैं कि दर्शन करने मात्र से मन पुलकायमान हो उठता है और जिस विषयस्वरूप को अन्य सामान्य लोग वाणी को श्रम देकर भी समझा नहीं सकते, उसे वे बिना बोले मुद्रामात्र से प्रकट कर देते हैं। 'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्'—का ही यह चमत्कार है। जब मनुष्य अपने उत्कट तप से, मनोबल से तथा एकाग्र ध्यानसामायिक-समाधिबल से आकृति पर अन्तरात्मा के सूक्ष्म भावों को यथेच्छ रेखांकित करने में समर्थ हो जाता है, तब उसे सिद्धपरिश्रम अथवा अपेक्षित उद्देश्य में सिद्धिप्राप्त कहना चाहिए; क्योंकि मनुष्य के सभी प्रयत्न साधना से आरम्भ होते हैं और सिद्धि में समाप्त होते हैं। यात्रा का पर्यवसान अभीष्ट स्थान पर पहुँचने में है। निरुद्देश्य इधर-उधर घूमने को यात्रा अथवा साधना नहीं कहते। साधना में निर्माण का भाव है। अपेक्षित कागज, पुस्तक दवात तथा कलम—उपकरणों को लेकर जब बालक स्वर-व्यंजन सीखने लगता है तब उसके श्रम का भविष्य उसकी विज्ञता में बदलता है। यही परिणाम उसके साध्य प्रयत्नों, अध्ययनादि की सिद्धि है। यह सिद्धि मनोबल से प्राप्त होती है। प्रसमिद्ध मनोबल में पावक का तेज प्रज्वलित हो

---

१. *'न श्रीस्त्यजति सर्वत्र पुरुषं मधुपिंगलम् ।*
आपिंगलाक्षा राजानः सर्वभोगसमन्विताः ॥'—भविष्यपुराण.

२. *'पृथुपाणिः पृथुपादः पृथुकर्णः पृथुशिराः पृथुस्कन्धः ।*
पृथुवक्षाः पृथुजठरः पृथुभालः पूजितः पुरुषः ॥'—सामुद्रतिलक.

जाता है, विघ्न-बाधाओं के कान्तारों को दग्ध करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और निर्माण के सप्तस्वर ताल देने लगते हैं। 'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्' या तो कार्यसिद्धि प्राप्त करूँ या प्राणों का विसर्जन कर दूँ—यह मनस्वी की भावना होती है। कार्यसिद्धि के लिए उद्यत मनस्वी दुःखों-सुखों की गणना नहीं करता। 'मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्'। वास्तव में दुःखों-सुखों से विचलित होने वाले कार्यशूर नहीं हो सकते। 'नो रिस्क नो गेन'—जोखिम उठाये बिना आगे नहीं बढ़ा जाता, इस उक्ति में सत्यता है। 'इस पार या उस पार' मनस्वी को बीच का पथ स्वीकार्य नहीं। ऐसों को विजयश्री मिलती है। लक्ष्मी ने कहा है कि मैं उनका साथ पसन्द करती हूँ जो उद्यमी हैं, अध्यवसायी हैं, आवश्यक होने पर अमृत तो अमृत गरल के घूँट पी सकते हैं, जो बिना सीढ़ी के आकाश पर चढ़ सकते हैं और बिना विवर के पाताल का तल देख सकते हैं; किन्तु जो आलसी हैं, अकर्मण्य हैं, उन्हें लक्ष्मी के वाहन भी नहीं पूछते। मनोबल अपने आप में बहुत बड़ी शक्ति है। शक्तियों का निरूपण करते हुए भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने उसके तीन भेद बताये हैं—प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति। इनमें उत्साहशक्ति सर्वाधिक गरीयसी है। उत्साह मन का धर्म है। यदि उत्साह नहीं तो कुछ भी करने की शक्ति नहीं रह जाती। जिसकी हृदय-पुस्तक पर खिन्नता के अक्षर नहीं लिखे होते, वह कभी पराजित नहीं हो सकता। मनोबली के स्वर में धीरता और गति में सिंहपराक्रम परिलक्षित होते हैं। शक्ति का अक्षय स्रोत पुष्ट शरीर और धन-वैभव नहीं, मनोबल है। प्रसिद्ध है कि सिंह हाथी से लघुकाय होता है। किंतु उसमें मनोबल जिसे सत्त्व कहते हैं, अधिक होता है तभी वह हाथी को पराजित कर सकता है। किसी कवि ने कहा है कि—'यदि मदोन्मत्त गजेन्द्रों के गण्डस्थल को सिंहशिशु भी विदीर्ण करने के लिए लपकता है तो यह सत्ववानों की प्रकृति है, वय में ज्येष्ठ होना वास्तविक ज्येष्ठता नहीं'[१]। किसी राजसभा में किसी जटिल प्रश्न पर कई दिनों से वाद-विवाद चल रहा था। बड़े-बड़े विद्वान्, वाद-शिरोमणि, तर्कभूषण नतमुख सोच रहे थे। तभी एक अल्पवय के व्यक्ति ने, जिसे बालक ही कहना चाहिए, वहाँ प्रवेश किया। यह जानकर कि वह शास्त्रार्थ में भाग लेने उपस्थित हुआ है, राजा और पण्डित-मण्डली उपहास करने लगे। बालक ने निर्भीक स्वर में उन्हें चुनौती देते हुए कहा—'आप क्यों हँसते हैं? मेरी बाल्यावस्था जानकर? किन्तु क्या हुआ यदि मैं बालक हूँ? मेरी सरस्वती बालिका नहीं है। वयस्क होने पर तो मैं तीन लोकों के वर्णन का सामर्थ्य प्राप्त कर लूंगा[२]।' शरीर अवस्था में ज्येष्ठ-कनिष्ठ होने से मानसशक्ति में अथवा उसके विकास में भी ज्येष्ठता या कनि-

---

१. *'सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।*
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥' —भर्तृहरिः, नीतिशतक

१. *'राजन्! यद्यपि बालोऽहं न मे बाला सरस्वती।*
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्॥'

ष्ठता की जो कल्पना करते हैं, वे भ्रम-बाधित ही कहे जाएंगे। कुछ लोग अवस्था के साथ-साथ चलते हैं अर्थात् जैसे-जैसे उनका शरीर बढ़ता है, आयु: परिपक्व होती जाती है, वैसे-वैसे उनमें मानसिक विकास अधिकाधिक होता जाता है, विचार परिष्कृत एवं प्रौढ़ होते जाते हैं; किन्तु कुछ लोग शारीर आयु से बड़े होकर भी अनुभवों तथा मानसिक विकास के क्षेत्र में बौने होते हैं, अर्थात् उनका शरीर पचास का होता है तो मन पच्चीस का। समाज के किसी सभा-संस्थान में बैठते हैं तो बालकों के समान हँसते-बोलते हैं। बिना प्रयोजन गली-मुहल्लों में चक्कर लगाया करते हैं। शोकसभाओं में बैठते हैं और पान की गिलोरियाँ चबाते हैं, किसी दूल्हे की बरयात्रा में सम्मिलित हैं और मुहर्रमी सूरत बनाये हैं। लोगों को उन पर तरस आता है और प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष उन पर तालियाँ पीटते हैं, उन पर व्यंग्य-विनोद की सभाएं आयोजित करते हैं। उन पर कसे गये चुटकुलों से ठंडी गोष्ठियों को गरमाते हैं; किन्तु इसके विपरीत कितने लोग झील के समान शान्त होते हैं और सहसा उनके अन्त:करण में उठनेवाले हर्ष, शोक अथवा विक्षोभ की उर्मियाँ मुख पर परिलक्षित नहीं होतीं। सभाओं में वृद्धजनों से अधिक उनका सम्मान किया जाता है। वे बचपन में तरुणों-जैसे, युवावस्था में वृद्धजनों-से सम्मानित एवं लोकपूजित होते हैं। यह उनके समुन्नत मानस का सम्मान है। कहते हैं—'उन्नतं मानसं यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्'—जिसका मन ऊँचा उसका भाग्य भी ऊँचा होता है।

मन का प्रभाव नितान्त वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। यह मानवसमूह मन से परिचालित है और इस प्रकार मन का प्रभुत्व व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तथा विश्व पर है। परस्पर सम्पर्क करनेवाले व्यक्तियों के मन एक-दूसरे से मिलते हैं तथा अपनी विशिष्टता अथवा हीनता की छाप छोड़ते हैं। इससे एक वातावरण बनता है। उस वातावरण के परिणाम समाज के व्यक्तियों की मनोदशाओं को बताते रहते हैं। यदि किसी समाज में नैतिकता (मोरलिटी) का पतन दिखाई देता है तो निस्सन्देह उस समाज का मन गिरा हुआ है, मानसिक अध:पतन हो चुका है। आज संसार के राष्ट्र युद्धोपादानों के निर्माण में लगे हुए हैं क्योंकि बाहर से शान्त प्रतीत होनेवाला, उनका मन अन्तर्भीत है और अविश्वास उनके मन:प्राण में बसा हुआ है। यह मानसिक अविश्वास उन्हें उन्मुक्त हृदय से परस्पर मिलने नहीं देता तथा भीतर-ही-भीतर विष घोलता रहता है। इसीलिए किसी नीतिकार ने कहा कि—ये जो पृथ्वी पर कोटि-कोटि नर चलते हुए दिखाई देते हैं, पृथ्वी के भार हैं और मानो चलते-फिरते मांसवृक्ष हैं। इनके लम्बे चौड़े शरीर बोझ हैं और मानसिक चेष्टाएं पागलों जैसी हैं*। वस्तुत: आत्मप्रविष्ट विशुद्ध मन एक संस्था है, जो अपने सम्पर्क में आनेवाले को भी पवित्रता से मालामाल कर देती है। 'साधु' शब्द का अर्थ प्रशस्तमानस व्यक्ति है।

---

* *'विपर्यस्तमनश्चेष्टै: शिलाशकलवर्ष्मभि: ।*
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा ।।'

कोरे तन की सुन्दरता से साधुत्व नहीं मिलता । जब मन में पवित्रता, संस्कारिता, उच्चाशयता एवं आत्मनिष्ठा जागृत होती है तब उसे साधु कहा जाता है। ऐसे साधुओं के चरणों में बैठते ही मन में पवित्रता का संचार होने लगता है । प्राचीन समय में समाज तथा राष्ट्र का जीवनस्तर समुन्नत था और परस्पर विश्वास, स्नेह और प्रेम का वातावरण था, उसका कारण यही साधुमन था, जो सर्वत्र अपनी शुचिता को विस्तारित करता था । परिणामस्वरूप राष्ट्र का जीवन सुखी था । इस प्रकार मन की सृष्टि जागतिक जीवन को प्रभावित करती है और बड़ी-बड़ी क्रान्तियों को जन्म देती है। मन का स्वरूप चंचल बताया गया है। 'श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो-मर्कटममुम्'–कहते हुए शास्त्रकारों ने इसे 'मर्कट' वानर कहा है । इस पर बुद्धि का अंकुश रहने से मनुष्य सहसा उपसहनीय नहीं बनता । अन्यथा यह मन कभी-कभी बड़े-बड़े व्यक्तियों को भी लज्जा से लाल कर देता है। कहते हैं, एक व्यक्ति किसी गोपनीय पत्र को लिख रहा था, उसी समय पास बैठा हुआ व्यक्ति उसे पढ़ने लगा। पत्रलेखक ने लिखना चालू रखा और लिखा 'शेष समाचार तुम्हें दूसरे किसी समय लिखूंगा, क्योंकि इस समय इस पत्र को एक मूर्ख पढ़ रहा है।' पत्र पढ़नेवाले व्यक्ति को शर्म आई और वह मुंह फेरकर बैठ गया। इसी प्रकार की एक घटना राजा भोज से सम्बन्धित बतायी जाती है। कहते हैं कि भोज की दो रानियाँ एकान्त वार्तालाप कर रही थीं। उसी समय बिना पूर्वसूचना के–'मैं राजा हूँ, पति हूँ'–ऐसा दर्प रखकर भोज उनके बीच में उपस्थित हो गये। बड़ी रानी ने 'आओ, मूर्ख !' कहकर पतिदेव का स्वागत किया। राजा उल्टे पैरों लौट आया । वह अपने प्रति प्रयुक्त 'मूर्ख' शब्द पर विचार करने लगा और मन को शान्ति देने राजसभा-भवन में जा बैठा। वहाँ जो भी शूर, सामन्त, विद्वान् आते उन्हें वह 'आओ, मूर्ख' कहने लगा। लोग चकित थे कि विद्वत्शिरोमणि को आज क्या हो गया है ? तभी कालिदास ने राजसभा में प्रवेश किया। राजा ने उन्हें भी वैसा ही कहा। सुनकर कविराज ने राजा के किसी प्रच्छन्न अभिप्राय का अनुमान किया और कहा–'हे राजन् ! मैं खाता हुआ मार्ग नहीं चलता, हँसता हुआ वार्तालाप नहीं करता, बीते हुए को लेकर चिन्ताग्रस्त नहीं होता, अपने द्वारा किये हुए उपकार को बहुत नहीं मानता और जहाँ दो व्यक्ति एकान्त वार्तालाप करते हों, वहाँ तीसरे के रूप में उपस्थित नहीं होता, हे भोज ! कौन सा कारण है कि मुझे 'मूर्ख' कहते हैं* । महाकवि का श्लोक सुनते ही राजा को अपने प्रति 'आओ, मूर्ख !' कहे जाने का रहस्य स्पष्ट हो गया। अहो ! मनोविज्ञान न जानने से ही उन्हें 'मूर्ख' शब्द सुनना पड़ा । यह मनोविज्ञान जीवनशास्त्र है, जीने की कला सिखाता है। जो लोग बड़े-बड़े उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने का दायित्व लेते हैं, वे मनोविज्ञान के प्रकाण्ड वेत्ता होते हैं। अवसर देखकर बोलते हैं–नीतिकारों ने कहा है–'कहिए समय विचारि'–समय का विचार करके बोलना चाहिए। 'अवसर-

---

* *'खादन्न गच्छामि हसन्न भाषे, गतं न शोचामि कृतं न मन्ये ।*
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्, किं कारणं भोज ! भवामि मूर्खः ।'–भोजप्रबन्धः

पठिता वाणी गुणगणरहितापि शोभते पुंसाम्'—समय देखकर कही हुई बात कभी-कभी साधारण होने पर भी बड़ा काम कर जाती है। इसी प्रकार समय निकलने पर कही हुई बहुमूल्य सूक्ति भी किसी प्रयोजन को सिद्ध करने में असफल रहती है। बारात निकल जाने के बाद ढोल पीटने से क्या लाभ! 'का बरसा जब कृषी सुखाने'—जब पानी की बाट देखते-देखते खेती सूख गई, तब बादल उठे हैं, ऐसी बरसा किस काम की? ये सूत्र मानसशास्त्र के ही हैं। 'बहुश्रुता व्युत्पत्तिरित्याचार्याः' मनुष्य को 'बहुश्रुत' होना चाहिए। केवल शास्त्रों की शुष्क फक्किकाओं के रटने से वैदुष्य नहीं मिलता। 'यो लोकवेदी वेदी स बहुवेदी'—जो लोकशास्त्र को जानता है, वह बहुत जानता है। व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में मनोविज्ञान की अपरिहार्य आवश्यकता है। 'किं मे जनः पश्यति भावभाषिते'—मेरे भावों और भाषणों पर लोग क्या विचार रखते हैं? यह सरल बात जो नहीं जानता, सफलता उसे नहीं मिलती। अनेक लोग सभाओं में बोलते हैं, लोग एक-एक कर उठने लगते हैं, आपस में बातचीत शुरू कर देते हैं किन्तु वक्ता अपने लम्बे व्याख्यान को लघु नहीं करते। वे लोकमानस की अरुचि को जानकर भी बोलते रहते हैं। ऐसे लोग दया के पात्र हैं। 'टेपरेकार्डर' यंत्र उनके कण्ठ में लगे हुए हैं, जब तक 'फीता' समाप्त नहीं हो जाता, चुप कैसे हो सकते हैं? कहना चाहिए कि वक्तृत्व-कला का मनोविज्ञान से सीधा सम्बन्ध है। किसी नीतिकार ने राजनीति को वारांगना की उपमा देते हुए लिखा है कि उसके रूप पल-पल में बदलते रहते हैं। 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' यदि क्षण-क्षण में परिवर्तनशील राजनीति को मानसशास्त्र के दर्पण में नहीं देखा जाए तो सफलता दुर्लभ है।

जैसे मयूरपंख वायु के अल्पस्पर्श से भी डोलायमान हो जाता है उस प्रकार यह मन विषयादि स्पर्श से चलायमान हो जाता है[1]। पीपल का पत्ता कभी स्थिर नहीं रहता, इसीलिए उसे 'चलपल्लव' कहते हैं। यह मन भी वैसा ही है। इसकी चंचलता को रोकने के लिए इसे सर्वदा स्थिर रहनेवाले आत्महंस में सुप्रतिष्ठ करना श्रेयस्कर है[2]। क्योंकि मन की चांचल्यवृत्ति का निरोध किये बिना आत्मकल्याण के मार्ग पर एक पाद भी अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। जो मोक्षगामी हुए हैं, उन्होंने प्रथम मन को रागादि परिणति से मुक्त किया है तदनन्तर ही वे मोक्ष प्राप्त कर सके हैं। जब बहिरंग तथा अन्तरंग मोह, अज्ञान एवं कषाय की निवृत्ति हो जाती है, तब मन स्थिर होता है, वश में आता है। जब स्थिरता प्राप्त होती है, तब ध्यान-समाधि में प्रवृत्ति होती है[3]। अतः कर्मबन्ध का क्षय करने के लिए मन को विभावावस्था से स्वभावावस्था

---

१. *'वातान्तः पिच्छलववच्चेतश्चलति चञ्चलम्'—योगवासिष्ठ १६।१*

२. *'निर्व्यापारे मनोहंसे तुंहंसे सर्वदा स्थिरे।*
बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे॥'—

३. *'बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं दीपवन् मनः।*
यस्य स्याद्वीतमोहस्य स ध्यानं ध्यातुमर्हति॥'—महापुराण, २१।१९

की ओर लौटाना आवश्यक है। कषायों से तथा इन्द्रियों के सम्पर्क से व्याकुल हुआ मन बार-बार भवचंक्रमण कराता है। अतः मन से हुए कर्मबन्धों को प्रबल पुरुषार्थ के उदय से मन द्वारा ही क्षय कर जीव मोक्षगामी होता है[1]। इसी आशय का निरूपण करते हुए 'महापुराण' में आचार्य जिनसेन ने कहा है कि—'ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग की विशुद्धि से रागद्वेष का नाश होता है और संवरपूर्वक निर्जरा होती है। ये रागद्वेष ही कर्मबन्ध के हेतु हैं और मन की विभावपरिणति से उदय में आते हैं। इस प्रकार कर्मबन्धनिरसन करने पर निःसन्देह मुक्ति हो जाती है[2]। मन के विषय में लौकिक विज्ञान से परे यह आत्मविज्ञान प्राप्त करना ही उसकी वास्तविक उपलब्धि है; क्योंकि मन के वशीकरण, समुन्नयन तथा आत्मप्रतिष्ठ करने का यावत् प्रयत्न कर्मनिर्जरा है, मोक्षप्राप्ति है। संसार में विचरण करनेवालों के लिए जितना वक्तव्य दिया गया है वह लौकिक अपेक्षा से है। इसके परिज्ञान का उत्तम तथा वास्तविक उपयोग तो आत्मोपलब्धि ही है। कहते हैं—'तस्मिन् सिद्धे कृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्'। □

---

१. *'चित्तेन जनितं कर्म चित्तेन परिशुद्ध्यते।'*

२. *'उपयोगविशुद्धौ च बन्धहेतूनुदस्यतः।*
संवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसंशयः॥'—महापुराण, २१।१९

चारित्र बिना मुक्ति नहीं

मुक्ति शब्द का अर्थ है मोक्ष, बन्धनों का विगलन, निर्बन्ध, होना, छुटकारा। कौन निर्बन्ध होना नहीं चाहता और किसे छुटकारा अथवा स्वतंत्रता प्रिय नहीं लगती ? अत: कहा जा सकता है कि मुक्ति सर्वप्रिय विषय है और इसकी प्राप्ति परमानन्दप्रद है; किन्तु प्रिय होने मात्र से प्रियत्वयुक्त उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती। ज्ञान और प्राप्ति में यही अन्तर है। संसार के कोटि-कोटि जन अनेक विषयों, वस्तुओं का ज्ञान रखते हैं। शिर के ऊपर से अभी-अभी उड़कर गई वस्तु को वे जानते हैं कि वह वायुयान है परन्तु जो उसमें बैठकर उड़ रहे हैं उन्होंने पुरुषार्थ कर उसमें अपना स्थान आरक्षित करा लिया है और जो भी उसमें आसीन होने के लिए उत्सुक हैं, उसे यथाविध 'सीट बुक' कराने का उपक्रम करना होगा। नहीं तो गाँवों, नगरों और मैदानों के ऊपर से वायुयान उड़ते रहेंगे, सदियाँ बीत जाएंगी, उनकी दौड़ती हुई छाया को पकड़ने का निष्फल प्रयत्न करते और उनकी गूंज को पवन में तैरते हुए सुनते। उनकी उड़ान की शताब्दियाँ, उन इच्छावान् परन्तु प्रयत्नहीनों के एक जन्म से दूसरे जन्मों में बदल जाएंगी, बदलती जाएंगी और बिना पुरुषार्थ किये उसका फासला (अन्तर) कभी कम नहीं होगा। नयी पीढ़ी के बालक पुराने खण्डहर होकर सो जाएंगे और मिट्टी नये, चिरनये निर्माण चिनती रहेगी। एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता और चारित्र बिना ज्ञान और दर्शन-रथ, का चक्र घूम नहीं सकता। रथ के अरों में गति लाने के लिए स्नेह चुपड़ना होगा और निर्बन्धन होने के संकल्प साधने के लिए परम पुरुषार्थ करना होगा। चारित्र, सम्यक्चारित्र ही वह परम पुरुषार्थ है जिसका 'परमत्व' प्रत्येक के वश में नहीं। यों लोग हैं बड़े वीर, धीर और शौर्य को साकार करनेवाले परन्तु अपने शील, संयम, तप, त्याग के अनेक प्रदेशों पर एकनाम आधिपत्य करनेवाले चारित्ररूप विकट भट को वशीभूत करनेवाले कोई विरले ही मिल पाते हैं। किसी सूक्तिकार ने कहा है कि 'मदोन्मत्त हाथियों का कुम्भस्थल रगड़ देनेवाले शूर मिल सकते हैं, प्रचण्ड मृगराज सिंह की अयाल खींचकर उसके दांतों की अंगुलिस्पर्श से गणना करनेवाले भी सुने हैं किन्तु कुपित हुए मनोभव—कामदेव के इन्द्रियक्षोभकर व्यापार को पराजित करनेवाले बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।' और यह कोई अतिरंजित कथ्य नहीं है, सत्य है। कामिनी, कांचन, परिग्रह, मोह, संसार का आपातरमणीयरूप, विषयोपभोगों के बहिरंग माधुर्य—बलवान् को भी धक्का देकर गिरा देते हैं। इस रूप में सम्यक्चारित्रपालन तीक्ष्ण खड्ग की धारा है जिस पर सन्तुलन रखकर चलना किसी कठोर साधनाओं में पारगामी के बूते की बात है। वैसे दो खाट चौड़े परकोटों पर घोड़ा दौड़ानेवाले बहुत मिल जाते हैं। वे भी खड़ी दीवार पर दौड़ सकने की

अपनी विशिष्टता की डींग हांकते हैं किन्तु हमें उनसे वाद नहीं करना है; वे यथेच्छ दौड़ा करें ।

आध्यात्मिक सम्पदा से सम्पन्न होने की अभिलाषा से धर्मरुचि जाग्रत होती है। धर्मरुचिमान् व्यक्ति धर्म के व्यावहारिक भेदों अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्म, अपरिग्रह, क्षमा, आर्जव, मार्दव इत्यादि को जीवन में उतारने की चेष्टा करता है और अभ्यासपरायण रहकर धीरे-धीरे व्रती हो जाता है। व्रतों का नियम-निष्ठा से पालन, उसमें शुचिता, सम्यक्त्व और आत्मोद्धार-भावना को उत्कट करने में सहायता करता है। इस प्रकार धर्म को अग्रगामी बनाकर आहार, विहार शयन, आसन, मौन, भाषण आदि समस्त क्रियाकलापों का निर्वहण उसे चारित्र के नित्य समीप करता रहता है। चारित्र का बहिरंग व्यवहाररूप और अन्तरंग निश्चयपरक है। इस सम्यक्चारित्र की उपलब्धि से पूर्व मनुष्य प्रलोभन के प्रहरियों में रहता है, भटकावों के अरण्यों में विचरता है, आसक्तियों के नित्यनवीन आकार खोजता है, रति के लिए नये आलम्बनों का अन्वेषण करता है। अपने जन्मवर्षों की जयन्तियाँ मनाता है, बधाइयाँ लेता है और रोग को 'पिपरमेण्ट' की गोलियाँ चूसकर दूर करने की कोशिश करता है। उसके आसपास के लोग कफ़न ओढ़कर जाते रहते हैं और वह हाय-तोबा के शोर-शराबे में हास्य-विनोद की फुलझड़ियाँ बीनता रहता है। श्मशान से दूर होकर निकलता है और रंगनाच भरी क्लबों, थियेटरों में जमकर बैठता है। एक सत्य, एक जलती चिता, जिसे अभी वह देखकर आ रहा है, उसकी ओर बढ़ती आ रही है; उसका धुआँ श्वासों में घुटता-सा प्रतीत होता है। चाय की प्याली में चीनी नहीं, राख मिली है और सिगरेट की धुआं के छल्लों में प्रेत नाच रहे हैं। अब अंगुलियों में से वह सिगरेट भी गायब हो गई है। देखने पर लगता है कोई सफेद हड्डी अंगुलियों में फँसी हुई है और जल रही है जैसे चिता से उचट कर आ गई हो। हड़बड़ाकर वह उसे फेंक देता है और उस चिनगारी से सारा 'थिएटर हॉल' जल उठता है। पर्दे, कुर्सियाँ और दर्शकों के वस्त्र, दीवारों का रोग़न लपटों से घिर गये हैं। वह चुपचाप बाहर हो जाता है; किन्तु अब तो बाहर से भी अग्नि की जिह्वाएँ लपलपाती दीख रही हैं। आकाश में उड़ती चीलें और ऊँची चली गईं। 'इतनी आग? सिगरेट के मुंह पर से जिसे पिया जाता है, कितनी विस्फोटक है। थिएटर के पर्दे, कुर्सियाँ, बेंचें, दीवारें और रोगन सब में आग भरी है और लोग तपन मिटाने आते हैं यहाँ! बैठते हैं और 'कोकाकोला' पीते हैं। बारूद के ढेर को गद्य, कालीन बताते हैं।'—वह सोच रहा है। लो, घण्टियों की तुमुलध्वनि बढ़ रही है; अग्निशामक यन्त्र आ पहुँचे। आग बुझा दी जाएगी। कल थिएटर में फिर नये पर्दे, कुर्सियाँ और कोई नया अभिनय! जीवन के रंगमंच की यही स्थिति है। नित्य विनाश की भट्टी राख फैलाती है और नित्य आनेवाली उषा उस पर कुंकुम बिखेर जाती है। अज्ञानान्ध मनुष्य जन्म और पुनर्जन्म के थिएटरों में बैठकर धुएँ के छल्ले बनाता रहता है। उन छल्लों के परिवेश में गन्धर्वलोक की सृष्टि करता है; परन्तु धुएँ की जमीन और पानी की दीवार के सहारे कौन टिक पाया है? मिथ्यात्व

का आश्रय अपने आपको छलना है। भोगों की लालसा एक विशाल मृगतृष्णा है। इसमें भटके हुए को पानी नहीं मिलता। मनुष्य को चाहिए कि वह जितना शीघ्र इस प्रदेश से निकल सके, निकल जाए और उस सरोवर की खोज करे जिसमें निर्मल जीवन हो। विवेकशील जनों का अभिमत है कि ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानबल से कर्मों को खपा डालता है, क्षय कर देता है; किन्तु इसके साथ ज्ञानानुकूल वर्तना (चारित्र) करना अत्यावश्यक है। बिना वर्तना के, सम्यगाचरण के—कर्मों की निर्जरा नहीं की जा सकती है। कोई रोगी किसी तद्‌रोगनिवारक उत्तम औषधि को सम्मुख रखकर प्रमाणित करे कि मैं इस औषधि को जानता हूँ; क्या इतने मात्र से रोग-शान्ति हो जाएगी? शीतल जल को देख लेने या उसका नामोच्चारण करने मात्र से तो तृषा शान्त नहीं हो जाती? किसी गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए वाहन-विशेष का स्मरण तो उपकारक नहीं हो सकता। उसके लिए चारित्र-चर्या, आचरण करना आवश्यक होगा[1]। हाँ! ज्ञान होना आवश्यक है। बिना ज्ञान के आचरण कैसे होगा? ज्ञान होने का फल आचरण से प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान होने के पश्चात् कि 'यह जल है'—जल के अभाव में मरना अपमृत्यु है, जीवन के साथ जानबूझकर खिलवाड़ करना है। ज्ञान की प्राप्ति तत्त्वदर्शी ज्ञानसम्पन्न गुरुओं के चरणों में श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासीन होने से सम्भव है। 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'—तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें उपदेश करेंगे, यह चिरन्तन मत है। उन्हें विनीत प्रश्नों से, जिज्ञासा के भाव से पूछकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट है। यह ज्ञान सम्यक्‌चारित्र का सहचर है। 'परीक्षामुख' में कहा गया कि—'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्'—जो हितप्राप्ति तथा अहितपरिहार करने में समर्थ है, वही स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक सम्यक्‌ज्ञान है, वही 'प्रमाण'[2] भी है। यह सम्यक्त्वानुमोदित सम्यग्ज्ञान प्राणी के अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय करने में सहायक होता हुआ भव्यात्मा को सम्यक्‌चारित्र में प्रवृत्त कर मोक्षमार्ग पर ले जाता है। 'भव्यजनकण्ठाभरण' कार ने लिखा है कि 'सम्यग्ज्ञान भावी कर्मों का क्षय करता है, सम्यक्‌चारित्र समस्त पूर्वसंचित कर्मों का नाश कर देता है और सम्यग्दर्शन इन दोनों की पुष्टि का हेतु होता है।' इस प्रकार 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्रकार का आशय सर्वथा सत्य सिद्ध होता है[3]। अतः मुक्तिश्री-अभिलाषी को सम्यग्ज्ञान-दर्शनपूर्वक सम्यक्‌चारित्र का अंचल दृढ़ता से थाम लेना चाहिए। जो चारित्र-नौका पर आरूढ़ है और जिसे सम्यग्ज्ञानदर्शनरूप दो खेवट मिले हुए

---

१. *'णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेण दि सुबोलए अण्णाणी।*
विज्जो भेषज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही॥'—आ. कुन्दकुन्द.

२. *विशेषार्थ—'प्र'—प्रकृष्ट; 'मा'—अन्तरंग केवलज्ञान एवं बहिरंग समवसरणमूलक लक्ष्मी और 'अण'—दिव्यध्वनि। इस प्रकार प्रकृष्ट अन्तरंग-बहिरंगलक्ष्मीसमन्वित 'दिव्यध्वनि' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के वचनामृत ही सर्वोपरि प्रमाण हैं।'*

३. *'सज्ज्ञानमत्र क्षतभाविकर्म सद्‌वृत्तमस्तार्जितकृत्स्नकर्म।*
सम्यक्त्वमेतद्‌द्वयपुष्टिहेतुरिति त्रयं स्यात् सफलं तदेव॥'—२२०

हैं वह सुखपूर्वक धार के पार पहुँच जाता है[१]। चारित्र की प्रशंसा करते हुए अर्चकों की वाणी थकी नहीं है। 'चारित्तं खलु धम्मो' 'न चारित्रात् परं तपः' 'यत् सम्यग्दर्शन यच्च सम्यग्ज्ञानमुभे अपि सम्यक्चारित्रमितः'—'सम्यक्चारित्र ही धर्म है, चारित्र से बढ़कर कोई तप नहीं; यह जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं, दोनों चारित्र के मित्र हैं।' चारित्र स्पर्शमणि है, जिसे छू देता है सुवर्ण बना देता है। यह त्यागियों के साथ कदम मिलाकर चलता है किन्तु रागी इसे दौड़कर भी नहीं पा सकते। चरिता की सफलता तब है, जब चारित्र उसका आत्मा, सर्वस्व और अंग बन जाए। ऊपर से ओढ़ा हुआ चारित्र किसी समय उतारा भी जा सकता है। वह नाखून बनकर रहना चाहिए कि छीलते ही प्राण व्यथित हो जाएँ। अग्नि और उष्णता के समान चारित्र और चारित्रवान में एकीभाव होना चाहिए। यदि अग्नि से उष्णता अविभाज्य है तो चारित्रवान् में से उसका चारित्र निकाल बाहर करना असम्भव होना चाहिए। अनल कहीं भी जलेगा और चारित्र कहीं भी पलेगा अपने स्वरूप को कभी नहीं छलेगा। चारित्र सुगन्धि का भण्डार है, सुन्दरता का आगार है, उसके रूप को पीने के लिए, उसके सौरभ में अवगाहन करने के लिए लोग दूर-दूर से दौड़े चले आते हैं। चारित्र को सर्वोत्तम वित्त बताते हुए कहा गया है कि वित्त (धन-सम्पदा) क्षीण हो गये तो कोई विशेष हानि नहीं हुई; किन्तु यदि चारित्र चला गया तो सब कुछ नष्ट हो गया। उसके लिए तीनों लोक डूब गये, सूर्य राख हो गया और चन्द्रमा को सदा के लिए खग्रास लग गया; क्योंकि चारित्रहीन को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, चन्द्रमा आह्लादित नहीं कर सकता और तीनों लोक मिलकर उसे उबार नहीं सकते। अमितगति आचार्य का अभिमत है कि 'जिसके पास पर्वतिथि पर उदय होनेवाले इन्दु के समान अनिन्द्य चारित्र सुरक्षित है वास्तव में वह मान करने योग्य है, कुलीन है, संसारसेव्य (जग-त्पूज्य) है, जन्म को कृतार्थ करनेवाला है और महत्त्व-बुद्धि का अधिकारी है[२]।' सागार-धर्मामृत कहता है—'अधिक कहने से क्या? जो अनादिमिथ्यादृष्टि हैं उन्होंने भी इस अनुपम सम्यक्चारित्र का पालन कर क्षण में मुक्ति प्राप्त की है। अतः चारित्र सर्वो-परि इष्ट है[३]।' चारित्ररहित की सब क्रियाएँ, जिन्हें वह धर्मसम्पादनार्थ करता है, मोघ हैं। भस्म पर घृत होमने से जैसे अग्नि दीप्त नहीं होती वैसे 'सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः'—उसकी सारी क्रियाएँ अफल हैं; क्योंकि धारकत्वगुण धर्म में है और धर्म चारित्रमय है। एतावता धर्म और चारित्र एकार्थी शब्द हैं। अतः चारित्रच्युत होना धर्मभ्रष्ट होना है। शीलवान् और कुलीन कभी ऐसा सदोष मार्ग ग्रहण नहीं करते।

---

१. 'आरुह्य चारित्रतरीमवाप्य सज्ज्ञानमद्दर्शनधीवरौ द्वौ।
अक्लेशमेवोत्तरति प्रसन्नः पारे भवाब्धि ननु वीतरागः॥'—सुधानिधिसुभाषित

२. *'विनिर्मलं पार्वणचन्द्रकान्तं यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः॥'—अमितगति.*

३. *'आराध्यचरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत् क्षणतः।
दृष्टा विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम्॥'—सागारधर्मामृत.*

चारित्रवान् केवल अपने लिए ही जीवित नहीं रहता, वरन् उसके आचरण पर समाज का जीवन सुरक्षित रहता है। लोग अपने आचारमार्गों का निर्धारण करते समय उन्हीं चारित्ररत्नपालकों की ओर अपेक्षा की आंख से देखते हैं। उनके आचरणों से उत्साहित होकर वैसा ही अनुवर्तन करने लगते हैं* । उनका तपोमय जीवन प्रतिपद आदर्शों के विद्यालय स्थापित करता चलता है। उदय होते सूर्य से सारा संसार प्रकाश ग्रहण करता है और चारित्रसम्पन्न महामानव लोकमंगल के स्वस्तिकों का निर्माण अपने पदविन्यास से करते चलते हैं। राष्ट्र और संस्कृति का स्वाभिमान चारित्रवानों के प्रशस्त ललाट से दीप्ति ग्रहण करता है। सूर्य और सच्चारित्र व्यक्ति जैसे-जैसे ऊपर उठते हैं, अपने तेज से सत्प्रकाश फैलाते हैं और जीवन को प्राणवान् होने का मंत्र-बल प्रदान करते हैं। देश अर्थात् देश में रहनेवाले चारित्र के माध्यम से ही ऊँचे उठते हैं। यदि और सम्पदाएँ प्रचुर मात्रा में भी हों, किन्तु चारित्र नहीं हो तो 'सम्पदो नैव सम्पदः'—सम्पदाएँ वास्तव में सम्पदात्व की अधिकारिणी नहीं कही जा सकतीं। इस प्रकार मनुष्य के भीतर उत्कर्षों का मान भी चारित्र द्वारा ही स्थापित होता है। त्यागमार्ग तो बिना सम्पूर्ण निर्मल चारित्र के चल ही नहीं पाता। यहाँ तो चारित्र-पालन प्रथम है। आदर्शों को चारित्र के परिवेश (फ्रेम) में मण्डित करना चाहिए। जब आदर्श चारित्रमय होंगे तो उनमें एक दिव्य आभा प्रस्फुरित होगी। इसी प्रकार जब चारित्र का पथ ऊँचा उठेगा, वह आदर्शों का निर्माण करनेवाला होगा। उसकी यात्रा के संस्मरण मील के पत्थरों पर दैवी संहिताओं को लिखते चलेंगे। आज अढ़ाई हजार वर्ष हो चुके, दिव्यध्वनि के उस उपदेष्टा को, जिसकी वाणी को अक्षरबद्ध करनेवाली मसि अभी ताजा है। चारित्र के स्वर अमिट और लिपि चिरनवीन होती है; क्योंकि, इन स्वरों और अक्षरों में निष्कलंकता तथा निर्मलता घुली रहती है। प्रायः लौकिक मसि कालिमा से निर्मित होती है; किन्तु भगवान् चारित्रशिरोमणि के वचन तो अनुपम तथा निष्कलंक हैं। जो स्वयं कर्मरज से विप्रमुक्त है उनके सन्देशों को धूलिस्पर्श कैसे हो सकता है? उनके दिव्यध्वनिसम्भूत स्वरों को जलदभाषी इन्द्र 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्या' इत्यादि पदों द्वारा स्वयं लोक में निनादित करता है और गौतम जैसे दिग्गज विद्वान् उस पर संगतियाँ लिखते हैं। चारित्रचक्रवर्ती भगवच्चरणों को नमस्कार हो।

लोक में जो वस्तु अधिक सम्मानित एवं उत्कृष्ट हो, उसके विषय में लोकदृष्टि भी अधिक एवं तीक्ष्ण कठोर होती है। रत्न-मणियाँ सदैव ऊँचे मूल्य पर बिकती हैं किन्तु सर्वाधिक परीक्षा भी उन्हें ही देनी होती है। सुवर्ण को तो अपनी विशुद्धि का प्रमाण कषोपल पर ही नहीं, अनल में देना होता है। वज्र (हीरा) वज्र से ही समुत्कीर्ण किया जाता है। रत्निक (जौहरी) जब उसका मूल्यांकन करने लगते हैं तो अपनी आलोचना की तीक्ष्ण दृष्टि को, अपने परम्परागत अनुभवों के सहस्र वर्षों को उस पर लगा देते हैं।

* 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥'

उसकी छाया, कान्ति, गुण, लेश्या, सामुद्रिक—सभी की कुण्डली अबतक बनकर नहीं तैयार हो, वह अपने मूल्य को नहीं पा सकता। इसी प्रकार चारित्रधारियों के प्रति लोगों की दृष्टि हजार होकर उठती है। रत्न की परीक्षा तो एकबार होती है, परन्तु चारित्ररत्न को तो पदे-पदे परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता है। रत्न के पारखी तो कुछ गिने-चुने व्यक्ति होते हैं परन्तु चारित्रमणि को परखने के लिए सभी जौहरी बन जाते हैं। जिनका स्वयं का चारित्रज्ञान और चारित्र निम्नकोटि का होता है वे भी परीक्षकों की अग्रपंक्ति में अवस्थित होकर भावांकन करने लगते हैं। हीरा यदि अल्पसदोष हुआ तो उसका अनुपात से किंचित् अवमूल्यन हो सकता है; किन्तु चारित्र का हीरा यदि शतप्रतिशत तुलामान नहीं रखता है तो सर्वथा मूल्यवंचित हो जाता है। 'वृत्ततस्तु हतो हतः' – चारित्र से हत तो मृतक ही है। मरे हुए लशुन को वैद्य जैसे निर्माणशाला से निकालकर कचरे के ढेर पर फेंक देता है, वैसे ही लोक दुश्चारित्र अथवा अचारित्र से प्रतिष्ठा के उच्चासन को छीन लेता है। अतएव चारित्र को बहुत सम्भाल कर चलना श्रेयस्कर है । लोग छिद्र देखते हैं, ढूंढ़ने में लगे रहते हैं। यह उनकी प्रवृत्ति है। चाहे त्यागी विमलाचारपरायण ही क्यों न हो? इस दृष्टि से, मन से भी लौकिक या अलौकिक आचार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए[1]।' साबुत (अभग्न) घड़े (कुम्भ) को भी टकोर लगाना लोकवृत्ति की परम्परा है। वैसे यह चारित्रपालक के पक्ष में है उस कांटोंभरी थोर की बाड़ के समान, जो बिना बोये उगकर उपयोगी क्षेत्र की रक्षा करने लगती है। नागफनी (थोर) से डरकर स्वच्छन्द चरनेवाले पशु उसे हानि नहीं पहुँचाएँगे। आलोचना का यह पक्ष स्तुत्य है। विरोधीदल राष्ट्र की संसद् को, सत्तारूढ़ दल को अप्रमत्त रखता है। शत्रु का आक्रमण सीमा को सुरक्षात्मक प्रयत्न प्रदान करता है। इसीलिए किसी नीति-उपदेष्टा ने परामर्श दिया है कि शत्रुओं के वध की इच्छा न रखते हुए उन्हें आशीर्वाद दो कि वे जीवित रहें। उनकी उन्निद्र आँखों के पहरे में मैं निराकुल होकर सोता हूँ। जब-जब मुझे प्रमाद होता है, वे चेतावनी देकर मेरे लिए मार्ग प्रशस्त करने में लगे रहते हैं[2]।' यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना है। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' – अपनी कविता किसे अच्छी नहीं लगती? अपने को सर्वसुन्दर कौन नहीं मानता? व्यक्ति दूसरों की कमियों को तुरन्त देख लेता है किन्तु अपनी समीक्षा करने में चूक जाता है। कहा है कि अपनी त्रुटियाँ यदि विल्वफल के समान बड़ी-बड़ी भी हों तो दिखायी नहीं देतीं किन्तु दूसरे में सरसों के दाने जितनी भी हों तो उन्हें पर्वताकार देखने-बताने में नहीं चूकतीं[3]।' इसलिए 'चरन्ति यत् शीलधनास्तपोधनास्तदस्ति चारित्रमिदं महाव्रतम्'—शील को परमधन माननेवाले तपोधन महाव्रती होते हैं और सम्यक्चारित्र वही महाव्रत है। त्रियोग को

१. *'यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी। तथापि लौकिकाचारं मनसापि न लंघयेत् ॥'*

२. *'जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव येषां प्रसादाद् विगतज्वरोऽहम्।*
यदा यदा मां भजते प्रमादस्तदा तदा ते प्रतिबोधयन्ति ॥'

३. *'नरः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।*
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥'

सम्भालकर, त्रिकरणशुद्धिपूर्वक वे चारित्र की रक्षा करते हैं। जैसे कृपण अपने वित्त का एकांश भी व्यय नहीं करता, वैसे वे चारित्र की एक कोर भी खण्डित नहीं होने देते।

चारित्र का उल्लंघन महान् अपराध है। चारित्र नैतिक पुस्तक का प्रथमाध्याय है, प्रथम वर्ण और प्रथम पद है। जैसे गौ के स्तनों का दूध दुहा जाकर ही कृतार्थता को प्राप्त होता है वैसे आदर्श भी चारित्र में ढलकर उपयोगी होते हैं। किसी ने कहा है कि ताल को सुखा देनेवाले उन सहस्रों पृष्ठोंवाले दीर्घकाय ग्रन्थों को पढ़ने से क्या लाभ ? एक अक्षर ही पढ़ो, परन्तु उस प्रकार कि 'शिवपुर' (मोक्ष) का मार्ग मिल जाए। यह वास्तविकता है। किसी विशाल पुस्तकालय को देखने मात्र से विद्या प्राप्त नहीं होती, किसी एक पृष्ठ को तन्मयता से देखने, पढ़ने से, उसे हृदयंगम करने से आत्मा को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है। मर्मस्थल पर लगा हुआ एक ही बाण मृत्यु के लिए अलं है और यों स्थान-भ्रष्ट तीरों की बौछार से भी चोट नहीं आती। मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मकल्याण के उस केन्द्र को ढूंढ़ निकाले, उसे जान ले और सतत् कृतोद्यम होकर मार्ग पर चलता रहे। क्योंकि 'मार्गस्थो नावसीदति' – पथ पर चलनेवाला अवसन्न नहीं होता। कभी-न-कभी वह मंजिल को पा लेता है। एक चीनी कहावत है–'हजार मील लम्बी यात्रा एक कदम से शुरू होती है'–अतः जो अपने एक पदन्यास का महत्त्व जानता है वह हजार मील के समापन के लिए दूसरे पद को अवश्य उठाता है और वनों, दुर्गम घाटियों, पर्वतों तथा नदियों को पार कर अपनी लक्ष्यसिद्धि पर पहुँच जाता है। रास्ते में वह इधर-उधर के भटकावों, भुलावों और मन को प्रिय लगनेवाले विष्कम्भों पर नहीं रुकता। अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने के दुर्धर्ष संकल्प उसके साथ कदम मिलाकर चलते हैं। सूर्य इसी गति से चलता है। उसे प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश पार करने होते हैं। कभी दक्षिण तो कभी उत्तर उसे रुकने के लिए आग्रह करती हैं। चारित्रमार्गी को भी मोह तथा प्रलोभन की दिशाएँ आती हैं। विमुग्ध करनेवाले 'मीना बाजार' मिलते हैं, परन्तु मुक्ति-नगर के यायावर अकम्प, स्थिर गति से चलते जाते हैं। यही उनकी सफलता है। स्वीकार किये हुए व्रत को निबाहने की आस्था है। किसी नीतिकार ने कहा है कि 'कार्य का आरम्भ न करना बुद्धिमान् का प्रथम लक्षण है और यदि कार्य आरंभ कर दिया तो उसे परि-समाप्ति तक पहुँचाना दूसरा लक्षण है[1]।' प्रारम्भ किये काम में निरन्तर विघ्न आने पर भी उत्तम व्यक्ति उसका परित्याग नहीं करते[2] –ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। मन में राग और बाहर त्याग, यह भयानक स्थिति है। हिमालय को लोग हिमालय मानकर जाते हैं यदि वह फूटकर ज्वालामुख हो निकले तो विश्वास तो पराजित होगा ही, पर्यटन भी रुक जाएगा, सन्देह बढ़ेगा। 'बाह्यग्रन्थिविहीना:'–श्लोक में यही आशय व्यक्त किया गया है वास्तव में चारित्र के चरणचिह्न बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होने चाहिए। धूमिल, आधे उठे हुए, पथ से विचलित चिह्न अनुयायिवर्ग में दिग्भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। सर्वोदय-

---

१. *'अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।*
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥'

२. *'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।'–नीतिशतक*

उसकी छाया, कान्ति, गुण, लेश्या, सामुद्रिक—सभी की कुण्डली जबतक बनकर नहीं तैयार हो, वह अपने मूल्य को नहीं पा सकता। इसी प्रकार चारित्रधारियों के प्रति लोगों की दृष्टि हजार होकर उठती है। रत्न की परीक्षा तो एकबार होती है, परन्तु चारित्ररत्न को तो पदे-पदे परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता है। रत्न के पारखी तो कुछ गिने-चुने व्यक्ति होते हैं परन्तु चारित्रमणि को परखने के लिए सभी जौहरी बन जाते हैं। जिनका स्वयं का चारित्रज्ञान और चारित्र निम्नकोटि का होता है वे भी परीक्षकों की अग्रपंक्ति में अवस्थित होकर भावांकन करने लगते हैं। हीरा यदि अल्पसदोष हुआ तो उसका अनुपात से किंचित् अवमूल्यन हो सकता है; किन्तु चारित्र का हीरा यदि शतप्रतिशत तुलामान नहीं रखता है तो सर्वथा मूल्यवंचित हो जाता है। 'वृत्ततस्तु हतो हत:' – चारित्र से हत तो मृतक ही है। मरे हुए लशुन को वैद्य जैसे निर्माणशाला से निकालकर कचरे के ढेर पर फेंक देता है, वैसे ही लोक दुश्चारित्र अथवा अचारित्र से प्रतिष्ठा के उच्चासन को छीन लेता है। अतएव चारित्र को बहुत सम्भाल कर चलना श्रेयस्कर है। लोग छिद्र देखते हैं, ढूंढ़ने में लगे रहते हैं। यह उनकी प्रवृत्ति है। चाहे त्यागी विमलाचारपरायण ही क्यों न हो? इस दृष्टि से, मन से भी लौकिक या अलौकिक आचार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए[1]।' साबुत (अभग्न) घड़े (कुम्भ) को भी टकोर लगाना लोकवृत्ति की परम्परा है। वैसे यह चारित्रपालक के पक्ष में है उस कांटोंभरी थोर की बाड़ के समान, जो बिना बोये उगकर उपयोगी क्षेत्र की रक्षा करने लगती है। नागफनी (थोर) से डरकर स्वच्छन्द चरनेवाले पशु उसे हानि नहीं पहुँचाएँगे। आलोचना का यह पक्ष स्तुत्य है। विरोधीदल राष्ट्र की संसद् को, सत्तारूढ़ दल को अप्रमत्त रखता है। शत्रु का आक्रमण सीमा को सुरक्षात्मक प्रयत्न प्रदान करता है। इसीलिए किसी नीति-उपदेष्टा ने परामर्श दिया है कि शत्रुओं के वध की इच्छा न रखते हुए उन्हें आशीर्वाद दो कि वे जीवित रहें। उनकी उन्निद्र आँखों के पहरे में मैं निराकुल होकर सोता हूँ। जब-जब मुझे प्रमाद होता है, वे चेतावनी देकर मेरे लिए मार्ग प्रशस्त करने में लगे रहते हैं[2]।' यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना है। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' – अपनी कविता किसे अच्छी नहीं लगती? अपने को सर्वसुन्दर कौन नहीं मानता? व्यक्ति दूसरों की कमियों को तुरन्त देख लेता है किन्तु अपनी समीक्षा करने में चूक जाता है। कहा है कि अपनी त्रुटियाँ यदि विल्वफल के समान बड़ी-बड़ी भी हों तो दिखायी नहीं देतीं किन्तु दूसरे में सरसों के दाने जितनी भी हों तो उन्हें पर्वताकार देखने-बताने में नहीं चूकतीं[3]।' इसलिए 'चरन्ति यत् शीलधनास्तपोधनास्तदस्ति चारित्रमिदं महाव्रतम्'—शील को परमधन माननेवाले तपोधन महाव्रती होते हैं और सम्यक्चारित्र वही महाव्रत है। त्रियोग को

---

१. *'यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी। तथापि लौकिकाचारं मनसापि न लङ्घयेत् ॥'*

२. *'जीवन्तु मे शत्रुगणा: सदैव येषां प्रसादाद् विगतज्वरोऽहम्।
यदा यदा मां भजते प्रमादस्तदा तदा ते प्रतिबोधयन्ति ॥'*

३. *'नर: सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥'*

सम्भालकर, त्रिकरणशुद्धिपूर्वक वे चारित्र की रक्षा करते हैं। जैसे कृपण अपने वित्त का एकांश भी व्यय नहीं करता, वैसे वे चारित्र की एक कोर भी खण्डित नहीं होने देते।

चारित्र का उल्लंघन महान् अपराध है। चारित्र नैतिक पुस्तक का प्रथमाध्याय है, प्रथम वर्ण और प्रथम पद है। जैसे गौ के स्तनों का दूध दुहा जाकर ही कृतार्थता को प्राप्त होता है वैसे आदर्श भी चारित्र में ढलकर उपयोगी होते हैं। किसी ने कहा है कि तालु को सुखा देनेवाले उन सहस्रों पृष्ठोंवाले दीर्घकाय ग्रन्थों को पढ़ने से क्या लाभ ? एक अक्षर ही पढ़ो, परन्तु उस प्रकार कि 'शिवपुर' (मोक्ष) का मार्ग मिल जाए। यह वास्तविकता है। किसी विशाल पुस्तकालय को देखने मात्र से विद्या प्राप्त नहीं होती, किसी एक पृष्ठ को तन्मयता से देखने, पढ़ने से, उसे हृदयंगम करने से आत्मा को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है। मर्मस्थल पर लगा हुआ एक ही बाण मृत्यु के लिए अलं है और यों स्थान-भ्रष्ट तीरों की बौछार से भी चोट नहीं आती। मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मकल्याण के उस केन्द्र को ढूंढ़ निकाले, उसे जान ले और सतत् कृतोद्यम होकर मार्ग पर चलता रहे। क्योंकि 'मार्गस्थो नावसीदति' – पथ पर चलनेवाला अवसन्न नहीं होता। कभी-न-कभी वह मंजिल को पा लेता है। एक चीनी कहावत है–'हजार मील लम्बी यात्रा एक कदम से शुरू होती है'–अतः जो अपने एक पदन्यास का महत्त्व जानता है वह हजार मील के समापन के लिए दूसरे पद को अवश्य उठाता है और वनों, दुर्गम घाटियों, पर्वतों तथा नदियों को पार कर अपनी लक्ष्यसिद्धि पर पहुँच जाता है। रास्ते में वह इधर-उधर के भटकावों, भुलावों और मन को प्रिय लगनेवाले विष्कम्भों पर नहीं रुकता। अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने के दुर्धर्ष संकल्प उसके साथ कदम मिलाकर चलते हैं। सूर्य इसी गति से चलता है। उसे प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश पार करने होते हैं। कभी दक्षिण तो कभी उत्तर उसे रुकने के लिए आग्रह करती हैं। चारित्रमार्गी को भी मोह तथा प्रलोभन की दिशाएँ आती हैं। विमुग्ध करनेवाले 'मीना बाजार' मिलते हैं, परन्तु मुक्ति-नगर के यायावर अकम्प, स्थिर गति से चलते जाते हैं। यही उनकी सफलता है। स्वीकार किये हुए व्रत को निबाहने की आस्था है। किसी नीतिकार ने कहा है कि 'कार्य का आरम्भ न करना बुद्धिमान् का प्रथम लक्षण है और यदि कार्य आरंभ कर दिया तो उसे परि-समाप्ति तक पहुँचाना दूसरा लक्षण है[1]।' प्रारम्भ किये काम में निरन्तर विघ्न आने पर भी उत्तम व्यक्ति उसका परित्याग नहीं करते[2] –ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। मन में राग और बाहर त्याग, यह भयानक स्थिति है। हिमालय को लोग हिमालय मानकर जाते हैं यदि वह फूटकर ज्वालामुख हो निकले तो विश्वास तो पराजित होगा ही, पर्यटन भी रुक जाएगा, सन्देह बढ़ेगा। 'बाह्यग्रन्थिविहीनाः'–श्लोक में यही आशय व्यक्त किया गया है वास्तव में चारित्र के चरणचिह्न बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होने चाहिए। धूमिल, आधे उठे हुए, पथ से विचलित चिह्न अनुयायिवर्ग में दिग्भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। सर्वोदय-

---

१. *'अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।*
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥'

२. *'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।'*–नीतिशतक

तीर्थ—सरोवर में सम्यक्चारित्र के सहस्र पद्म तैरते रहें और उनके कुंजों में विश्वजन-रूप राजहंस आश्रय पाते रहें, यह धर्मप्रभावना चारित्र-शिरोमणि दे सकते है, देते आये हैं।

चारित्र मनुष्य की स्वसम्पत्ति है। चारित्रवान् कहीं भी जा सकता है। परम-विश्वसनीयता चारित्रवान् को प्राप्त होती है। प्राचीन समय में भूपालों के अन्तःपुरों की रचना ऐसी सुरक्षात्मक होती थी जहाँ सूर्यकिरणें भी स्वेच्छा से प्रवेश नहीं पा सकती थीं। 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' राजपत्नियाँ असूर्यम्पश्य होती थीं—सूर्य भी उन्हें नहीं देख सकता था किन्तु उन्हीं राजमहालयों में ऋषि-मुनि बिना रोकटोक घूमते थे। 'अवारितप्रवेशा हि तपोधनाः'—तपस्वी अवारितप्रवेश हैं, उनके प्रवेश को न रोका जाए, ऐसी कड़ी राजाज्ञा थी। यह आज्ञा उनके अविप्लुत चारित्र के हेतु से थी। सूर्य से पर्दा करनेवाली वे महाराज्ञियाँ उन लोकगुरुओं को निरवगुण्ठन होकर प्रणाम करती थीं, आशीर्वाद प्राप्त करती थीं। यह चारित्र की अप्रतिहत गति का निदर्शन है। चारित्र में सुगन्धि का भण्डार भरा है। कोसों दूर तक चारित्रवान् का यश उड़कर पहुँच जाता है। मृग की नाभि में जिस कस्तूरी का निर्माण होता है, उसके परमाणु बाहर से मंगाकर नहीं रखे जाते। चारित्र किसी से ऋण लेकर प्राप्त नहीं किया जाता। जल का शीतत्व, अनल का दाहकत्व और पवन का संचारित्व उनका स्वधर्म है, स्वचारित्र है। सीता महासती में चारित्र की अग्नि दहक रही थी इसीलिए बाहरी अग्नि उसे जला नहीं सकी। 'नाग्निरग्नौ प्रवर्तते'—अग्नि अग्नि को नहीं जलाती। चारित्र आग्नेय है उसमें मनुष्य के सम्पूर्ण दोष, पाप ईन्धन के समान जल जाते हैं। चारित्र नीर की निर्मल धारा है, आत्मा के गहन प्रदेशों को इसी से शीतलता मिलती है। चारित्र पवनवेग से सम्पूर्ण लोक में अपने आप विश्रुत हो जाता है। इसी को परम धर्म, तप, आचार और ज्ञान कहा गया है*। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः'—हाथी का पदचिह्न इतर प्राणियों से बड़ा है, उसमें सारे पदचिह्न समा जाते हैं। चारित्र भी महान् पद है। धर्म के अन्य सारे लक्षण चारित्रसिन्धु में समा जाते हैं। वास्तव में धर्म की चरितार्थता को ही चारित्र कहा है। बिना चारित्र-धर्म चरितार्थ नहीं होता। राहु अदृश्य होता है, वह केवल चन्द्रमा के बिम्ब पर ही देखा जा सकता है। मनुष्य की अपनी छाया बिना किसी आधार के व्यक्त नहीं होती। आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की छाया पृथ्वी पर दिखायी देती है क्योंकि आकाश के शून्य में वह विद्यमान होते हुए भी दृश्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार धर्म का बिम्बग्रहण आचरण से ही हो पाता है। क्षमा, दया, करुणा, शान्ति, मैत्री, निर्वैरता, तितिक्षा इत्यादि चारित्रात्मक ही हैं। इन्हें आचरण द्वारा ही प्रकट किया जा सकता है। चारित्र पुरुषार्थ है। दुरधिगम्य उपलब्धियों का प्रदाता चारित्र ही है। चारित्र को पवित्र से पवित्रतर और पवित्रतम बनाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। आचारशैथिल्य अन्तःकरण में प्रच्छन्न

---

* *'आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।*
आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किं न साध्यते ॥'

दुर्बलता का ज्ञापन करता है। जैसे थर्मामीटर के पारे पर रोगी का ज्वर उतर आता है उसी प्रकार मनुष्य के शिथिल अथवा अशिथिल आचार पर अन्तःकरण वृत्तियाँ उत्कीर्ण हो उठती हैं। चारित्रवान् अपनी तापमापक नाड़ियों की गति को विज्वर रखता है। नाड़ियों में ज्वर का संकेत उसके शारीरिक अस्वास्थ्य का सूचक है। चारित्र से मनुष्य की 'शलाका परीक्षा' की जाती है। जपमाला में सुमेरुमणि का स्थान अष्टोत्तरशत मणियों से ऊपर होता है। जो चारित्रशील हैं, उन्हें श्री श्री १०८ लिखने का व्यवहार है। वे धर्ममाला के सुमेरु (चारित्रसुमेरु) होते हैं और १०८ से ऊपर विराजते हैं। चारित्रवान् होने से ही यह उच्चासन उन्हें प्राप्त होता है। चारित्र को प्राणों-का-प्राण ही समझना चाहिए क्योंकि चारित्ररहित प्राण निष्प्राण हैं। आत्मा की रत्नमंजूषा में चारित्रमणि को संभालकर रखना चाहिए। यदि यह गिर गया तो उस नष्ट नीड़ में रखने योग्य कुछ न बचेगा। उसके स्थान की पूर्ति इतर उपादानों से नहीं की जा सकती। 'न हि रत्नानां बीजावापः कर्तुं शक्यते'—रत्न-मणियों की खेती नहीं की जाती; अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि अन्नबीज के समान रत्न को बो दिया जाए और सींचने पर उसका पौधा निकल कर अन्य सहस्र रत्न-बालियाँ उत्पन्न कर दे। रत्न तो एक ही होता है। वह खोने पर नहीं मिलता। सर्वथा निष्परिग्रह मुनि चारित्रपरिग्रह रखते हैं। चारित्रहीन जीवन गजभुक्त कपित्थ के समान है, नवनीत निकाले हुए तक्र के तुल्य है, मणिरहित सर्प के सदृश है और प्राणशून्य पुत्तलिका के प्रतिम है। जैसे मंत्राभिषिक्त प्रतिमा में देवसान्निध्य आ जाता है, वसन्त का पवनसम्पर्क पाकर वृक्षों के अंकुर निकल आते हैं उसी प्रकार चारित्र की आत्म-प्रतिष्ठा करने से प्राणों में महत्तत्त्व का आविर्भाव होता है। वह व्यक्ति महाप्राण हो जाता है जो चारित्ररत्न को आत्मप्रविष्ट कर लेता है।

शास्त्रों में मोक्षमार्ग पर विचार करते समय 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः'—कहा गया है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान सम्यक्चारित्र की दो आँखें हैं। चारित्र को श्रद्धा अथवा श्रद्धान भी कहा गया है। सम्यग्ज्ञानदर्शन से निज-पर का विवेक होता है। मिथ्यात्व का नाश होकर तत्त्वार्थ का अधिगम होता है। संसार के क्षणध्वंसी पदार्थों से विरति होकर आत्मरति आती है। इन्द्रियविषय जुगुप्सित, मलिन और हेय हो जाते हैं 'कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितम्' इत्यादि शब्दों में कविजन (भर्तृहरि) उन मोहकालीन आकर्षणों की निन्दा करने लगते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि यदि यह शरीर चर्म से ढँका हुआ न होता तो गीधों के समूह इसे खा जाते, कुत्ते और शृगाल सहभोज करते और कौओं को आमिष की तलाश में दूर न जाना पड़ता। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से यह सम्यग्विवेक प्राणी को प्राप्त होता है और तब उदासीन, विरक्त, तत्त्व-वेत्ता व्यक्ति आत्मकल्याण के लिए मोहपाशों को झटककर चारित्र तपोमार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है। सच्चे वैराग्य के उदय से उसको संवर और निर्जरा की स्थिति उपलब्ध होती है। मन, वचन और काय समाधिदशा ग्रहण कर लेते हैं। बाह्यदृष्टि अन्तर्मुख होकर आत्मचिन्तन में लग्न हो जाती है। 'इच्छा निरोधस्तपः' के लिए बल प्रयोग करने जैसा अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। वह 'तप' स्वयं सिद्ध हो जाता है जैसे

सर्प ने केंचुली उतार दी हो, जैसे अधोगति का मार्ग छोड़कर कोई ऊर्ध्वगति के मार्ग पर आ गया हो। सम्यक्चारित्र के सर्वांगरहस्य उसके सामने स्वयं प्रकट होकर मार्गदर्शन करते चलते हैं। उसके ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य में सातिशय उद्रेक का उदय होता है। दुःख, दुर्गति, भय, कष्ट, अभाव और अपूर्णता का क्षय हो जाता है। 'शिवः केवलोऽहम् शिवः केवलोऽहम्' मैं शिव हूँ, मुक्तिपति हूँ—उसके प्राण बोलने लगते हैं। ज्ञान, भक्ति और आनन्द उसके श्वासोच्छ्वास बन जाते हैं। चारित्रमय होकर वह भवार्णव की कल्लोलों के घात-प्रतिघात से बच जाता है। शुद्ध मुक्तात्मा के रूप में मोक्ष को प्राप्त कर, जल में जलकल्लोल के समान आत्मरूप हो अक्षय आनन्दभाक् हो जाता है। □

'णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं ।'

—आचार्य कुन्दकुन्द

पिच्छि : कमण्डलु

दिगम्बर मुनि के पास संयम तथा शौच के उपकरण के रूप में पिच्छि और कमण्डलु होते हैं । सर्वथा नग्न एवं अपरिग्रहमहाव्रती मुनि को चर्या की निर्दोषता के रक्षार्थ इन्हें रखने की शास्त्राज्ञा है । मानो, पिच्छि और कमण्डलु मुनि के स्वावलम्बन के दो हाथ हैं । प्रतिलेखन-शुद्धि के लिए पिच्छि की नितान्त आवश्यकता है और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वाञ्छनीय है । पिच्छिका मयूरपंखों से बनायी जाती है; अन्य पंख पिच्छि के लिए उपादेय नहीं माने गये । क्योंकि मुनियों के लिए हिंसा, चौर्य, परिग्रह आदि सर्वथा निषिद्ध हैं और मयूरपंख ही ऐसे सुलभ हैं जिन्हें वह उल्लिखित दोषों से बचते हुए ग्रहण कर सकता है (सकते हैं) । वह इस प्रकार कि मयूर वर्ष में एक बार अपनी जीर्ण पक्षावली का त्यागकर नवीन प्राप्त करता है अतः समय पर बिना हिंसा उसे प्राप्त किया जा सकता है । वनों में विचरते हुए, मुनियों को वृक्षों के नीचे पुष्कल परिमाण में स्वयं पतित पंख अनायास मिल जाते हैं । ये पंख स्वयं मयूर द्वारा परित्यक्त अथच भूमिपतित होते हैं अतः इन्हें ग्रहण करने में चौर्यदोष भी नहीं लगता । तीसरी बात यह कि प्रतिवर्ष और पुष्कल मात्रा में अनायास मिलते रहने से, यह आवश्यक नहीं कि इनको बटोरकर, संगृहीत कर आगामी वर्षों के लिए संचित किया जाए जिससे कि परिग्रहदोष की सम्भावना हो । इसके अतिरिक्त मयूरपिच्छ का लवभाग (बालमय अग्रभाग) इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से किसी सूक्ष्म जन्तु की हिंसा भी नहीं होती । स्वयं मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नहीं हो सकते । एक जाति के युगल (दम्पति) में भी समान मृदुपिच्छ प्रसूत करने की क्षमता नहीं है अन्य जातीय पक्षियों के लिए तो कहना व्यर्थ ही है । इन कारणों से मयूरपिच्छिधारण दिगम्बर साधु की मुद्रा है । पिच्छि रखने से वह नग्नमुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है । 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते'—नीतिसार की यह उक्ति सारगर्भित है । मुद्रा चाहे शासन वर्ग हो, धार्मिक वर्ग हो अथवा व्यापार वर्ग हो सर्वत्र अपेक्षित होती है । मुद्रारहित की मान्यता नहीं । वैष्णवों, शाक्तमतानुयायियों, शैवों, राधास्वामीसाम्प्रदायिकों आदि में तिलक लगाने की पृथक्-पृथक् प्रणाली है । राजभृत्यों के कन्धों पर अथवा सामने वक्षःस्थल पर वस्त्र-निर्मित या धातुघटित मुद्रा (चिह्न) होती है, जिससे उसकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है और राजभृत्यता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है । कागज के नोट 'मुद्रां'कित होने से चलते हैं । डाक-तार विभाग मुद्रात्मक है । एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में प्रवेश पाने के लिए अनुमतिपत्र (पासपोर्ट) और रेलयात्रार्थ

यातायात लेना आवश्यक है। इसलिए भी श्रमण परम्परा के आदिकाल से अधिकृत चिह्न के रूप में पिच्छिकमण्डलु रखने का विधान चला आया है। 'भद्रबाहु क्रियासार' में पिच्छि रखना आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि जो श्रमण पिच्छि नहीं रखता तथा उसकी निन्दा करता है वह 'मूढचारित्र' है[1]; क्योंकि चारित्रपालन में, कायोत्सर्ग में, गमनागमन में, बैठने-उठने में पिच्छिका का सहयोग विदित है। अपेक्षासंयमी मुनि को अवधिज्ञान से पूर्व पिच्छि धारण करना शास्त्रसम्मत है[2]। मराठी कवि जनार्दन ने त्यागियों के लिए लिखा है कि—

करोनी परिग्रहत्याग, तीन राखावे काये संग
पुस्तक, पीछी ठेवी अभंग कमण्डलभृंग शौचासी ॥ १३०

अर्थात् परिग्रहों का त्याग करो और पुस्तक, पिच्छि और कमण्डलु को रखो। यहाँ पुस्तक का अर्थ शास्त्र है। वास्तव में शौच, संयम और ज्ञान के तीन उपकरण रखने मुनि को उचित हैं। आचार्य सकलकीर्ति ने 'मूलाचार' में सूचना दी है कि 'कार्तिकमास में स्वयंपतित पिच्छों से सत् प्रतिलेखन तैयार कर लेना चाहिए यह लिंग है, योगियों का चिह्न है[3]'। जैसे शिशिर में वृक्षों के जीर्ण पत्र स्वयं गिर जाते हैं वैसे ही मयूरपंख कार्तिक में झड़ जाते हैं। अहिंसामहाव्रती जब किसी स्थान पर विराजमान होते हैं, तब इसी कोमलबालाग्र पिच्छि से बुहारकर बैठते हैं इससे दृश्य-अदृश्य जीवाणु वहाँ से अन्यत्र कर दिये जाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि, ऐलक, क्षुल्लक तथा आर्यिका माताएँ पिच्छि-कमण्डलु धारण करते हैं। 'भद्रबाहु क्रियासार' में वर्णन है कि 'वह सूरि पाँच सौ शिष्यों सहित अथवा चार, तीन, दो, एक पिच्छिधारियों को साथ लेकर विहार करता है। संघपति भी आचार्य का शिष्य होता है और आर्यिका पिच्छिधारण करती है[4]। इस प्रकार पिच्छि रखने का निर्देश प्राचीन श्रमणपरम्परा से चला आया है। मयूरपंखनिर्मित पिच्छिधारी दिगम्बर का उल्लेख वैदिकों के पुराणसाहित्य में भी पाया जाता है। पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा शिवपुराण के टिप्पणी में दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट है[5]। शिवपुराण में एक कथा आई है कि शिव ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर देवदारु वन में आश्रम

---

१. *'जो सवणो णहि पिच्छं गिण्हदि णिदेदि मूढचारित्तो।*
सो सवण संघवज्जो अवंदणिज्जो सदा होदि ॥' —भ. वा. क्रियासार, ७९.

२. *'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम्।*
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये।' — भावसंग्रह, २७६.

३. *'मत्त्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम्।*
स्वयंपतितपिच्छानां लिंगं चिह्नं च योगिनाम् ॥' — मूलाचार

४. *'पंचसय पिच्छहत्थो अह चतु-तिग-दोण्णिहत्थो।*
संघवइह्नु सीसो अज्जापुणु होदि पिच्छकरा ॥' — भद्रबाहु क्रियासार.

५. *'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः।* — पद्म., १३।३३.
'ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः। — विष्णु., ३।१८.
'मयूरचन्द्रिकापुंजपिच्छिकां धारयन् करे।' — शिवपु., १०।८०।८०

का निरीक्षण किया था। उनके हाथ में मयूरपिच्छि थी। प्रसिद्ध स्तोत्र 'नमःशिवाय:' (पंचाक्षर स्तुति) में 'दिव्याय देवाय दिगम्बराय'—शिव की दिगम्बरमुद्रा लिखी है। पिच्छि को प्रतिलेखन मात्र नहीं माना गया है अपितु वन्दना, सामायिक, प्रायश्चित्त, रुग्णदशा, आहारसमय, गमन आदि प्रकरणों में पिच्छि के विभिन्न उपयोगरूप शास्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं। वन्दना के समय मुनि आचार्य महाराज को 'मैं वन्दना करता हूँ—ऐसा कहते हुए पश्चर्धशय्या से आस्थित होकर पिच्छि को मस्तकस्पर्श देते हुए वन्दना करे[१]।' इसी प्रकार जब आचार्य प्रतिवन्दन करें तब उन्हें सपिच्छाञ्जलि होना चाहिए[२]। जिस मुनि महाराज को प्रायश्चित्त दिया गया है, उनको पिच्छि का लोमाग्र भाग आगे की ओर रखना होता है। यह उनके प्रायश्चित्तीय होने का निदर्शक है। जब वे आहार के लिए श्रावकबस्ती में जाते हैं तब पिच्छिकमण्डलु (दोनों) उनके हाथ में होते हैं। यों साधारण विहारसमय में कमण्डलु को श्रावक, ब्रह्मचारी आदि लेकर चल सकते हैं। जिस श्रावक के यहाँ उन्हें आहारविधि मिल जाती है तब वे पिच्छि और कमण्डलु को वामहस्त में एक साथ धारण करते हैं और दक्षिण स्कन्ध पर अपना पंचांगुलिमुकुलित दक्षिण पाणि रखकर आहारस्वीकृति व्यक्त करते हैं[३]। आहार करते समय पिच्छिस्पर्श अन्तराय माना गया है, अतः उसे उस समय दूर रखते हैं। कुछ लोग मयूरपंख को प्राण्यंग होने से अपवित्र कहते हैं। किन्तु श्री चामुण्डरायरचित 'चारित्रसार' का कथन है कि 'शरीरजा अपि मयूरपिच्छसर्पमणिशुक्तिमुक्ताफलादयो लोके शुचित्वमुपागताः'—अर्थात् मयूर के पंख, सर्प-मणि, सीप और मुक्ताफल आदि (गजमुक्ता) शरीरज होने पर भी लोकव्यवहार में शुचि माने गये हैं। यही हेतु है कि शास्त्रों ने इसे धर्मपरिग्रह स्वीकार किया है। 'मूलाचार' तो पिच्छि को दया का उपकरण कहते हैं। उनकी मान्यता है 'प्रतिलेखन के लिए मयूरपिच्छिधारण श्रेष्ठता की बात है। तीर्थंकर परमदेव इसे सूक्ष्म जीवों तक का रक्षात्मक होने से दयोपकरणरूप में योगियों के लिए प्रशंसनीय कहते हैं[४]'। मंत्र-लक्षणशास्त्र कहता है कि पिच्छि आवश्यकता होने पर छत्र भी है और चामर भी, यंत्र और मंत्र की प्रसिद्धि (सिद्धि) के लिए भी इसका व्यवहार किया जाता है और सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के लिए तो है ही[५]। इस प्रकार पिच्छि पंचगुणविभूषित है। मूलाराधना में पिच्छि के अन्य पाँच गुण बताते हुए कहा है कि 'रज

---

१. *'पश्चर्धशय्ययाऽनम्य सपिच्छाञ्जलिमालकः ।' – आचारसार, ६१.*

२. *'विगौरवादिदोषेण सपिच्छाञ्जलिशालिना ।*
सदञ्जसर्यचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम् ॥' – आचारसार, ६२.

३. *'पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम् ।*
हस्तं निधाय संदृष्ट्या स व्रजेत् श्रावकालयम् ॥' – धर्मरसिक.

४. *'सन्ति मयूरपिच्छेऽत्र प्रतिलेखनमूर्जितम् ।*
तं प्रशंसन्ति तीर्थेशा दयार्थं योगिनां परम् ॥' – मूलाचार, ३२.

५. *'छत्रार्थं चामरार्थं च रक्षार्थं सर्वदेहिनाम् ।*
यंत्रमंत्रप्रसिद्ध्यर्थं पंचैते पिच्छिलक्षणम् ॥' – मंत्रलक्षणशास्त्र.

और स्वेद का अग्रहण, मृदुता, सुकुमारता और लघुत्व (हल्कापन) जिस पिच्छि में ये पंचगुण विद्यमान हों, उस प्रतिलेखन-उपकरण की प्रशंसनीयता असंदिग्ध है[१]।' सकलकीर्ति-धर्मप्रश्नोत्तर में मूलाराधनाप्रोक्त पंच गुणों का कीर्तन करने के पश्चात् इसमें निर्भयता आदि अतिरिक्त गुणों का निर्देश किया गया है[२]। नीतिसार का कथन है कि 'छाया में, आतप में अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते समय मयूरपिच्छि से आलेखन करके ही मुनि को वर्तना चाहिए[३]। 'चारित्रसार' में किसी प्रकार के तत्क्रिया-असमर्थ रोगादि कारण होने पर कहा गया है कि 'मुनि पिच्छि-सहित अंजलिबद्ध होकर, जुड़ी हुई अंजलि को वक्षस्थल के मध्य में स्थित करके पर्यंकासन, वीरासन अथवा सुखासन से बैठकर, मन को एकाग्र कर स्वाध्याय तथा वन्दना करे[४]। खड़े होने की शारीरिक अशक्तिदशा में ही यह विधान है, स्वस्थ रहते नहीं। मयूरपिच्छि में एक अन्य विशिष्ट गुण 'मूलाराधना' पृष्ठ २१५ में बताया गया है कि जो सवस्त्रलिंग धारण करते हैं उन्हें वस्त्रखंड को बहुत शोधना होता है परन्तु मयूर पिच्छि मात्र परिग्रही (निर्ग्रन्थ) को बहुत शोधने की आवश्यकता नहीं। स्वयं ही उन्हें अप्रतिलेखन गुण प्राप्त है[५]।' 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' का प्रतिपादन है कि 'श्रमण-शास्त्रों में अदत्त के आदान को स्तेय (चौर्य) कहा है। कोई भी लघु या महत् वस्तु, जो स्वयं की न हो, परकीय हो, उसे वस्तु के स्वामी से ही याचना कर प्राप्त करना चाहिए। जानबूझकर अथवा प्रमादवश, अजाने ग्रहण की हुई वस्तु चौर्यलब्ध ही मानी जाएगी। इस अर्थ में सामान्यरूप से किसी भी अदत्तवस्तु के ग्रहण का विधान मुनि के लिए नहीं है। तब क्या मयूरपिच्छ और कमण्डलु जो अरण्य में पड़े हुए मिल जाते हैं, मुनि को नहीं ग्रहण करने चाहिए? वे भी तो, अदत्त हैं, उनका आदान कैसे हो? इस शंका का समाधान करते हुए आगे कहा गया है कि नदियों, निर्झरों आदि का जल, सूखे हुए गोमयखण्ड अथवा भस्म आदि, अपने-आप मुक्त मयूरपंख एवं तुम्बीफल आदि

---

१. 'रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ।।' – मूलाराधना, ९८.

२. 'अथ पिच्छिकागुणा रजःस्वेदाग्रहणद्वयम् ।
मार्दवं सुकुमारत्वं लघुत्वं सद्गुणा इमे ।।
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादिगुणोत्तमाः ।
मयूरपिच्छजातायाः पिच्छिकाया जिनोदिताः ।।'–सकलकीर्ति धर्मप्रश्नोत्तर, २९-३०

३. 'पिच्छेन मृदुनाऽलिख्य वपुर्धर्माद् विशेन् मुनिः ।
छायां तथैव घर्मं च भूमिभेदेऽपि चान्वहम् ।।' – नीतिसार, ४३.

४. 'मप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्संगतिकरः सपर्यंकः ।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ।।'–चारित्रसार, ४३.

५. 'अप्पडिलिहणं वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिकं शोधनीयं महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्रम् ।'–मूलाराधना.

(उक्त आदि शब्दों से मिट्टी तथा सामुद्रिक नारियल अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट प्रतीत होता है) ग्रहण करने में स्तेयदोष नहीं लगता यह सब 'प्रासुक' है, इसमें स्तेय नहीं है और इनका ग्रहण प्रमत्तत्व की हानि के लिए अभीष्ट है[1]। कषायसहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को प्रमत्तयोग कहा गया है किन्तु धर्मपरिग्रह के रूप में आवश्यक पिच्छि और कुण्डी का ग्रहण कषायनिमित्तक नहीं है। प्रत्युत वीतराग मुनिचर्या का उपकारक है तथा च जीवरहित, अचित्त होने से पिच्छि-कमण्डलु प्रासुक[2] हैं।' भद्रबाहुक्रियासार' में पिच्छि को मोक्ष का साधक अन्यतम कारण बताते हुए कहा है कि जो मुनि अपने पास पिच्छि नहीं रखता है वह कायोत्सर्ग के समय, स्थिति में, उत्थान में, गमनागमन में अपनी दैहिक क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों का नाश करता है। परिणामस्वरूप उसे हिंसादोष लगता रहता है और मोक्षप्रतिबन्धक कर्मों से उसे मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं होती[3]। उक्त समर्थनों से सिद्ध है कि मयूरपिच्छिका धारण करना त्यागियों के लिए आवश्यक है। निर्वाणभूमि पर पहुँचाने में जहाँ सम्यग्दर्शनज्ञानसमन्वित सम्यक्चारित्र साक्षात्कारण है वहाँ पिच्छि-कमण्डलु भी चारित्रचर्या के सहायक उपकरण होने से उपकारक अथवा परम्परित कारण हैं। अत्यन्त कोमल, नयनाभिराम, सुन्दर होते हुए भी मयूर इनका यथासमय त्याग कर देता है और मोह नहीं करता। इस प्रकार यह निर्मोह सिखानेवाली है। मुनि को पिच्छि को देखते ही वीतराग भाव का स्मरण होना चाहिए। अहो! तिर्यक्योनि होते हुए भी मयूर को अपने एकमात्र अलंकरण बहों पर मोह नहीं उत्पन्न हुआ, मुनि तो मनुष्य पर्यायधारी है, धीमान् है, विवेकसम्पन्न है। यदि वह रागान्ध हो तो धर्म रसातल चला जाना चाहिए। मयूरपंख देखकर संयम के भावों में अवश्य वृद्धि होती है और इसी हेतु से इसे संयमोपकरण कहना समीचीन है। पिच्छिधारण निर्मल तथा शुद्ध जिनलिंग है। इस तथ्य को 'षट्प्राभृत' ग्रन्थ के 'भावप्राभृत' प्रकरण की ७९ वीं गाथा के चतुर्थ चरण 'जिनलिंगं णिम्मलं सुद्धं'—की टीका में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जिनलिंगं नग्नरूपमर्हन्मुद्रा-मयूरपिच्छिकमण्डलुसहितं निर्मलं कथ्यते। तद्द्वयरहितलिंगं कश्मलमित्युच्यते। तीर्थंकर-

---

१. 'प्रमत्तयोगतो यत् स्याददत्तादानमात्मनः।
स्तेयं तत् सूचितं दानादानयोग्यार्थगोचरम्॥
तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भः शुष्कगोमयखण्डकम्॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबुफलादिकम्।
प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः॥'—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७।१५.

२. प्रासुकस्यार्थः —'सुक्कं पक्कं तत्तं अम्भिललवणेण मिस्सयं दव्वम्।
जं जंत्रेण हि छिन्नं तं सव्वं पासुयं भणियं॥'—गृहस्थधर्म, ११.

३. 'ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं।
दसकत्त रिठाण गदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं॥'—भद्रबाहुक्रि., २५.

परमदेवात्तप्तर्द्धिविना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।'–अर्थात् मयूरपिच्छि तथा कमण्डलु-सहित नग्नरूप ही अर्हन्त भगवान् की मुद्रा है। वह निर्दोष एवं निर्मल है। जो इन दोनों से रहित नग्नरूप है वह मलिन कहा जाता है; किन्तु तीर्थंकर, परमदेव, तप्तर्द्धिधारक तथा अवधिज्ञानी को इनका धारण करना आवश्यक नहीं है। ये (उक्त) पिच्छिकमण्डलुरहित भी अर्हन् मुद्राधारी माने गये हैं। 'भावसंग्रह' में भी अवधिज्ञान से पूर्व तक पिच्छिधारण प्रतिलेखनशुद्धि के निमित्त आवश्यक कहा है[१]। अवधिज्ञान के अनन्तर इसका धारण आवश्यक नहीं। उपेक्षा-संयमी को पिच्छि की आवश्यकता नहीं; किन्तु अपेक्षासंयमी को धारणीय है ही। आदानसमिति तथा निक्षेप-समिति का उल्लेख करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'अपहृतसंयमधारी मुनियों को आगम अर्थ के प्रत्यभिज्ञान के लिए बार-बार ज्ञानोपकरण (शास्त्र) की आवश्यकता होती है, विशुद्धि के लिए शौचोपकरण कमण्डलु की तथा संयमोपकरणरूप में पिच्छि की आवश्यकता होती है। इन शौच-संयम-ज्ञानोपकरणों के बारम्बार ग्रहण तथा विसर्ग में जो प्रयत्नपरिणाम होता है उसे आदानसमिति तथा निक्षेपणसमिति कहा गया है[२]। एकादश प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का होता है प्रथम एकवस्त्रधारी, द्वितीय वस्त्ररहित कौपीनमात्रधारी। ये दोनों ही तप, व्रत, नियमादि पालन करते हैं। कौपीन-मात्र धारण करनेवाले ऐलक 'कचलोच' करते हैं। पिच्छिधारण दोनों (क्षुल्लक, ऐलक) करते हैं। अनुप्रेक्षा (द्वादशानुप्रेक्षा) धर्मध्यान तथा किसी एक स्थान पर करपात्र में स्थितिभोजन और आसन लेकर भी आहार ग्रहण करते हैं[३]। मयूरपिच्छि के महत्त्व की सीमा नहीं है। त्यागी के लिए पिच्छि कितनी उपकारिणी है यह पर्याप्त बताया जा चुका है। पिच्छि को मिथ्यात्वनाशक तथा दुर्मदगजेन्द्र को बाधा देनेवाला सिंह कहा गया है। 'मिथ्यात्वनाशं मदसिंहराजम्'–उसके लिए प्रयुक्त प्रशंसावचनों में से हैं। वसुनन्दि-श्रावकाचार, चारित्रसार, भगवती-आराधना और वट्टकेर मूलाचार इत्यादि में पिच्छि-धारण का महत्त्व निरूपित किया गया है। जो त्यागी पिच्छिधारण करते हुए अपने भावलिंगी, वीतराग, त्यागप्रधान, लोकगुरुस्वरूप का संरक्षण नहीं करता, वह मुनिवेष को तिरस्कृत करता है मुनि और सामान्य लौकिक आगारधर्मियों में यदि सम्यक्चारित्र और अपरिग्रहादि से प्रतीयमान शिष्ट-विशिष्टबोधक भेदरेखा नहीं होगी तो पर्वत के

---

१. *'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ।*
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ॥'–भावसंग्रह, २७६.

२. *'पुस्तककमण्डल्वादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः ।*
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥'–(छाया) – नियमसार

३. *'एकादशस्थाने उत्कृष्टश्रावको द्विविधः ।*
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहो द्वितीयः ॥
तपोव्रतनियमावश्यकलोचं करोति पिच्छं गृह्णाति ।
अनुप्रेक्षा धर्मध्यानं करपात्रे एकस्थाने ॥'–आलोचना.

शिखर और घाटियों के निम्नोन्नतत्व को समान आंकना होगा। पिच्छिग्रहण करने पर वह प्रवृत्तिमार्ग त्यागकर निवृत्ति मार्ग पर गतिमान् होता है। कोटि-कोटि जन जिस दिगम्बरत्व को अपना आराध्य, वन्दनीय मानते हैं वह उस वर्ग का महानुभाव व्यक्ति बन जाता है। ऐसी स्थिति में तप, त्याग, चारित्र और आत्मकल्याण की वीथि को प्रशस्त करनेवाले व्यवहारों एवं निश्चयों के कठिन-कठोर मार्ग पर त्यागी को अधिक से अधिक सशक्त और अकम्प पद रखने चाहिए। जिस आस्था से उसने पिच्छिकमण्डलु लिये हैं उस आस्था के लोकपूज्य रूप की संवर्द्धना में योग देना मुनि का धर्म है। यदि पिच्छि लेकर भी त्यागी के मन में आकिंचन्य का उदय नहीं हुआ और परिग्रहों पर तृष्णा बनी रही तो निश्चय ही मयूरपंख के चन्द्रक उस आत्मवंचित पर हँसेंगे। इससे तो राग का मार्ग अच्छा था। उसी पर चलते तो एक निश्चित मार्ग तो सम्मुख रहता। अब पाँव शिला पर हैं और मन कुसुम की मृदुल पँखुड़ियों पर—यह द्वैधाचार श्लाघनीय नहीं। जिस भूमि पर खड़े होना है, उसीके होकर रहो। पिच्छिकमण्डलुधारण मात्र से मोक्ष मिल गया, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यदि ऐसा होता तो पिच्छि का प्रथम धारक मयूर पहले मोक्ष गया होता। बहुत-से अकिंचन जो धातुपात्रों के अभाव में कमण्डलुधारक हैं, प्रतिष्ठा को प्राप्त किये होते; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। यह तो त्यागी के लिए अनिवार्य आवश्यकता होने से विहित है और बन्धन है। उसके लिए तो परपदार्थ सभी रुकावटें हैं और शरीर तक बन्धन माना गया है। पिच्छिकमण्डलु तो शरीर नहीं हैं और भी बाहर की वस्तुएँ हैं। कदाचित् इसी आशंका से मुनियों को सावधान करने की आवश्यकता शास्त्रकारों ने अनुभव की है। एक ओर वे कहते हैं कि यदि 'बिना पिच्छि के सात कदम गमन कर लिया तो कायोत्सर्ग करना होगा और दो कोस प्रमाण मार्ग पर बिना पिच्छि चल लिये तो शुद्धि तथा उपवास दो-दो प्रायश्चित्त आवश्यक होंगे* ।' दूसरी ओर कहते हैं कि जो त्यागी पिच्छि तथा स्रस्तर (चटाई आदि) पर ममत्व करता है तथा ममत्व-परिणाम से आर्त-रौद्रध्यान-परायण होता है उसे क्या मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है? 'सरहपाद' में भी पिच्छिव्यामोह पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि—'पिच्छिग्रहणमात्र से मुक्ति मिलती होती तो उसका प्रथम अधिकारी मयूर होना चाहिए और यदि उञ्छ भोजन से मोक्ष होता तो वन में विकीर्ण (स्वयंपतित) वृक्षपत्रावली खाकर जीवनयात्रा चलानेवाले पशुओं को वह होना चाहिए किन्तु चमरी गाय, पिच्छिधर मयूर, उञ्छ और शिलभोजी वन्यजीवों को उद्दिष्ट उपकरणों से मोक्ष सम्भव नहीं। मोक्ष की उपलब्धि सम्यक् चारित्र द्वारा ही होती है। पिच्छि और कमण्डलु मुनिचर्या के सहायक उपकरण मात्र हैं और उपेक्षासंयम अवस्था में, अवधिज्ञानी होने पर अथवा तप्तर्द्धि होने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। पिच्छि से विहित चर्यासौविध्य मात्र ग्राह्य है, यथेच्छ व्यवहार उसके द्वारा नहीं किया जा सकता। यथेच्छ व्यवहार तो प्रायश्चित्त का कारण बन जाता है। नीरोग-दशा में यदि मुनि उसे मस्तक पर छायार्थ उत्तोलित करता है, छाती को आच्छादित करता

---

* *'सप्तपादेषु निःपिच्छः कायोत्सर्गेण शुद्ध्यति ।*
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ।।'—चारित्रसार, ४४.

है और मस्तक-आवरण बनाता है तो उसे प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए। रुग्णदशा में दोष नहीं माना गया[1]। तथापि वह अपवाद मार्ग है और यावज्जीव मुनि को अपवाद और प्रायश्चित्तीय मार्ग नहीं लेना चाहिए। पिच्छि अप्रतिलेखन गुण से युक्त है किन्तु कमण्डलु में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है अतः उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण नहीं किया गया तो प्रतिक्रमण तथा उपवास लेना होगा[2]। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जो पिच्छिग्रहण की मर्यादा का निरूपण करते हैं और वैसे भी हैं जो अवधिज्ञानादि विशेष स्थितियों में इसकी आवश्यकता का सर्वथा निराकरण करते हैं तथा इस पर उत्पन्न हुए व्यामोह की 'यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुंचति'—कहकर भर्त्सना भी करते हैं। इन्हें परस्पर विरोधी नहीं मान सकते; क्योंकि जो पिच्छिकमण्डलु-ग्रहण की आवश्यकता का निरूपण करते हैं वे मुनिचर्या के विधिपरक सूत्र हैं और सम्यक्-जिनलिंग को प्रमाणित करते हैं; किन्तु पिच्छिग्रहण मात्र से मोक्ष नहीं होता, अथवा पिच्छि-कमण्डलु पर आसक्तिभाव नहीं रखना चाहिए—इत्यादि प्रतिपादन करनेवाले सूत्र हैं, वे मुनि के व्यामोहनिवर्तक हैं। हो सकता है, मोह तथा अज्ञान के प्रभाव से मुनि को अपने पिच्छिकमण्डलु पर व्यामोह उत्पन्न हो जाए या शास्त्रज्ञान के अभाव में अथवा मूढ आग्रह से वह पिच्छि को ही इतना महत्त्व देने लगे कि—'बस ! पिच्छि मिल गई, मानो मोक्ष मिल गया'—और ऐसा मानकर सम्यक्चारित्रपालन में शिथिलाचारी हो जाए, ऐसी स्थिति में उसे इन गाथाओं, श्लोकों तथा सूत्रों से संवित् मिलनी चाहिए कि पिच्छिग्रहण करने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं बन जाता[3]। सर्वस्वत्यागी त्यागी के व्रतों की निर्दोष रक्षा के लिए ही इन निषेधसूत्रों का निर्माण किया गया है; क्योंकि परिग्रह का अर्थ विशाल-सम्पत्ति से गतार्थ नहीं होता, एक सुई भी मूर्च्छा (व्यामोह) का कारण हो सकती है और वह सूची का अग्रभाग भी मूर्च्छाकारक होने से परिग्रह कहा जाएगा—'मूर्च्छा परिग्रहः'—यह सूत्र उपादानों की विपुलता को ही परिग्रह नहीं मानता, अपितु जिस वस्तु के लवमात्र ग्रहण से मूर्च्छा का उदय हो, वही परिग्रह है। तब व्यामोह होने से पिच्छि भी मुनिचर्या की साधिका न होकर प्रत्यवायकारिणी हो सकती है। परमात्मप्रकाश की उक्ति है कि—'चेला-चेलियों का परिवार बढ़ाकर, पुस्तकों का प्रभूत संग्रह कर अज्ञानी को हर्ष होता है। किन्तु जो ज्ञानी है, वह इन परिग्रहों से शरमाता है तथा इन्हें राग और बन्धकारण मानता है। यदि त्यागी का मन चेला-चेलियों, पुस्तकों, पिच्छि-कमण्डलुओं, श्रावक-श्राविकाओं,

---

१. 'उष्णीषस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य हृच्छदे ।
मस्तकावरणाद् देवं कल्याणं वा न दुष्यति ॥'—प्रायश्चित्त, ७५.

२. 'शश्वद् विशोधयेत् साधुः पक्षे-पक्षे कमण्डलुम् ।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम् ॥'—प्रा. समुच्चय, ८८.

१. 'पिच्छेण हु सम्मत्तं करगहिए चमरमोरडंबर ए ।
समभावे जिणदिट्ठं रायाई दोसचत्तेण ॥'—७।७ गाथा, २८.

आर्जिका-क्षुल्लक-ऐलक-परिवारों में तथा चौकी-पट्टे-चटाई आदि में उलझा रहा तो इनको लेकर रातदिन उसे आर्त-रौद्र ध्यान में फँसना पड़ेगा । न निराकुलचर्या हो सकेगी न स्वाध्याय और सामायिक । जिस आत्मकल्याण के लिए मुनिदीक्षा ली, वे उद्देश्य कहीं मूर्च्छाओं में खो जाएंगे* । ये परिग्रह त्यागी का पतन कराने में सहायक होकर उसे आत्म-मार्ग से विस्मृत कर सकते हैं । त्यागी और रागी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं । प्रसंगवश यहाँ यह लिखना अवसरोचित होगा कि त्यागियों को धनसम्पन्न तथा स्वल्पवित्त, विशेष अथवा सामान्य श्रावकों, जनों के आगमन पर अपने को अधिक गौरवशिखरारूढ नहीं मानना चाहिए । उनका समभाव ही लोककल्याणकारक है । ऊँचे-नीचे आसनों की व्यवस्था तो राजपरिषदों में ही बहुत है । स्वयं भूमि पर, शिलातल पर अथवा चटाई पर बैठनेवाले मुनियों के पास आनेवाले को गद्दी-मसनद (गावतकिया) या मृदुल मखमली गलीचों की अपेक्षा नहीं होती । वह तो मुनिचरणों में उपासीन होकर त्यागी के चरणों की धूलि ललाट पर लिम्पन कर प्रसन्न होता है । उसके लिए सम्भ्रम के उपकरण प्रस्तुत कर उसके आगमन को अतिरंजित बनाना वीतरागमुनिचर्या से विपरीत है । श्रमणों के आराध्य भगवान् के लिए तो स्तुति के छन्द लिखते समय 'इन्द्रः सेवां तव सुतनुतां'—कहा गया है । विगौरव का दोष जानबूझकर नहीं लेना ही श्रेष्ठ है । इस विषय में सिकन्दर और दिगम्बर मुनि के साक्षात्कार का एक प्रसंग इतिहासप्रसिद्ध है । त्यागी को उस आरण्यक नदी के समान होना चाहिए जिसके तट पर हाथी पानी पीने आये तो वह हर्षित होकर किनारों पर उच्चलित नहीं होती और हरिण आये तो मन छोटा नहीं करती । उसके दो पाटों की अंजलि का नीर सबके लिए समान सुलभ है । मुनि-त्यागी का स्थान सम्राटों से भी ऊपर है । सम्राट भी त्यागी के आशीर्वाद की अपेक्षा करता है और उससे ऐश्वर्य, विभूति, कृपाप्रसाद चाहता है; किन्तु मुनि निरपेक्ष है । यदि संसार आशा का दास है तो त्यागी ने आशा को दासी बना लिया है । वे मुनि मनुष्यपर्यायी होते हुए भी मनुष्यकोटि से ऊपर हैं । चिन्ता को वशीभूत करने से उन्हें सिद्ध (तपस्वी) कहा जाता है । 'जे नर चिन्ता बस करहिं ते माणस नहि सिद्ध'—ऐसा कहते हुए उनका स्तवन किया गया है और इतने पर भी वे केवल 'बाह्यग्रन्थिविहीनाः' ही हों तो क्या कहा जा सकता है ? वह तो अंगार में विद्रुम का भ्रम ही कहा जा सकता है ।

प्रस्तुत निबन्ध 'पिच्छि और कमण्डलु' मुनियों के द्वारा धारणीय । शौच-संयमोप-करण-विषयक है और ज्ञानोपकरण के रूप में शास्त्र रखने का, स्वाध्याय-तत्पर रहने का आदेश शास्त्रों में दिया गया है अतः लेखसमाप्ति से पूर्व यह आवश्यक है कि 'मूला-राधना' की उन पंक्तियों को स्मरण कर लिया जाए, जिनमें शिक्षा (स्वाध्याय) का आग्रह करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'प्राण जब कण्ठगत हों तब भी मुनि, तपस्वी को

* *'चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढ णिभंतु ।*
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधइ हेउ मुणंतु ।।
चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्लाचेल्लियएहिं ।
मोह जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहिं ।।'—परमात्मप्रकाश, ८८-८९.

प्रयत्नपूर्वक आगमस्वाध्याय करना चाहिए ।' आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है— 'आगमचक्खू साहू' और 'अज्झयणमेव झाणं'—साधु की आँखें उसका शास्त्र है । जहाँ उसे चर्या में संशयविकल्प हों, तत्काल शास्त्रों की शरण लेनी चाहिए । शास्त्र बताएँगे कि वह क्या करे ? क्या न करे ? और त्यागी का ध्यान उसका अध्ययन है । अध्ययन द्वारा ही वह सम्यक्त्व के विषय में जानकारी प्राप्त करता है । शास्त्रों की सीप से सम्यक्त्व के मुक्ताफल मिलते हैं । तन्मयता बढ़ती है और ज्ञानसम्पन्न होने से स्व-पर का बोध होता है । इस प्रकार ध्यान द्वारा जो परिणामविशुद्धि होती है वही शास्त्रस्वाध्याय से सिद्ध होती है । यही सोचकर आचार्य कहते हैं 'अध्ययनम् एव ध्यानम्'—यहाँ 'एव' शब्द निश्चय-परक है । वास्तव में जिनसरस्वती के दर्शन करनेवालों ने तन्मय होकर अध्ययन में ही ध्यान तथा समाधि प्राप्त की है । जिन्होंने दुस्तर संसारवारिधि को तैरकर पार जाने के लिए पिच्छिकमण्डलु तथा शास्त्र तीन उपकरण एवं सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञानचारित्र-रूप त्रिरत्नों को धारण कर लिया है मानो उसने जन्म-पुनर्जन्म की गति रोकने के लिए वज्रमय तिहरी प्राकारभित्तियों का निर्माण कर लिया है । पिच्छि शिवमार्ग की बुहारी है, कमण्डलु सिंचन करनेवाला है और शास्त्र शिवमार्ग की दिशाबोध की ध्रुवसूची (कम्पास) है । उस दुर्गम पथ पर पहुँचनेवाला तो कर्मरजोविमुक्त आत्मा ही है, इति शुभम् ।

उपसंहार—

'पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणदि ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ।।'

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार

जो साधु पिच्छि संथरण—संथारा—एवं नाना कामनाओं में लोभ से ममकार-ममत्व करता है और जब तक वह इस प्रकार के आर्तरौद्र ध्यान में फँसा रहता है उसे न निरा-कुलतारूप सुख मिलता है और न उसकी मक्ति ही होती है । □

शब्द और भाषा

शब्द का अर्थ ध्वनि है और इस निरुक्ति से शब्द ध्वन्यात्मक है। इस ध्वनि को अपने व्यावहारिक स्थैर्य के लिए मानव ने आकृतिबद्ध कर लिया है, अतः शब्द वर्णात्मक है। तर्कशास्त्रियों ने इसी बात का निर्वचन करते हुए लिखा है—'शब्दो द्विविधः। ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ, वर्णात्मकश्च संस्कृत-भाषादिरूपः'—वस्तुतः ध्वनि शब्द का स्फोट है और वर्ण उसकी आकृतिपरक रचना है। मानवजाति का लोकव्यवहार परस्पर बोलकर अथवा लिखकर चलता है। वह अपने विचारों को लिखकर स्थिरता प्रदान करना चाहता है। किसी एक समय वाणी द्वारा प्रतिपादित अथच चिन्तन में आये हुए भाव किसी अन्य समय में विस्मृत हो जाते हैं इसी विचारणा ने लेखनप्रक्रिया का आरम्भ किया। इस लेखनप्रणाली से विश्व के किसी भी भाग पर स्थित मनुष्य अपने सन्देश को दूरातिदूर स्थानों तक पहुँचा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि लिपिमयी भाषा का विकास न हुआ होता तो मनुष्य साक्षात् वार्तालाप तो कर सकता था किन्तु उन्हें स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता था। इस महत्त्वपूर्ण शब्द-स्थैर्यकरणविधा को जिस दिन लिखितरूप मिला, लिपिशक्ति प्राप्त हुई, वह दिन मानवजाति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, इसमें कोई संशय नहीं। अब मानव अपने विचारों का संकलन कर सकता था, अपनी वाणी को स्थिरता दे सकता था और दूर अथवा समीप प्रदेशों तक अपनी आवाज पहुँचा सकता था। सिद्धान्त-वाक्यों के विस्मरण का लिपिरचना के बाद कोई भय नहीं रहा; परन्तु कालान्तर में मौखिक तथा लिखित भाषा में परस्पर प्रतिष्ठा को लेकर कलह उत्पन्न हो गया। लिपिरचना के पूर्वसमय में 'उक्ति' को प्रतिष्ठा प्राप्त थी और महान् उपदेशकों, आचार्यों के आशय को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते समय 'उक्तम्'—जैसा कि अमुक ने कहा है, कहकर अपने भाषण को समर्थन दिया जाता था किन्तु लिखने की शक्ति मिलने पर 'मौखिक' का महत्त्व समाप्तप्राय हो गया और जिह्वा की प्रमाणवत्ता हाथों को प्राप्त हो गई। हाथ से लिखा हुआ प्रामाणिक माना जाने लगा और मुख से कहा हुआ लिपिरूप में प्रत्यक्ष (आँखों के समक्ष) न होने से अविश्वस्य हो गया। अस्तु।

जैनमत के अनुसार भगवान् आदिनाथ ने अपनी ब्राह्मी तथा सुन्दरी नामक दो पुत्रियों को वर्ण और अंक विद्या का उपदेश दिया था। इसीलिए भारतीय लिपि तथा भाषा को ब्राह्मी और भारती कहा जाता है। वैदिकों के अनुसार ब्रह्म ने चिन्तन किया—'एकोऽहं बहुस्याम्' 'मैं एक हूँ और अनेक हो जाऊँ'—इसी इच्छाशक्ति ने शब्दरूप में प्रथम जन्म लिया अतः वह ब्रह्मभाषित होने से ब्राह्मी कही गई।

भाषाशास्त्रियों का मत है कि मनुष्य आरम्भिक अवस्था में छोटी-छोटी सामान्य ध्वनियों से काम चलाता था। जैसे किसी को आह्वान करना (पुकारना) हुआ तो 'ए' 'ओ' कहता था। पानी की इच्छा हुई तो 'क' कहता था, आकाश का संकेत करना होता तो 'ख' कह देता था। आश्चर्य व्यक्त करने के लिए 'ई' 'उ' पर्याप्त था। इस प्रकार आरम्भ में लघुतम वर्णध्वनियों से अभिव्यक्ति के मार्ग पर बढ़ रहा था। संस्कृत भाषा में ये एकाक्षर शब्द आज भी मूल अर्थ में सुरक्षित हैं। उस प्राचीनतम समय का 'ए-ओ' अयि तथा अये बन गया है। इसी प्रकार 'च' 'न' 'ह' 'र' 'ल'– इत्यादि एकाक्षर शब्दों को लिया जा सकता है। कालान्तर में शब्द एकाक्षर से द्व्यक्षर, त्र्यक्षर और बह्वक्षर बना। तब मिश्र, यौगिक आदि अनेक ध्वनियों का विकास हुआ। आज मानवमात्र के पास एक न एक भाषा है जिसमें वह अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त करता है। इन ऊपर से पृथक् प्रतीयमान भाषाओं के उपलब्धिस्रोत अधिकांशतः अपने मानवपरिवार-सामीप्य की सूचना दे रहे हैं। भाषाओं का यह साम्य उनके आभ्यन्तर जीवन पर है। दिन, वार, पक्ष, मास, वर्ष, संख्या तथा इसी प्रकार के अन्य साम्य विश्वभर में हैं। सर्वत्र वर्ष-गणना के दिनों में, मास संख्या में, अंकों की शतकपरम्परा में किसी अतिपूर्वकालीन एकानुबन्ध का संकेत है। यह एकानुबन्ध सर्वप्रथम किस भाषा का ऋणी है, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। तथापि आधुनिक 'भाषाविज्ञान' के मनीषियों ने यह स्वीकार किया है कि 'ऋग्वेद' सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है और उसीकी भाषा प्राचीनतम है। यह भी भाषाविदों का अभिमत है कि सम्पूर्ण मानवपरिवार कभी एकभाषाभाषी था और अपने कौटुम्बिक आयामों की विस्तृति के साथ भूमण्डल पर फैलता गया। वह मूल-भाषा उनके साथ विश्व में फैल गई और दीर्घकाल के अनन्तर उन-उन परिवारों के देश, काल, संस्कार तथा परिस्थितियों के परिवेश को स्वीकार कर परिवर्तित होती गई। जैसे आज के भूगर्भविशारद पृथ्वी की गहराइयों का उत्खनन कर प्राप्त वस्तुओं से प्राचीन इतिहास का पता लगा रहे हैं और टूटी शृंखला की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ जोड़ रहे हैं, उसी प्रकार भाषाविज्ञान के आचार्य भी बनते, बदलते, घिसते, घिसटते, खुरदरे, चौकोर और लम्बोतर होते शब्दों की मूल आकृति को जानने के लिए कृतोद्यम हैं। उन्हें इस बात में सफलता भी मिली है। प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, मागधी, अर्धमागधी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि भारत की प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत भाषा के तद्भवरूपों की प्रचुरता है और विदेशी भाषाओं में भी संस्कृत के सहस्रों-सहस्रों शब्द विद्यमान हैं। संस्कृत की व्याकरणसम्मत प्रक्रिया आज भी उनमें प्राप्त है। यद्यपि उन-उन देशी-विदेशी भाषाओं के साहित्य अपने स्वतंत्र मौलिक चिन्तन के साथ लिखे गये हैं तथापि उनका शब्द-विधान संस्कृत का ऋणी है। प्रकृति-प्रत्ययों की शैली ने संस्कृत को जो उर्वरता की पुष्कलक्षमता प्रदान की है, वह अद्भुत है। शब्दनिर्माणशक्ति की साभिप्राय प्रक्रिया संस्कृत व्याकरण को प्राप्त है। सिद्ध है कि भारतीय तथा भारतीयों से इतर भाषाओं

को संस्कृत ने पर्याप्त जीवन दिया है। आज राष्ट्रभाषा पद पर विराजमान हिन्दी अपने को संस्कृत से विश्वभाषाओं की तुलना में सर्वाधिक सम्पन्न कर सकती है। संस्कृत भाषा की शब्दनिर्माणशक्ति की एक झलक यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

शब्दनिर्माण करते हुए उन-उन निर्माताओं का ध्यान वस्तु के गुण, स्वाद, आकृति, स्वभाव, वंश, स्थान, प्रकृति इत्यादि अनेकांशों पर गया और फलतः उन्होंने जो शब्दरचना की, वह वस्तुविज्ञान के इतिहास में आज भी अपूर्व है तथा प्राचीनों की शोधमनीषिता को बताती है। गुण के आधार पर निर्मित शब्द 'धात्री' है। धात्री आँवले को कहते हैं। धात्री का अन्य अर्थ धाय (उपमाता) है। माता के अभाव में जो शिशु को अपना स्तन्य पिलाकर जीवन प्रदान करती है, उसे धात्री कहते हैं। आँवला माँ के स्तन्य का विकल्प ही है, उतना ही शक्तिदाता एवं पोषक है, इस गुणानुसन्धान के बाद आयुर्वेद के मनीषियों ने आमलकी को 'धात्री' कहा। स्वादपरक नामों में 'मधुयष्टि' जिसे मुलैठी कहते हैं, प्रसिद्ध है। मधुयष्टि का अर्थ है, मीठी लकड़ी; और इस नाम से कोई भी उसे पहचान सकता है। मण्डूकपर्णी तथा कृष्णाक्षी क्रमशः मंजिष्ठा तथा गुंजा (चिर्मी) को कहते हैं। यह आकृति देखकर निर्मित संज्ञा है। मेंढक जैसे पत्तोंवाली मण्डूपकर्णी और काली आँखवाली कृष्णाक्षी। स्वभाव का निरूपण करनेवाले शब्दों में 'चन्दन' नाम लिया जा सकता है। चन्दन शब्द का अर्थ है आह्लाद देनेवाला। चन्द्रमा, कपूर, तथा पाटीर वृक्ष के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। 'चन्दनं शीतलं लोके' यह लोकोक्ति भी है जो चन्दन के शीतल स्वभाव को बताती है। वंशपरिचायक शब्दों में 'राघव' शब्द है। रघुकुल में उत्पन्न श्रीरामचन्द्र इसका अर्थ है। स्थान अथवा क्षेत्र का अर्थबोध. करानेवाले शब्दों में कमल के वाचक 'नीरज' शब्द को लिया जा सकता है। प्रकृति परक शब्द 'पुनर्भू' है। नाखून तथा केश अर्थ में 'पुनर्भू' का प्रतिपादन होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है पुनः पुनः उत्पन्न होने वाला। नाखून काटने पर भी बार-बार बढ़ते रहते हैं इसलिए उन्हें पुनर्भू कहा। इस प्रकार विविध दृष्टिकोणों से शब्द-रचना की प्रक्रिया तैयार की गई है। जैसे परिवार में एक ही व्यक्ति को अपेक्षा-भेद से पिता, पुत्र, कहते हैं उसी प्रकार शब्द भी अपने गुण-स्वभाव-प्रकृति आदि से निष्पन्न होता है। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों की अपेक्षा 'शीतरश्मि' है और अपने बिम्ब में दिखायी देनेवाले धब्बे की अपेक्षा 'कलंकी', 'शशलक्ष्मा' है। वह कभी क्षीण और कभी पूर्ण होता है अतः 'क्षयी' है। चन्द्रमा के उदय से कुमुद खिल जाते हैं। अतः इसे 'कुमुदबान्धव' कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर के वर्द्धमान, सन्मति अतिवीर तथा वीर नामों की रचना की गई है। शब्दरचना की अनन्त सम्भावनाओं से संस्कृत वाङ्मय भरा हुआ है। शब्दों का यह परिचय-अवगाहन दिङ्मात्र है और शब्दरचना के लिए जिज्ञासा रखनेवालों को प्रेरणार्थक है अन्यथा यह एक विषय एक पुस्तक हो सकता है। शब्दों के रहस्यपूर्ण रचनाकौशल की अधिक जिज्ञासा व्याकरण और भाषाविज्ञान से तृप्त की जा सकती है।

भाषा ने मनुष्य की अनेक समस्याओं का समाधान किया है। भौतिक और आत्मिक जगत् में भाषा के राजमार्ग क्षितिज तक चले गये हैं। भाषा के रथ पर बैठकर भाव यात्रा करते हैं। भाषा भावों के आभूषण पहनकर महासम्राज्ञी की गरिमा धारण करती है। भावों के बिना भाषा विधवा है और भाषा के बिना भाव अमूर्त हैं। इनका परस्पर सहचारिभाव है। भावों के बिना भाषा चल नहीं सकती, आखिर वह तो खाली गाड़ी के समान है, यात्री तो भाव हैं, जिन्हें लेकर शब्दगाड़ी को चलना होता है। इस विचारणा से भाषाओं के साथ समन्वय तथा समताभाव रखनेवालों में श्रमण मुनि और जैनपरम्परा आग्रहशील रही है। जैसे कोई तृषाक्लान्त व्यक्ति दूर तक भरे हुए जलाशय के जलविस्तार को नहीं देखता किन्तु अपनी अंजलि में आनेवाले (उतने ही) पानी को ग्रहण करने का ध्यान रखता है उसी प्रकार उन्होंने भाषाओं को भावग्रहण का माध्यम मात्र माना, उसकी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि जातिविशेष पर मोह नहीं किया। उनका उद्देश्य लोक में धर्म प्रभावना रहा और इसलिए लोक जिस भाषा को समझते हों, उसी का आधार लेकर उन्होंने अपने धार्मिक भावों को अभिव्यक्ति दी। कभी वे संस्कृत की रत्नशिविका में बैठकर चले तो कभी प्राकृत के पल्यंक पर विराजमान हुए। कभी अपभ्रंश की वीथी को धन्य किया तो कभी प्रान्तीय भारतीयों को समृद्ध किया। इसके प्रमाण के लिए जैन साहित्य के द्रष्टाओं, दर्शनेच्छुओं को तमिल में लिखित जीवन्धर चरित, कन्नड़ में पम्प कवि का आदिपुराण, अपभ्रंश में स्वयम्भू महाकवि का पउमचरिउ, प्राकृत में धवला, जयधवला और गोम्मटसार, मराठी में जनार्दन कवि का श्रेणिक पुराण और अन्यान्य विविधभाषी ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए। जैन श्रमण-परम्परा ने भारत की प्रान्तीय भाषाओं और प्राचीन धार्मिक भाषाओं का समत्व-योग से उपबृंहण किया है। यह दृष्टिकोण असाधारण है और लोकभावना को सम्मान देनेवाला है। वस्तुत: जिनके धर्ममय विश्वासों पर भगवान् महावीर के सर्वोदयी तीर्थ के संरक्षण, संवर्धन का महान् दायित्व है उन्हें विविधभाषाओं से परिचय रखना ही चाहिए। यही उनकी वीतरागता का प्रमाण है कि उन्हें किसी भाषा से राग नहीं, आग्रह नहीं। बहुभाषाविद् होने का एक लाभ यह भी होता है कि धर्मोपदेष्टा अपनी बात बहुतों तक पहुँचा देता है और उनकी बात को सुन-समझ लेता है। नित्य परिभ्रमण करनेवाले मुनियों के लिए तो यह बहुज्ञता और अधिक महत्त्वपूर्ण है।

देश-देश में अलग-अलग भाषाएँ हैं। जो जिस देश का निवासी है वह उसी देश की भाषा बोलता है, यह स्वाभाविक है। भाषा में अपनी संस्कृति का इतिहास अंकित है और आत्मीयता के सूत्र लिखे हैं। अपनी-अपनी मातृभाषा के प्रति व्यक्तियों का आग्रह सहज होता है; किन्तु आग्रह को इतनी रूढ़ता तक नहीं ले जाना चाहिए कि वह बैर, कलह और वैमनस्य की भूमि बन जाए। विश्व के सभी मनुष्यों का काम भाषा से चलता है। वह भाषा उसके व्यवहारसाधन में उपयोगी है किन्तु

साध्य नहीं। जब कोई उसे साध्य मानकर स्वयं साधन बन जाता है तो कलह का सूत्रपात हो जाता है। किसी व्यक्ति को वाष्पयान और किसी को वायुयान पसन्द है। दोनों अपनी-अपनी रुचि के वाहनों से यात्रा करते हैं; किन्तु गन्तव्य स्टेशन पर पहुँचते ही वे दोनों वाहनों को भूलकर अपने घर चले जाते हैं। यही भाषाओं की स्थिति है। भावों को व्यक्त करने के उपरान्त भाषाओं की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अतः भाषाएँ साधन हैं और व्यक्ति उनसे उपयोग लेनेवाला, उपयोक्ता है। वाहन पर सवार व्यक्ति अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है किन्तु जो वाहन को अपने ऊपर बैठाकर चलता है वह वाहन के भार से मध्यमार्ग में ही थककर बैठ जाता है। इतना होने पर भी राष्ट्र के लिए भाषा एक सफल माध्यम है। भाषा की सहायता से राष्ट्र विस्तार ग्रहण करता है। समानभाषाभाषी के हृदय में दूसरे समानभाषी के प्रति व्यवहारसौकर्य तो होता ही है, प्रेमभाव भी उत्पन्न होता है। अतः राष्ट्रीय स्तर पर किसी एक भाषा का निर्धारण आवश्यक है। वह भाषा अधिकतम जनों की भाषा होनी चाहिए। उसके माध्यम से राष्ट्र के पूर्व-पश्चिम, दक्षिणोत्तर प्रान्तों के लोग समीप आयेंगे। एक सशक्त राष्ट्रभाषा के बिना केन्द्र-संस्था का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार स्फीत नहीं हो सकेगा। विदेशों में राष्ट्रीय स्वर को किसी वैदेशिक अथवा प्रान्तीय भाषा द्वारा सम्मानित नहीं किया जा सकता। 'संगच्छध्वं, संवदध्वम्, सं वो मनांसि'— इस प्राचीन राष्ट्रीय सूक्त में साथ चलने, साथ बोलने तथा साथ-साथ मानसिक समत्व रखने का निर्देश किया गया है। यह राष्ट्र के सहअस्तित्व के लिए नितान्त उपयोगी है। अपनी टेढ़ी चाल से, वक्र-गति से राष्ट्रीय राजमार्ग को विकृत नहीं करना चाहिए। प्रायः राष्ट्रभक्ति का परिचय व्यक्ति की भाषा से भी होता है।

भाषा लोकव्यवहार में आकर परिमार्जित तथा स्फीत होती है। भाषा की समृद्धि उसके उपयोक्ताओं पर है। उपयोक्ता जिस क्षेत्र में प्रगतिशील होंगे, भाषा और उसकी शब्दनिधि उस विषय में अधिक प्रांजल तथा अधिकारसम्पन्न अभिव्यक्ति-पूर्ण होगी। लोकजीवन में आकर ही शब्द विविध रूप ग्रहण करते हैं। कभी वे शीर्षासन करने लगते हैं और कालान्तर में वैसे ही रह जाते हैं तो कभी गेहूँओं में मिले यवकणों की तरह किसी अन्यार्थक शब्द के साथ मिलकर स्वयं अन्यार्थक हो जाते हैं। वैयाकरणों को यह परिवर्तित, विकृत अथवा अर्थान्तर-परिणत रूप बड़ा प्रिय लगता है। वे ढूंढ़-ढूंढ़कर ऐसे शब्दों को लोकव्यवहार से ग्रहण करते हैं तथा उस पर अपनी मान्यता की मुहर लगा देते हैं। जैसे 'सिंह' शब्द 'हिंस' से बना है। हिंसाजीवी होने से पूर्वसमय में इसे 'हिंस' कहते रहे होंगे। कालान्तर में वर्णविपर्यय हो गया, और हिंस शीर्षासन करने लगा, सिंह हो गया। 'देवानां प्रियः' का अर्थ है देवों का प्रिय। प्रियदर्शी अशोक सम्राट् को 'देवानां प्रिय' कहते थे। कालान्तर में इसका अर्थ 'मूर्ख' किया जाने लगा। सम्भव है, अशोक द्वारा बौद्धधर्म स्वीकारने से उसकी प्रशंसा को निन्दा में प्रचलित कर दिया गया हो। पाणिनि व्याकरण के 'षष्ठ्या चानादरे' सूत्र का उदाहरण 'देवानां प्रिय' इति च मूर्खे, दिया गया है। वस्तुतः

वैव और प्रिय दोनों शब्दों का मूर्ख अर्थ नहीं होता। तुलसीदासजी ने अपने एक दोहे में लिखा है—'रामचरण छहतीन रहु दुनिया से छत्तीस'—अर्थात् रामभक्ति करते समय छह और तीन अंकों के समान रहो—६३ तिरसठ का यह रूप परस्परोन्मुखी है। अतः अर्थ किया गया है कि रामचरणों के सदा सम्मुख रहो और संसार से ३६ अर्थात् तीन और छह के अंकों के समान नित्य विमुख रहो। ये रति और विरति के अर्थ भाषा की ऊर्जा को, उसकी नित्यनवग्रहणसमर्थ प्राणशक्ति को सूचित करते हैं। वैयाकरणों का एक प्रसिद्ध श्लोक है कि—शब्द का अर्थ करते समय व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपद का सामीप्य—इतने अनुबन्धों का ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा अर्थ विपरीतार्थक भी हो सकता है। 'अर्थः प्रकरणं लिंगं वाक्यस्यान्यस्य सन्निधिः'—लिखते हुए एक अन्य श्लोक में भी शब्दशक्ति का निरूपण किया गया है। प्रकरण जाने बिना शब्दमात्र से अर्थ का अभीष्टदोहन नहीं किया जा सकता, इसका उदाहरण है सैन्धव शब्द। सैन्धव के दो अर्थ हैं; अश्व तथा लवण। यदि वक्ता भोजन की थाली पर बैठा है और 'सैन्धव लाओ' कहता है तो प्रकरण देखकर उस समय नमक लाना संगत है और वस्त्र धारणकर यात्रा के लिए सन्नद्ध है तो भृत्य को उचित है कि वह अश्व लावे। प्रकरण जाने बिना यदि वह दोनों अवसरों पर विपरीत अर्थ करे तो शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रतिपादन नहीं कर पायेगा। बहुत-से शब्द संस्कृत भाषा के तत्समरूपों से विकृत होकर विदेशी भाषाओं में घुलमिल गये हैं। जैसे डाटर (दुहितर्), होम (हर्म्य), क्वार्टर (कोटर), मैन (मनु), नियर् (निकट), लोकेट (लोकित), थ्री (त्रि), डोर (द्वार) इत्यादि। इसी प्रकार विदेशी भाषाओं के रूप भी भारतीय भाषाओं में रच-पच गये हैं।

ये शब्द रूप, रस, गन्ध, वर्ण युक्त हैं, पौद्गलिक हैं; परन्तु पुद्गलपर्यायी होने पर भी इनकी स्थिति महत्त्वपूर्ण है। अपराजित मंत्र 'णमोकार' शब्दरूप है, भगवान् के स्तुतिपद शब्दों की सोद्देश्यरचना है। आशीर्वाद और अभिवादन का शिष्टाचार शब्दमाध्यम से पूरणीय है। परिवार के वात्सल्य अंग शब्दसहयोग से निष्पन्न होते हैं। पत्नी, माता, पुत्री आदि शब्द न होते तो पारिवारिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। आगम-शास्त्र कुछ शब्दों के ही अर्थानुगामी विन्यास हैं। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की संज्ञाएँ शब्दबद्ध हैं। शब्दों का सावधानी से चयन कर हम दूसरों के मुख पर स्मित के फूल खिला सकते हैं और अवमानना के शब्दों से नेत्रों में अग्नि-ज्वाला का अविर्भाव भी कर सकते हैं। कतिपय अवसर-प्रयुक्त शब्द जन्मभर के लिए मैत्री में बाँध लेते हैं और दुष्प्रयुक्त होने पर वैर-विरोध उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार अमृत और विष जिह्वा में बसे हुए हैं। जिसके पास मधुरभाषा है, मीठी बोली है, वह पशु-पक्षी भी मनुष्य को प्रिय लगता है। यह जानकर मधुरवाक् की शक्ति बढ़ानी चाहिये। जो सदैव स्मितपूर्वक बोलता है, उसके सभी मित्र बन जाते हैं। जो बहुत से लोगों के सम्पर्क में आते हैं, उन्हें वाणी को नवनीत में चुपड़ कर स्निग्ध रखना चाहिए। किसी सूक्तिकार ने कहा है—'बोलबो न सीख्यो, सब सीख्यो गयो धूल में' यदि किसी ने

बहुत सीख लिया किन्तु बोलना नहीं सीखा तो पढ़ा-लिखा सब धूलि में मिल गया। बोलना, अर्थात् वाग्मात्मक शब्द-भारती का विशिष्ट चयन कर लोक को प्रसन्न, मुग्ध कर देना बड़ा कठिन है। काक निम्ब वृक्ष पर बैठता है और कटु बोलता है, कोकिल रसाल को चुनती है और रससिक्त वाणी बोलती है। शब्दों के उचित व्यवहार पर सुखी जीवन का निर्माण होता है। जो वाणी पर बाण रखता है, लोग उससे त्रस्त रहते हैं। कीर्ति-जीवी को शब्दजीवी, अक्षरजीवी कहते हैं। पुरुषायु समाप्त करने पर भी, दिवंगत व्यक्ति अक्षरों में जीवित रहता है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति'—जिसकी कीर्ति लोक में विश्रुत है, वह मर कर भी जीवित है। जिसे शब्दों ने धिक्कार दिया, उसको तीन लोक में यशस्विता प्राप्त नहीं होती। सम्यक्चारित्रशील को विद्वान्, त्यागी शब्दों द्वारा ही स्मरण किया जाता है। शब्द में शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र, शान्त सभी रस समाहित हैं। गंधरूप में शब्द अचिन्त्य महिमशील है।

शब्दकोश के धनी बिरले व्यक्ति होते हैं। बहुत-से तो एक-एक शब्द के लिए तरसते हैं। इस प्रकार कुछ व्यक्ति शब्दों की उपासना करते हैं; और कुछ व्यक्तियों की उपासना के लिए शब्द स्वयं प्रस्तुत होते रहते हैं। जैसे महाप्रभावी तपस्वियों के चरण स्पर्श का सभी को तुरन्त अवसर नहीं मिलता, उसी प्रकार उन समर्थ शब्दधनियों को अपनी विशाल शब्दसम्पत्ति में से सभी का प्रयोग कर पाना कठिन होता है। कवि धनंजय ने इसी आशय का एक श्लोक लिखते हुए कहा है कि धनंजय ने चुन-चुन कर शब्दों को कोशबद्ध कर दिया है। उसके भय से पलायित शब्द तीनों लोक में दौड़ लगा रहे हैं। वेदवाणी के रूप में वे ब्रह्मा के पास चले गये, गंगाध्वनि का व्याज करते हुए हिमालय पर शंकर के पास और क्षीर समुद्र की कल्लोल-हुंकारों के मिष से केशव (विष्णु) के पास चले गये। धनंजय के भय से उत्पीड़ित शब्द फुंकार कर रहे हैं, मानो*। तात्पर्य यह है कि धनंजय के पास शब्दों की कमी नहीं है। वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पास जो शब्द सम्पत्ति है, उस सभी को जानता है। जो शब्द-शब्द को मोतियों के समान चुनते हैं वे गम्भीर शास्त्र समुद्रों में गहरी डुबकी लगाने वाले गोताखोर होते हैं। वे ही वाङ्मय-प्रासाद को सँवारते हैं, भारती-मन्दिर में अर्चना के पुष्पोपहार समर्पित करते हैं।

भौतिक विज्ञान की सहायता से आज शब्दशक्ति नये-नये रूप में लोक व्यवहार का साधन बनी है। 'डाक' विभाग की कृपा से शब्द देश-विदेश में पर्यटन करने लगे हैं। 'तार' से उड़ते हैं, टेलीप्रिंटर पर साकार होते हैं। संगीत के तारों पर थिरकते हैं। अभी ज्वालामुखियों के विस्फोट तक सीमित थे अब अणुआयुधों में बन्द हैं और मानव को किसी भी क्षण की गई अबुद्धिमत्तापूर्ण कार्यवाही की प्रतीक्षा में हैं। काकातोआ और विषूवियस से अधिक भीषण उद्घोष करने वाले 'धड़ाके' इन बमों में अकुला रहे हैं।

'देवा जिनेन्द्रवचोऽमृतम्'—भगवान जिनेन्द्र की वाणी को अमृत बताया गया है। जो अपने अस्तित्व से लोक में जीवन संचालित करे, वह वाक् अमृत ही है। यह शब्द, शब्द-मय वाक् प्राणिमात्र में बन्धुत्व स्थापन करने वाली है। इस भाषा के अमृत पात्र में विश्व के रसपिपासु अधर डूबे हुए हैं। ☐

---

* *'ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात्तुषाराचल-*
स्थानस्थवारमीश्वरं सुरनदीव्याजात्तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधेर्ध्वनोपदेशादहो
फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ॥'

वक्तृत्व-कला

वक्तृता से वक्ता का पता चलता है। वाक् वक्ता के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती है। कौन क्या है, इसका परिज्ञान उसकी वाणी से होता है। मनुष्य में अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा होती है। वह जिन संस्कारों में पालित-लालित होता है, उन्हीं को अपने व्यवहार से प्रकट करता है। यह सिद्धान्त केवल वक्तृत्व पर ही चरितार्थ नहीं होता, अपितु व्यक्तिमात्र के सर्वांग आचरणों में परिलक्षित होता है। वाणी से उसकी विद्वत्ता, आचरण से उसकी संस्कारिता, व्यवहार से उसका स्वभाव, खान-पान से धार्मिक विवेक और संगति से उसके गुण-दोषों का सहज ही पता लग जाता है। जो विद्वान् है वह हीनभाषी, अपशब्दप्रयोक्ता, कटुवादी नहीं होता है। शब्द के विपुल भण्डार एक दूकान के समान हैं जहाँ खरीददार अपनी पसन्द के शब्दों को ग्रहण करता है। वह वहाँ किस वर्ग के शब्द चुनता है, इतने मात्र से वह क्या है, इसका बोध हो जाता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि का आभरण करता है। मन:प्रियवस्तु की प्राप्ति के लिए हाथ बढ़ाता है। जलाशय में राजहंस और शूकर दोनों प्रवेश करते हैं। राजहंस उसके निर्मल नीर पर तैरता है और शूकर उसके पंक में प्रवेश कर उसी का विलोडन करता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार निर्मल जल और पंक दोनों को प्रिय हैं। इसी को लक्ष्य कर किसी नीतिविद् ने कहा है कि 'कासारेऽपि प्रविष्ट: कोल: कर्दमं गवेषयति'—यह रुचिभेद ही व्यक्ति-व्यक्ति के व्यक्तित्व में न्यूनाधिकत्व, अथवा अवरत्व-उत्तमत्व की श्रेणियाँ प्रसूत करता है। किसी कवि ने कहा है कि उच्च-कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली (करतल) में कमलपुष्प नहीं होता और किसी जारज संतान के सिर पर शृंग नहीं उगता। सामान्य दृष्टि में दोनों समान प्रतीत होते हैं किन्तु जब-जब उनमें से कोई वाणीप्रयोग करता है, तब-तब उनके जाति-कुल का प्रमाण अपने-आप प्राप्त हो जाता है*। शब्दराशि का भावाभिव्यक्ति के लिए उत्तम चयन अवचेता के उत्तम मन की सूचना है। एक गुरु के पास दो छात्र व्याकरण और साहित्य (काव्य) विषयों का अध्ययन करते थे। एक दिन उनकी भाषा-परीक्षा लेने के लिए गुरु ने सामने खड़े हुए निष्पत्र वृक्ष की ओर संकेत कर कहा—यहाँ सूखा पेड़ खड़ा है—इसका संस्कृतानुवाद करो। वैयाकरण ने कहा 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और साहित्यपाठी ने कोमलकान्तपदावली का प्रयोग करते हुए, 'नीरसतरुरिह विलसति पुरत:' कहा। व्याकरणविज्ञ ने सरस पदों का प्रयोग सीखा ही नहीं था। अत एव

---

* 'कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मं
न जारजातस्य शिरोविषाणम्।
यदा यदा मुंचति वाक्यवाणं
तदा तदा जातिकुलप्रमाणम् ॥'

वह कठोर, संयुक्त तथा सन्धिनियमों से जड़ीकृत भाषा में बोला और कवितापाठी ने मृदु, विरल शब्दों का चयनकर उस नीरस तरु को भी मानो, वाणीरस से सिक्त कर दिया। वास्तव में लोकव्यवहार वाणी की कोमलता पर निर्भर है। कोमलता में दयनीयता का मिश्रण नहीं होना चाहिए। दयनीयता का मिश्रण कोमलता का व्याघा-तक है। दुर्बल द्वारा विहित 'क्षमा' जैसे 'कायरता' में अर्थान्तरित हो जाती है उसी प्रकार कोमलता में दयनीयबोध उसकी मृदुता को बाधित कर देता है। उत्तम वक्ता इस भेद को सदैव हृदय में रखते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द कोमल हो सकते हैं किन्तु भीरु नहीं होते। उनके अर्थ निर्बल नहीं होते अपितु निर्मल और अगाध होते हैं। एक सूक्ति है कि राजहंस अपने स्वाभाविक स्वर में जैसा मधुर कलकूजन कर जाता है, वैसा सौ वर्ष शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी बकोट कर सकता है क्या ?* वस्तुतः जैसे मोरपंख को धूलि नहीं लगती, कमल को पंक नहीं छूता वैसे उत्तम वक्ता की जिह्वा को दुष्ट, अपशब्द स्पर्श नहीं कर पाते। अपितु सरस, विमल, जलपूर्ण तड़ाग को जैसे राजहंस पक्षी घेर लेते हैं वैसे ही उसकी जिह्वा-सरसी के तट पर बैठने के लिए सुसंस्कृत शब्दराशि अवतीर्ण होती रहती है। वक्ता उन शब्दविहंगमों के पंखों पर अपनी भावसम्पत्ति को विराजित कर श्रोताओं के देश पहुँचाता है। उन शब्दों में वक्ता का मानस छिपा रहता है, उसके समर्थ वाग्विभव का संकेत मिलता है।

वाणी के मूल में 'वाण' निहित है। मर्म की व्यथा पहुँचानेवाली वाणी 'वाण' नहीं तो क्या है ? भर्तृहरि ने कहा है कि 'वाक्शल्यो हि निर्हर्तुं न शक्यः स हि हृच्छयः'—शास्त्रास्त्र चुभने पर निकाले जा सकते हैं किन्तु वाणी का शल्य सीधा हृदय में प्रवेश कर जाता है अतः उसको निकालना कठिन है। यही कारण है कि जिह्वा की रचना मृदु है। अच्छे साधु-वक्ता उस मृदुजिह्वा में अपने हृदय का माधुर्य भी मिला देते हैं और तब श्रोताओं को वह वाणी मिश्री में घुली हुई, शर्करालिप्त के समान प्रतीत होती है। सन्तों की इस मिष्ट-वाक् को महाकवि बाण ने मणिनूपुर बताया है जिन्हें सुनकर हृदय में आह्लाद उत्पन्न होता है। 'मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव'—वाणी का सम्यक् प्रयोग लोक में प्रतिष्ठा प्रदान करता है तथा आत्मा में सुख, शान्ति का संचार भी करता है। अतः वाणी को अश्व के समान बाँधकर रखना चाहिए और जब वाग्व्यवहार अत्यावश्यक हो जाए तब उत्तम अश्वारोही के समान उस वाक्रथ की गति को वश में रखते हुए भाषण करना उपयुक्त है। वाणी बोलकर अपने को, सुनकर श्रोताओं को आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो वाक्श्रम व्यर्थ ही नहीं हुआ, अहितकर भी रहा। हिन्दी कवि की यह सूक्ति यथार्थ है, जिसमें वक्ता को मधुर शब्दों में परामर्श दिया गया है कि वह मन के दुराव को दूर रखकर ऐसी वाणी बोले जिसको सुनकर श्रोताओं के हृदय शीतलता से तृप्त हो सकें—

'ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय ॥'

---

* 'हेलया राजहंसेन यत् कृतं कलकूजितम्।
ताद्दृग् वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितुं बकः ॥'

वाणी के इस प्रयोग को जब सार्वजनिक मंच से प्रसारित करना हो तब तो उत्तरदायित्व और अधिक गुरुभार हो जाता है; क्योंकि सभाओं में श्रद्धापरायण, आलोचक, दोषदर्शी, विरोधी और सिद्धान्तहीन स्वैरवादी सभी प्रकार के लोग एकत्र होते हैं। यदि वहाँ वाणी और विचार-सन्तुलन नहीं रख सके तो रस्सी पर चलनेवाले नट के समान ऊँचाई पर स्थिरचाल से बढ़ना अशक्य हो जाता है। इसलिए आत्मीयों, अनात्मीयों, विद्वानों, दोषद्रष्टाओं और निरक्षरों सभी के चित्त को जो आह्लादित कर सके, आकर्षित कर ले, वैसी वाणी को 'सभायोग्य' निर्वचन से पुरस्कृत किया जा सकता है[1]। इस सभाशास्त्र को जाने बिना वक्ता का वक्तृत्व अस्थान प्रयुक्त है और कहा जा सकता है कि—'श्रम एव हि केवलम्'—कोरी कसरत है। उस वाणी-प्रयोग का उद्देश्य तो श्रोतृप्रबोध है। यदि वह चरितार्थ नहीं हुआ तो श्रममात्र है। ज्वर दूर करने के लिए दी जाने वाली 'क्विनाइन' की टिकिया को शर्करालिप्त किया जाता है। किसी को प्रबोध देना हो तब भी भाषा का सौष्टव और वाणी का माधुर्य व्याहत नहीं होना चाहिए। सारा संसार मधुर वाणी सुनना चाहता है। वाणी में वह चन्दन की शीतलता, मणियों की तेजस्विता, चन्द्रमा की आह्लादकता, मालतीमाला की सुरभि—सभी की एक साथ अपेक्षा करता है। शास्त्रकारों का अभिमत तो यहाँ तक है कि चन्दन, मणि, चन्द्रमा और मालतीमाला से अधिक सुख देने वाली श्रुतिप्रिय वाणी है[2]। श्रुति अर्थात् शास्त्र और श्रोत्रेन्द्रिय—जिस वाणी में आप्तप्रामाण्य भी हो और जिसको परोसने का प्रकार भी मृदु हो, वह वाणी श्रोताओं को सुख पहुँचाती है तथा अनुकूल करने में समर्थ होती है। शीतलजिनस्तोत्र में इसी आशय को व्यक्त करने वाला पद्य है कि हे मुनिपरमेष्ठिन्! आपकी निष्पाप वाणी में शम का नीर मिला है। वह शीतल है। इतनी कि चन्दन, चन्द्र, गंगाजल और मुक्तावली के हारों में भी वह शीतलता प्राप्त नहीं होती[3]। पं. दौलतरामजी ने 'छहढाला' में भाषा-समिति प्रकरण में मुनियों की वाणी को विश्वहितकर, अहितनिवारण, कर्णप्रिय, संशयहारिणी बताते हुए लिखा है कि साधुवक्ताओं का मुख चन्द्रमा-समान है और उनकी प्रबोध-वाणी भ्रमरोगहारिणी अमृत-रसस्यन्दिनी है[4]। वाणी का माधुर्य यदि वक्ता में नहीं है तो उसके वचन उस घृतकुम्भ के समान हैं जो विशुद्ध तथा शक्तिप्रद तो है, किन्तु उसको पीकर पचाना प्रत्येक के लिए सुलभ नहीं है। उसी के अंश को मिष्टान्नरूप में देने से वह उपभोग्य

---

१. 'तास्तु वाचः सभायोग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषां परेषां विदुषां द्विषामविदुषामपि ॥'

२. 'न तथा चन्दनं चन्द्रो मणयो मालतीस्रजः।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥'—ज्ञानार्णव, ९। २०

३. 'न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥'—४६

४. 'जग सुहितकर सब अहितहर श्रुतिसुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं ॥'—छहढाला.

होकर रसास्वादन देता है तथा रुचि को बढ़ाता है। अतएव वक्तृत्व-कला से अधिज्ञ वक्ता को श्रोताओं के समक्ष मधुरता के साथ उतना ही वक्तव्य देना चाहिए जितने को वे हृदयंगम कर सकें, पचा सकें। शास्त्र-स्वाध्याय की आह्निक प्रक्रिया इसी दैनिक अनुक्रम की सूचक है। श्रोता को प्रतिदिन नया पद, नया ज्ञानोन्मेष हित-मित मात्रा में मिलना चाहिए। यदि बहुत से अध्यायों को एक ही दिन में व्यक्त करेंगे तो श्रोता ग्रहण नहीं कर पायेंगे। यह लोकशास्त्र की अभिज्ञता आगमशास्त्र के विद्वान् वक्ता के लिए आवश्यक है।

'आत्मानुशासन' में वक्ता के कार्य को असामान्य कहा है। धर्मकथा कहने के लिए सभा में ऊँचे आसन पर विराजमान व्यक्ति को अपने गुणों की उच्चता का परिचय देना आवश्यक है। केवल वैदुष्य से भी काम नहीं चलेगा। श्रोताओं का ध्यान उपादेय की ओर आग्रहशील करने के लिए कुछ लोकरंजन उपायों का आश्रय भी लेना होगा। ऐसा वक्ता विद्वान् हो, विविध शास्त्रों के हृदय को जाननेवाला हो, लोकमानस से अभिज्ञ हो, किसी प्रकार की आशा नहीं रखनेवाला, प्रतिभावान्, संयमी तथा सम्भावित प्रश्नचर्चा से पहले से ही जानकार हो और उनका समाधान कर सके, साथ ही निर्भीकता, स्थिरता उसमें होनी आवश्यक है ताकि वह प्रश्नों की झड़ी लगने पर भी विचलित न हो, अधिकार-पूर्वक सभा पर नियंत्रण रखने में कुशल हो, श्रोताओं का हृदय अपनी मधुरभाषिता से जीत सके तथा किसी पर आक्षेप न करते हुए अपने विषय का समर्थन करे—इतने गुणों का समवाय एक वक्ता में अपेक्षित है*। अल्पश्रुत वक्ता को विरोधी शंकाओं से कीलित कर देते हैं। इस वक्तृता का मार्गदर्शन करने वाला एक सूत्र 'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्य ने दिया है—'वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽऽम्नाय धर्मोपदेशाः' (९ २ ५)। यह सूत्र स्वाध्याय की पंचविधता बताता है कि स्वाध्यायशील सर्वप्रथम वाचना सीखे, संशय का उच्छेद करने के लिए यथोचित प्रश्न करे, वाचना तथा प्रश्न से परिपुष्ट पदार्थज्ञान का मन में अभ्यास करे, मनन करे। अपनी अर्थसंगति को आम्नायविशुद्ध रखे तथा पदोच्चारण में अशुद्धि हो तो उसे निरस्त करे और इन चारों प्रक्रियाओं में निष्णात होने पर धर्मोपदेश दे। इस प्रकार धर्मोपदेश शास्त्रमत से स्वाध्याय का ही अंग है तथापि उपदेष्टा के पद तक पहुँचने के लिए यह वक्ता का क्रमिक विकास भी है। वक्ता होने से पूर्व वह अध्ययन करे, नाना ग्रन्थों को देखे, उनमें शंकाएँ हों, उनका योग्य गुरु से समाधान प्राप्त करे, चिन्तनमनन द्वारा अधीतविषयों को सुदृढ़ करे, उनमें उच्चारण की, आम्नाय की कोई सदोषता हो तो उसका अपवारण करे और इस प्रकार सर्वथा प्रस्तुत होकर, सज्जित होकर सभामंच को अलंकृत करे। जो बोलने की अभिलाषा रखते हुए भी उसकी आवश्यक अपेक्षा की ओर अवधान नहीं देते वे असिद्धवक्ता अपनी वाक्सिद्धि के अभाव में वक्तृता के क्षेत्र में

---

* 'प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ॥
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद् धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥' —आत्मानुशासन—४

क्रान्ति नहीं कर सकते, नयी उपलब्धि नहीं दे सकते । प्रायः ऐसे लोग बोलते समय बीच-बीच में रुकते हैं, विषय पर स्थिर नहीं रहते, विषयान्तर हो जाते हैं, अनेक बार एक ही बात को दोहराते रहते हैं, विषय की क्रमबद्धता को सुरक्षित नहीं रख पाते । वे अपनी असमर्थता को श्रोताओं की अयोग्यता कहते हैं । परिणामतः वे असफल होते हैं । समर्थ वक्ता तो जब बोलता है तब 'सूचीपात निःशब्द' शान्ति रहती है । वह लोकरुचि को पहचानकर विषय-चयन करते हैं । 'किं मे जनः पश्यति भाव-भाषिते' पर उनकी अन्तर्दृष्टि रहती है । वे 'लोग मेरे वक्तव्य पर क्या सोच रहे हैं' इसको तुरन्त भाँप लेते हैं । इसीलिए लोहा जैसे चुम्बक की ओर खिंचा आता है, लोग उत्कण्ठा-सहित ऐसे विशिष्ट वक्ताओं को घेरे रहते हैं । उनकी सभी इन्द्रियाँ उस समय श्रोत्रेन्द्रिय में आकर बैठ जाती हैं । वक्ता के पीयूषवर्षी वक्तव्य को पी-पीकर भी उनकी अतृप्ति शान्त नहीं होती । ऐसी आकर्षक, चमत्कारपूर्ण तथा अपने अभिप्राय को स्पष्ट प्रतिपादित करनेवाली वाक्शैली, वाणी-सामर्थ्य किसी को कभी सौभाग्य से ही मिलती है । गंगाप्रवाह के समान अस्खलित, समुद्रवेला के समान प्रत्येक क्षेपण में मणिमुक्तासम्भार को लिये हुए, वर्षाकालीन मेघों के तुल्य धीर-गम्भीर और कमलपुष्पों के समान जलाशयों (जडाशयों) के अन्तःकरण में प्रस्फुरित होने वाली वाणी किसी धन्य को ही मिलती है[1] ।

प्रतिपद उदार भावों से युक्त अथच चमत्कारगर्भित और भावप्रेषण में निपुण वाणी सैकड़ों में किसी एक को प्राप्त होती है[2] । 'वक्ता दशसहस्रेषु'—दशसहस्र व्यक्तियों में वक्ता एक ही होता है । यह अनुपात वक्ता की असाधारण स्थिति का परिचायक है । यों प्रत्येक व्यक्ति को वाक्सामर्थ्य प्राप्त है किन्तु लोक-प्रबोधकारिणी वाक् सबके पास नहीं होती । काकभाषित और पिकभाषित का स्वाभाविक अन्तर वक्ता और अवक्ता में बना ही रहेगा[3] । इसी को लक्ष्य करते हुए प्राचीनों ने वाणी को निर्दोष रखने के उपायों का निरूपण किया । उन्होंने कहा—प्रवक्ता के रूप में सभाओं में नहीं जाना चाहिए और यदि अपने में शास्त्र, युक्ति, प्रमाण इत्यादि में कुशल सामर्थ्य है और सभाशास्त्र में निपुणता है तो सभाओं में सम्मिलित होना उचित है । वहाँ किसी विषय पर बोलना आवश्यक हो तो सत्य और धर्मयुक्त ही बोलना चाहिए । जो व्यक्ति गुरुपाठ से (सभा में वक्ता को व्यास, गुरु और उसके मान्य स्थान को व्यासपीठ या गुरुपीठ कहते हैं)—प्रतिपाद्य विषय

१. 'गंगाप्रवाहसदृशी स्खलतिप्रहीणा
मुक्तालसद्गतिरपांनिधिभंगिमेव ।
प्रावृट्पयोद इव धीररवाऽम्बुजन्मे-
र्वोद्भेदिनी गुरुगिरा हि जलाशयानाम् ।।'—सुधासूक्ति शतकम्

२. 'शतादेकतमस्यैव सर्वोदारचमत्कृतिः ।
ईप्सितार्थार्पणैकान्तदक्षा भवति भारती ।।'—योगवासिष्ठ

३. 'काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः ।
वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः ।।'

के सत्य को जानते हुए भी मौन रखे अथवा यथार्थ को विकृत करके उपस्थित करे, ऐसा मनुष्य पाप का भागी होता है[1]।

किन्तु इस पाप और पुण्य का आत्मपरीक्षण कौन करे ? अधिकांश वक्ता तो वाणी-प्रयोग के अधिकारी भी नहीं होते। वे प्रायः सभाओं में सम्मिलित होते हैं अनुपार्जित यशःख्याति के लिए। बिना किसी विषय पर अधिकारपूर्ण जानकारी प्राप्त किये वे बोलने की उत्कण्ठा रखते हैं। जैसे बिना नीर के वारिद (बादल), जिन्हें वास्तव में 'वारि+द' न कहकर वातुल कहना अधिक उपयुक्त होगा, जो व्यर्थ में ही आकाश की ऊँचाइयों तक उठना चाहते हैं, तथापि जिनके हृदय सारशून्य होते हैं, मंढे हुए नगारे की तरह, भीतर से जो पोले (निःसार) होते हैं; ऐसे बादल और वक्ता शब्द बहुत करते हैं किन्तु जल की, जीवन की एक बिन्दु भी नहीं दे सकते। वैसे लोग, जो विश्वसमुद्धार की क्षमता रखते हैं, लबालब पानी से भरे जलद के समान, वे सद्वक्ताओं की पंक्ति में गणनीय हैं, उनकी आत्मा अन्दर से आर्द्र है। उनकी सर्वत्र प्राप्ति दुर्लभ है। उनके प्रत्येक शब्द में जीवन होता है और श्रोता उनसे संजीवन शक्ति प्राप्त करते हैं। उनकी जिह्वा पर सम्यग्रस सांजलि उपस्थित रहते हैं और अपनी पवित्र वाणी के निर्झर से वे श्रोताओं के हृदय की मलिनता को क्षणमात्र में प्रक्षालित कर देते हैं[2]। यदि सभा की समझ में नहीं आया, और वक्ता महोदय अपने वाक्शौर्य का अविहृत प्रदर्शन करते रहे, तो यह उनका श्लाघास्पद रूप नहीं; क्योंकि, 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यावत् श्रोता न बध्यते'—श्रोताओं के समय का मूल्य नहीं समझना भी विज्ञता का अभाव है।

इस कलिकाल में मनुष्यों का स्वाध्यायबल क्षीण हो गया है और अभिव्यक्ति की इच्छा प्रबल हो उठी है। इस अभिव्यक्ति को प्रदर्शन कहना अधिक सयुक्तिक होगा। आज व्यक्ति जो नहीं है, वैसा दिखाना, सिद्ध करना चाहता है। उसके बाहरी वेष से, मिथ्याप्रदर्शित दर्प से इसका प्रमाण मिलता है। पूर्व समय में लोग आहार-संयम, विहार-संयम और वाक्संयम इत्यादि अनेक प्रकार के संयमों का पालन करते थे। संयम से संचय होता था और आत्मशक्ति प्राप्त होती थी। आज व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक है। लोग प्रतिक्षण व्यय करते हैं और जेब मे व्यय करने की मात्रा नहीं होती तब ऋण करते हैं। इसका आशय यह हुआ कि संचय तो दूर रहा, व्यय करते-करते उनकी व्ययशक्ति भी अपव्यय के अधीन हो चुकी है और अब तो व्यय करने के लिए ऋण लिया जा रहा है और अपने व्यसनों को तुष्ट करने की कोशिश जारी है। इस प्रकार जहाँ पूर्वसमय में संयम से लोगों के पास उनकी निधि सुरक्षित रहती थी और समय आने पर वे उसका समर्थ होकर सानन्द उपयोग करते थे, आज वह स्थिति नहीं। किसी नीतिविद्वान् ने कहा है कि जो

---

१. *'सभा वा न प्रवेष्टव्या प्रविष्टश्चेद् वदेद् वृषम् ।*
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥'

२. *'जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः ।*
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥'—आत्मानुशासन.

व्यक्ति एक कपर्दिका (कौड़ी) का भी अपव्यय नहीं करता, वह समय पर लाखों का व्यय कर सकता है[1]; क्योंकि उसके पास संचय होता है। संचित में से तो खर्च किया जा सकता है किन्तु शून्य के वृत्त में से रुपयों की बाकी कैसे निकाली जाए। आज लोग शून्य को दुहते हैं और दूध पाने की इच्छा रखते हैं। 'नभ दुह दूध चहत अज्ञानी'—ऐसे लोगों के अज्ञान पर तरस आता है।

स्वाध्याय का विस्मरण ही 'नभ को दुहना' है। सभा में कुछ कहना चाहते हो, वह पहले से आपके पास विद्यमान होना चाहिए। 'न हि शशविषाणं खपुष्पं वा कोऽपि दर्शयितुं समर्थः'—कोई खरगोश के शृंग और आकाशपुष्प को कैसे दिखा सकता है? अपने में अविद्यमान, अनुपस्थित का वक्तव्य कैसे दिया जा सकता है? संचय की प्रक्रिया स्वाध्याय मे आरम्भ होती है। 'धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः'—प्रतिदिन यदि लवप्रमाण भी धर्म, धन और श्रुत का संचय किया जाए तो वह समुद्र से भी अधिक हो जाता है। ऐसे संचयशील स्वाध्यायी इस कलिकाल में असुलभ हो गये हैं। इस स्थिति पर खेद व्यक्त करते हुए पं. आशाधर सूरि ने कहा है—'यह कलियुग वर्षाऋतु के समान है, इसमें दिशाएँ मिथ्यात्व मेघों से ढँकी हुई हैं। अच्छे उपदेशक जुगनू के समान कहीं-कहीं चमकते हैं[2]।' अर्थात् 'औपचारिक वक्तृत्व' बढ़ गया है। सभा-पीठ पर आकर 'दो शब्द' बोलने का व्यामोह बढ़ गया है। श्री 'अ' ने कुछ कहा है तो श्री 'क' भी बोलेंगे और श्री 'ब' को बोलने का अवसर न दें, ऐसा साहस श्री 'स' संयोजकजी में कहाँ! किन्तु यद्वा-तद्वा बोलनेवाले और व्यामोहविस्तार करनेवाले ऐसों में परमात्म-प्रकाश दर्शित करानेवाले साधुवक्ता अत्यन्त दुर्लभ हैं[3]। किंचिदज्ञों की सभा में 'अहोरूप-महोध्वनि' चलती रहती है। इस प्रकार की प्ररोचनात्मक भाषा का निरर्थक प्रयोग साधु के लिए वर्जित है।

जैनशास्त्रों में वक्ता साधु के लिए भी अनेक विधिनिषेध किये गये हैं। कहा गया है कि सभी सांसारिक द्वन्द्वों से अलग रहते हुए मुनि को व्याख्यान भी नहीं करना चाहिए। उसे विरक्त, मौनी तथा ध्यानपरायण होना श्रेयस्कर है[4]; क्योंकि वाक्सम्पर्क करने मात्र से चित्त में विभ्रम उत्पन्न होने लगते हैं। अतः परम समाधि प्राप्त करने के अभिलाषी योगी वचनों की क्रिया का त्याग कर अपने आत्मा का ही ध्यान करते हैं और मोक्षगामी

---

१. *'यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां समाहरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।*
कालेन कोटिष्वपि मुक्तहस्तं तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ।'

२. *'कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह ।*
खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ।।'—सागारध.

३. *'वक्तारः प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो*
येभ्यस्तत् परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ।।'

४. *'सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो व्याख्यानादि च वर्जयेत् ।*
विरक्तो मौनवान् ध्यानी साधुरित्यभिधीयते ।।'—इन्द्रनन्दिनीतिसार, १७.

होते हैं[1]। तथापि स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा एवं धर्म-प्रभावना के निमित्त से मुनि भी आलाप-सम्भाषण करते हैं। आगम का आदेश यह बताने के लिए है कि भाषण में ही अधिक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि वे सर्वथा बोलना निषिद्ध मान लेंगे तब तो मोक्षमार्गनिर्देशक सुवचनों का दुष्काल पड़ जाएगा; क्योंकि अपूर्व आह्लाद को देनेवाली, ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँचानेवाली और सबसे बढ़कर मोह-मूर्च्छा का अपहार करनेवाली तो महात्माओं की सूक्तियाँ ही हो सकती हैं[2]। जो रागादिपरिग्रहयुक्त हैं वे तटस्थ कल्याणमार्गोपदेष्टा कैसे हो सकते हैं? जिनके स्वयं के परिणाम विशुद्ध नहीं वे लोकपरिणामों के शास्ता नहीं हो पाते। इसीलिए प्राचीनकाल में भी आचार्य समन्तभद्र और अकलंकदेव जैसों को शास्त्रार्थ, वादभिक्षा में प्रवृत्त होना आवश्यक प्रतीत हुआ। धर्मप्रभावना और धर्मरक्षा के हेतु से व्याख्यान देना, वाणीप्रयोग करना साधु के लिए विहित है। ऐसे अवसरों पर शिष्ट, मधुर और धर्मनिरूपक वाणी से राजा, कोटपाल, राजपुरोहित आदि को स्नेह-पूर्वक धर्मप्रबोध करना विहित है।[3]

मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' में लिखा है कि 'समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्म प्रचारक थे जिन्होंने जैन-सिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है। जहाँ कहीं वे गये, अन्य सम्प्रदायों की ओर से उन्हें किसी भी विरोध का सामना करना नहीं पड़ा।' उन्होंने वाद में ही दिग्विजय नहीं किया अपितु अपनी अकाट्य युक्तियों और मृदुभाषिता से हृदयविजय भी किया। प्रतिवक्ता के अहंकार को सिर से पैर की एड़ी तक उतारकर भी उन्होंने अपने वाणीमाधुर्य और व्यवहारसौष्ठव को अक्षुण्ण रखा। इससे प्रतिवादी केवल शास्त्रवाद में ही पराजित नहीं हुआ प्रत्युत मनोभूमियों की औदार्य-स्पर्धा में भी उसे हार स्वीकार करनी पड़ी। परिणामतः प्रतिवाद के स्वर अनुवादी बन गये। इस प्रकार एक नहीं, अनेक आचार्यों ने धर्म को वक्तृत्व के माध्यम से भी संवर्धित किया है। परिष्कृत विचारों को, परिमार्जित वाणी से व्यक्ति तथा समाज के पास पहुँचाने की निर्दोष पद्धति भाषणकला है।

जो तत्त्वज्ञान से वंचित हैं उनकी वाणी में अध्यात्म की गूंज सुनायी नहीं देती। वे क्लेशों से ऊपर नहीं उठ पाते और श्रोताओं को भी दुःखनिवृत्ति का मार्ग नहीं बता सकते; किन्तु जिन्होंने आगम-स्वाध्याय में निपुणता प्राप्त की है और अपने समय को

---

१. *'वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरागभावेण ।*
जो झायइ अप्पाणं परम समाही हवे तस्स ॥'–

२. *'अपूर्वाह्लाददायिन्य उच्चैस्तरपदाश्रयाः ।*
अतिमोहापहारिण्यः सूक्तयो हि महीयसाम् ॥'–सुभाषित.

३. *स्नेहमुत्पादयन् कुर्यात् सुवाग्भिर्धर्मभाषणम् ।*
राजरक्षिकतत्प्राये संशुद्धो धर्मरक्षणात् ॥'–प्रायश्चित्तचूलिका, १११.

ज्ञानोपयोग में नियुक्त किया है वे अपने सिद्धवाणी-प्रसाद से श्रोताओं को उत्तम ज्ञान-सम्पत्ति प्रदान कर सकते हैं[1]।

वक्ता में ज्ञानसम्पत्ति पुष्कल होनी चाहिए और सभाशास्त्र की अभिज्ञता तो प्रथम आवश्यक है। समय पर सभा का आरम्भ करना तथा समय पर उसका विसर्जन करना श्रोताओं को नियमित करने में सहायक होता है। यह सभाशास्त्र का प्रथम सूत्र है। यदि श्रोताओं को आप यह विश्वास दिला देंगे कि आप यथासमय अपना प्रवचन आरम्भ कर ही देंगे तो वे नित्य नियमित समय पर उपस्थित होने में तत्परता रखेंगे; किन्तु यदि उन्हें यह सन्देह हो जाएगा कि वक्ता श्रोताओं की प्रतीक्षा में कुछ समय विलम्ब से भी शास्त्र-प्रवचन आरम्भ कर सकेंगे तो वे शिथिल हो जाएँगे तथा इस सन्देह का लाभ उठाकर और देर से उपस्थित होंगे। दूसरी ओर यदि वक्ता अपने व्याख्यान को नियमित समय पर समाप्त करने का ध्यान नहीं रखेंगे तो श्रोताओं को अपने दैनिक कार्यविभाजन में असुविधाएँ होने की आशंका रहेगी और वे प्रतिदिन नहीं आना चाहेंगे। एतावता उभय-पक्षीय नियमितता का ध्यान रखने से ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

वक्ता को अप्रतिभ नहीं होना चाहिए। किसी भी प्रश्न के लिए नित्यसन्नद्ध रहना और दैनिक स्वाध्यायचिन्तन रखना उसकी सिद्धि के सोपान हैं। पानी के मूल में रहने-वाला कमल सूखता नहीं और नित्य ज्ञानार्णव में निमग्न सद्वक्ता विषय-भावों के लिए अकिंचन नहीं होता। सद्वक्ता लोकमानस में व्याप्त निराशाओं को आशा में परिवर्तित कर देता है, अनुत्साह को उत्साह प्रदान करता है, मोह और मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा करता है। उसके प्रत्येक पद में उत्साह की ध्वनि निकलती है, आत्म-चेतना के छन्द गूँजते हैं, विवेक और धर्म के भाव प्रस्फुरित होते हैं। श्रेष्ठ वक्ता की वाणी पापपंकप्रक्षालन में धर्मनिर्झर के समान होती है। कायरों के हृदयों में ओजस्विता पूरने-वाला भेरीनाद सद्गुरुओं के कण्ठों से निकलता है। वे मृदु बोलें या कठोर, उनके वाक्या-मृत का परिणाम संजीवनप्रद होता है। कठोर होने पर भी सूर्यकिरणें अरविन्द को विकास देती हैं और कठोर गुरु की उक्ति से भव्यजनों को धर्ममार्ग पहचानने का अवसर प्राप्त होता है[2]। गुरु की तो मुद्रा में वह शक्ति होती है कि सन्देह तथा शंकाएँ स्वयं शान्त हो जाती हैं। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः' और 'मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम्'—तपस्वी वक्ताओं के मौन व्याख्यान को सुपूजित करनेवाली सूक्तियाँ हैं। दिगम्बर मुनिचर्या में मौन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वयं भगवान् महावीर ने १२ वर्ष मौन रखा था। उनकी दिव्यध्वनि ६६ दिनों तक नहीं खिरी। पात्र को देखकर बोलना उचित है। टूटे पात्र में दूध डालना किस काम का? वह उसे ग्रहण नहीं कर

---

१. *'तत्त्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्।*
पक्वज्ञानवयस्येव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः॥'

२. *'विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।*
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः॥'—आत्मानुशासन १४२

सकता और तांबे-पीतल के पात्रों में वह विकृत हो जाता है। ऐसे ही पात्रता के बिना दिये गये उपदेश व्याहत हो जाते हैं अथवा विकृत हो जाते हैं। श्रमण मुनि सदैव निर्दोष बोलते हैं। कन्नड़ भाषा में एक हिन्दू कवि (सर्वज्ञ) का कथन है कि 'कालदोष से नमक का खारत्व नष्ट हो सकता है, कर्पूर कृष्णवर्ण और सर्पपुच्छ द्विधा विभक्त हो सकती है किन्तु श्रमण मुनियों का वचन कभी दो नहीं हो सकता* ।'

तत्त्वचर्चा का माध्यम शब्द है। यह शब्द रूप, रस, गन्ध, वर्णयुक्त है। इसे भी भोग माना गया है; क्योंकि यदि वीतराग भगवान् की स्तुतिपदावली गाते हुए मन में वैराग्य का उदय होता है तो शृंगारपदावली सुनकर रागभावों का होना भी आवश्यक है। मन्दिरों के घंटानाद और स्त्री के पदनूपुर शब्दायमान होकर श्रोता के मन में भिन्न-भिन्न अनुभूतियों, भावों को प्रबुद्ध करते हैं। सिंहगर्जन सुनकर भयमिश्रित रोमांच हो जाता है। एतावता शब्दचर्चा भी आवश्यकता से अधिक नहीं करना श्रेष्ठ है। तत्त्वचर्चा और स्वाध्याय उद्देश्यपथ के साधन हैं, साध्य नहीं। वक्तृत्वकला लोकानुकम्पावश धर्मसमर्पित होकर धन्य तथा उपयोगिनी है इससे अधिक इसका प्रयोजन नहीं। मुनि का हित तो आत्मध्यान में निहित है। □

---

* 'उप्पू सप्पने यक्कु कर्पूर करि दक्कु ।
सर्पनिगे बालर्वेडक्कु श्रमण तातप्पाडिदंते सवज्ञ ॥'—१०१३

मोह और मोक्ष

मोह शब्द 'मुह्' धातु से निष्पन्न होता है। व्याकरणानुसार इसकी पदसिद्धि में 'अ' प्रत्यक्ष लगता है और लोकपक्ष में देखा जाए तो मोह अप्रत्यक्ष (अविश्वास) के योग्य ही है। जो व्यक्ति इसे अपना हितू समझकर इस पर प्रत्यय (विश्वास) कर बैठता है, उसके इह और पर दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। अज्ञान के जितने पर्याय हैं उन सबका जनक (उत्पन्न करनेवाला तथा पिता) मोह ही है। मोह से दृष्टि में विकार उत्पन्न होता है। विकार से सत् और असत् का विवेक रखनेवाली ज्ञानमय दृष्टि अन्ध हो जाती है। परिणाम-स्वरूप मोहतिमिराच्छन्न को सभी परपदार्थ मोहनीय दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे पाण्डुरुजा-क्रान्त को सभी वर्ण पाण्डु दिखायी देते हैं वैसे ही मुग्ध की दृष्टि में विश्व के सतरंगे चित्र आकर्षक एवं मन को लुब्ध करनेवाले लगते हैं। वे परपदार्थ, जिनका वास्तविक स्वरूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक है, मोहावरण कर्म की छाया में अपने मूलरूप से भिन्न, आपातरमणीय प्रतीत होते हैं। जैसे किसी दीवार पर रंग पोतकर कोई चित्र बना दिया जाता है और देखनेवाला उस समय चित्र को ही देखता है, दीवार को नहीं, इसी प्रकार मांस, शोणित, कपूय-क्लेद युक्त शरीर की वास्तविक स्थिति न देखते हुए संसार ऊपर के चर्मसौन्दर्य पर आसक्त होकर अपना भान भूल जाता है। मोह का यही प्रथम लक्षण है। इसके प्रादुर्भाव से प्रथम आँखों में राग (प्रेम, लालिमा) उत्पन्न होता है फिर हृदय में अनुराग जन्मता है। राग और अनुराग में निमग्न व्यक्ति कर्मबन्धनों को स्वयं आमन्त्रण देता है। रँहट के शराब जैसे रज्जु में बँधकर कूप में उतरने तथा ऊपर जल भरित होकर उठने के लिए विवश हैं और बार-बार भरते तथा रिक्त होते रहते हैं उसी प्रकार कर्मपरवश, मोहपराजित व्यक्ति को भी नीचे जलाशयों (जड+आशयों) में उतर-कर प्यास बुझाने का प्रयत्न करना होता है; किन्तु विषयों को पीने से प्यास बुझती नहीं, जैसे पानी के स्थान पर मदिरा पीने वाले के कण्ठ सूखते हैं, तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार अनादि काल से मोह-महामद पीनेवाले को मृगतृष्णाओं में भटकना पड़ता है। कर्मतृषा-परिणाम से उसकी नीच गति का कर्मक्षय किये बिना कभी अन्त नहीं हो सकता। द्वादशा-नुप्रेक्षा में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि यह जीव मोहान्ध होकर रात्रिन्दिव विषयों के निमित्त से होनेवाले पापापराधों को यत्नपूर्वक करता नहीं थकता। परिणामस्वरूप निरन्तर भटकता रहता है*। मोहपराजित की दशा उस शंख के समान है जो सार्वजनिक चौराहे पर पड़ा हुआ है। जो कोई आता है, उठाकर एक जोरदार फूंक मार देता है और अन्तःसारशून्य वह उसी की फूँक से बजने लगता है। मोहान्ध को भी पाँचों इन्द्रियाँ मुंह लगा-लगाकर अपनी-अपनी राग में बजाती रहती हैं। स्व-परविवेक शून्य शंखसमान

---

* *'जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसंजीवो।*
मोहान्धकारसहियो तेन दुःपडंदि संसारे ॥'—द्वादशानुप्रेक्षा, ३४.

उस व्यक्ति के पास अपनी कोई रावध्वनि है नहीं, जिससे वह कुछ बोल सके और अवशक किसी सज्जन के मुंह नहीं लगे, दिव्यध्वनि उसे प्राप्त नहीं होती । ऐसे परभक्तों को कोई नचा सकता है, बजा सकता है और विकारों से उच्छिष्ट कर सकता है ।

मोक्ष और मोह छत्तीस (३६) के अंकों के समान परस्पर विरोधिधर्मा हैं। ये पाणिनि व्याकरण के 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' के उदाहरण 'अहिनकुलम्' के तुल्य हैं। यदि मोक्ष की परिभाषा सर्वकर्मविप्रमोक्ष है तो मोह सर्वकर्मसम्मोह है । ये दोनों ही सुभट हैं। एक निवृत्तिपथ का द्रष्टा है तो दूसरा प्रवृत्तिमार्ग का स्रष्टा है। एक की मुट्ठी में स्वर्ग और अनन्त सुख है तो दूसरे की भ्रकुटि में नरक तथा अनन्त दुःख हैं, एक सुनीतियों का व्यवस्थापक है तो दूसरा अनीतियों का उत्थापक है। एक सुष्ठु और दूसरा दुष्ठु। एक प्राणिमात्र का सखा तो दूसरा दुर्धर्ष वैरी । एक मणिरत्नों का आकर तो दूसरा क्षारसार लवणाकार। एक के करतल में संसार की अशेष विभूतियाँ हैं तो दूसरे में उनको भोगने की अदम्य लालसा। एक आनन्द से लहराता हुआ अपार पयोनिधि है तो दूसरा भीषण वाडवज्वाला। संसार के इस विशाल अंगण में, अखाड़े में जैसे दो मल्ल परस्पर भुजाभुजि सालम्भ (कुश्ती) करते हों। दोनों ही कामदेव के समान अनंग हैं—अंग से रहित हैं, तथापि संसार के क्रीडांगण में प्रतिक्षण इनकी बल-परीक्षा (जोर-आजमाई) चल रही है । इस उठापटक में कभी मोह विजयी होता है तो कभी मोक्ष सवासेर बैठता है। सत् तथा असत् के प्रतीक इन का पारस्परिक संघर्ष कभी समाप्त नहीं होता । आश्चर्य तो यह है कि ये दोनों परस्पर शत्रु होते हुए भी अन्योन्य महिमा के आधार हैं। मोह जैसे दुर्धर्ष अराति को पराजित कर सकने पर मोक्ष महामहिम बनेगा और मोक्षमार्ग को जितनी प्रबलता से मोह मूर्च्छित कर सकेगा उतना ही प्रभविष्णु होगा। यदि मोह को हीनबल माना जाए तो मोक्ष के लिए परमपुरुषार्थ युक्तिहीन हो जाएगा । वस्तुस्थिति यह है कि मोह की उत्कटता पर विजयी होने से मोक्ष बलवान् है और मोक्ष की अनन्तानन्दानुभूति को विस्मृत कराते हुए मिथ्या विकारपंक में फंसा देने से मोह की अतुल शक्ति का अनुमान किया जाता है; किन्तु राम और रावण के समान अथवा भगवान् महावीर और घातिय कर्मों के समान परस्पर प्रतिमल्ल होते हुए भी मोक्ष और मोह को समानता नहीं दी जा सकती। मोक्ष आत्मा से उत्पन्न अपूर्व आनन्द का भण्डार है और मोह उच्छिष्ट-भोजी है। एक बार नहीं, अनन्तवार जिन पुद्गलों को जीव भोग चुका है, मोहबुद्धि से उन्हें ही फिर-फिर भोगता है। जन्म-जन्मान्तर में काम, क्रोध, लोभ, मान, मायादि विकारों को पुनः-पुनः भोगना किसी उच्छिष्ट भाजन को मुँह लगाने से अतिरिक्त क्या है ? इस दृष्टि से मोक्ष महान् है। मोह तुच्छ है। जैसे वस्त्र पर स्पर्शमात्र से 'कोलतार' चीकट होकर चिपक जाता है उसी प्रकार मोह भी दुर्जय रिपु प्रतीत होता है। उसे वैराग्य भावना के, द्वादशानुप्रेक्षाओं के तीव्र तेजाब से दूर करना विज्ञों का सात्विक पराक्रम है। ज्ञानवान् कहते हैं—'अरे ! मैंने जन्म-जन्मान्तरों में मोह के वशीभूत होकर सभी पुद्गल-पर्यायों का भोग किया है। वे सब मेरे द्वारा उच्छिष्ट किये

हुए हैं, भुक्तोज्झित हैं (खाकर छोड़े हुए हैं)— अब मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, मेरा अज्ञान, मोह गलित हो गया है। तब उन जूठे पात्रों और पदार्थों में इच्छा कैसी[1] ? कोई अपना 'वान्त' निगलता है? धीर विज्ञजनों द्वारा त्यक्त किया गया कोई भी पदार्थ गजेन्द्र के दाँतों के समान पुनः मुंह में नहीं लिया जा सकता। ज्ञानसूर्योदय होने पर मोहतिमिर नहीं ठहरता।

मोह दुःखमय है क्योंकि उसका रागादिपरिग्रहरूप परिवार बड़ा है। मोक्ष सुख-मय है क्योंकि सर्वत्यागमय होने से उसमें किसी अभाव, वियोग की अनुभूति नहीं है। जैसे शीतल लोहे से लोहा एकजूट नहीं होता (तप्त लोहे से ही तप्त लोह संयुक्त होता है) वैसे स्वमग्न आत्मा को जड़ (शीतल) पुद्गलपर्याय का स्पर्श नहीं होता। यदि यह आत्मा स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है तो उसमें मोहतत्परता ही बाधक कारण है। जैसे धतूरे इत्यादि मादक बीजों का सेवन करने से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है वैसे ही मोह से मूर्च्छित की दशा होती है[2]। हिन्दी के सन्तकवि तुलसीदास कहते हैं कि 'भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहि माया लिपटानी॥'—वर्षा का नीर पृथिवी पर गिरते ही मलिन हो जाता है क्योंकि उसमें धूलि, मैल, तृण आदि का सम्पर्क तुरन्त हो जाता है। वैसे ही यह जीव उत्पन्न होते ही माया-मोह के बन्धनों में जकड़ जाता है। इस मोह को राजा कहना चाहिए। अन्य सब विषय-कषाय इसकी प्रजा हैं। राजा को गद्दी से उतार दिया जाए तो उसकी प्रजा अपने आप निस्तेज हो जाएगी; क्योंकि किसी वृक्ष के मूल को पकड़ने से उसकी स्कन्ध, शाखाएँ तथा पत्रावलियाँ अपने आप हाथ में आयी हुई मान ली जाती हैं, वैसे मोह को वश में करने का आशय है सम्पूर्ण रागात्मक मनोवृत्तियों का नियंत्रण करना। समस्त विकारों का मूल मोह है।

'छहढालाकार' ने कहा—'मोह महामद पियो अनादि। भूल आपको भरमत बादि।'—अपने मूल स्वरूप को विस्मरण करने में मोहरूप महामद्य कारण है। कवि-वर पं. दौलतरामजी ने मोह को मद्य बताकर, उसका सेवन भव्यजनों के लिए सर्वथा त्याज्य है, यह सहज ही बता दिया है। कविवर बनारसीदास ने मोह को धत्तूर-रसपान बताया है। कहते हैं—'मोहकर्म परहेतु पाय चेतन पर रच्चय। ज्यों धत्तूर-रसपान करत नर बहुविध नच्चय।' धतूरा पीकर उन्माद परवश व्यक्ति के नाचने का साम्य मोहाकुल व्यक्ति से देना यथार्थ ही है; क्योंकि चंचलता के सभी रूपक मोहपरिचालित हैं। रागपरिणति से नाना प्रकार के नट-कर्म मनुष्य करता है, विरागी तो प्रशान्तात्मा होने से वेषविन्यास, सौन्दर्यप्रसाधन तथा इनसे आकर्षण करने के उपायचिन्तनों से विमुख रहकर आत्मलीन हो रहता है। अतः जीव को

---

१. *'भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान् मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।*
उच्छिष्टेष्विव मय विज्ञस्य का स्पृहा ?॥'

२. *'मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।*
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥'—इष्टोपदेश, ७

मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले शास्त्रकारों ने कहा कि यह कोई कठिन बात नहीं है। ममत्व से बँधा हुआ जीव संसारपरिभ्रमण करता है और ममत्व से मुक्त जो मुक्त होने के लिए अनुकूल भूमि की रचना करने वाला है[1]। ऐसा विचारकर ज्ञानपूर्वक निर्ममत्व, वीतरागत्व का अनुचिन्तन करना चाहिए। मोह धर्म का द्वेष्टा है, अधर्म का मित्र तथा रत्नत्रय का विस्मरण करानेवाला है। इसी के प्रभाव से प्राणी आत्मस्वरूप को विस्मृत कर दुःखों के पाश में बँधे हुए हैं।

मोहनीय कर्म के उदय से मनुष्य हितमार्ग का परित्याग कर अहितमार्ग में प्रवृत्त होता है। उसकी विवेकदृष्टि व्यामोहग्रस्त होने से उत्तम-अधम की वास्तविकता को नहीं जान पाती। ऐसा व्यामूढ़ जन विपरीत कार्य करता देखा जाता है। वह अपूज्यों को पूजता है और पूज्यों का तिरस्कार करता है। कोयले के भण्डार को ताला देकर सुरक्षित करता है तथा अशर्फियों को लुटाता है। आँखों को जैसे शृंगारपरायण कज्जल से और अधिक श्यामायमान करता है वैसे मोहाभिभूत व्यक्ति पाप-कलुष की कालिमा को हृदय में धारण करता है। क्षत्रचूड़ामणिकार कहते हैं—'मोह अशेष कर्मों का निर्माता है, यह धर्मवैरी है। प्राणी इसीके द्वारा पाश में पड़े हैं। वस्तुतः जागतिक प्रपंच के प्रवृत्तिपथ पर मोह के पदन्यास अग्रगामी हैं। मोह का विध्वंस ही प्रवृत्तिमार्ग की परिसमाप्ति है। यदि मन में मोह पलता रहा और बाहरी क्रियाओं से उपवास आदि व्रताचरण किया गया तो वह मलिन पात्र को ऊपर से क्षालित करने के समान है। जब भी उसमें कोई वस्तु रखी जाएगी, मलिन हो जाएगी; क्योंकि पात्र का विशुद्धिभाव केवल बाह्य शुद्धि पर ही निर्भर नहीं है उसकी आभ्यन्तरशुद्धि परमावश्यक है। 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' का मत है कि लोकदृष्टि में उपवास करता हुआ भी जो मोहपाश से आबद्ध है, वह उपवास तो उसके लिए कायकष्ट का प्रदाता तो हुआ किन्तु अपेक्षित कर्मनिर्जरा उससे नहीं हुई[2]। वस्तुतः उपवास तो 'नोत धावन्त्यनूत्पथम्'— इन्द्रियाँ उन्मार्ग में दौड़ न लगावें, इस निमित्त से किया जाता है। इन्द्रिय-संयम से परिणामविशुद्धि और परिणामविशुद्धि से परमपद प्राप्ति का पथ प्रशस्त होता है। इस प्रकार उपवास इन्द्रियदमन का कारण होता हुआ मोक्षमार्ग की ओर साधना के चरण बढ़ाने वाला है। यदि उपवास तथा अन्य कायक्लेशप्रद व्रतानुष्ठान आत्मा को बलवान् तथा अनात्मा (परपदार्थों) को क्षीणबल करने के निमित्त न हों तो 'किन्तेन किम्पाकफलास्वा-

---

१. 'बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥'—इष्टोपदेश, २६

२. मुह्यन्ति देहिनो मोहान् मोहनीयेन कर्मणा ।
निर्मितानिर्मिताशेषकर्मणा धर्मवैरिणा ॥'—क्षत्रचूडामणि, ७६

३. 'उपवासं कुव्वाणो आरंभं जो करेदि मोहादो ।
तस्स किल सो अपरं कम्माणं णेव णिज्जरणं ॥'—स्वा. का. अनु., ४४२

वितेन ?' —उस कडुए फल को खाने से क्या लाभ, जो व्याधि भी दूर नहीं कर सका और मुंह का स्वाद बिगड़ा सो अलग।

मद, मदन, मूर्च्छा, मलिनता—मोह के प्रथमाक्षर से उत्पन्न होते हैं। यह महा-प्रतारक है। इसके जैसा ठग न हुआ, न होगा। प्रतिक्षण कोटि-कोटि जीवों के ज्ञान-विज्ञान, तपःसंयमाचार और विवेक का अपहरण करने में इसे श्रम नहीं होता, यह अलक्ष्य सिद्धि से मानो, प्राणियों के अन्तःकरण में प्रवेश कर उसे कालांजन से लिप्त कर देता है, ऐसा ऐन्द्रजालिक है कि अस्थिचर्ममय देह में गुलाब के पुष्पों का भ्रम उत्पन्न कर देता है, श्वास में दक्षिण समीर की सुरभि को उच्छ्वसित कर देता है, तथा नेत्रों के संचार में कामदेव की बाणावलि के अचूक लक्ष्य उद्भावित कर देता है। संसार के सभी इन्द्रजालविद्याविशारद इसके सम्मुख अकिंचन हैं। इसने राज-महालयों को लूटा, निर्धन की झोपड़ियों को आग लगाई, विवेक को अधोगत किया, ज्ञान को वेश्या की हाट खुले हाथों बेचा, शान्ति की निर्मलधारा में मलिनता का पंक-मिश्रण किया। एक हल्की-सी ठोकर दी और वज्रकठोर तपस्वियों को मेनका-विश्वामित्र के नेपथ्य में परिवर्तित कर दिया। भर्तृहरि का अनुभव तो और अधिक स्फीत है। 'शुनीमन्वेति श्वा'—लिखते हुए उन्होंने जिस कृश, काण, खंज, कुत्ते का वर्णन किया है वह दुर्वार मोह का प्रतीक चित्र है। उन्होंने ही शृंगार शतक में लिखा है कि 'जो लोग पवन पीकर, पत्ते चबाकर, पानी की घूंट लेकर अत्यन्त कठोर व्रताचरण करते थे, वे विश्वामित्र मेनका के रूपमोह में, पराशर मत्स्यगन्धा की देहयष्टि पर आसक्त होकर तपश्च्युत हो गये। जो लोग प्रतिदिन घृतदुग्ध-शर्करादि पदार्थों से तर मेवा-मिष्ठान्न, दूध-भात खाते हैं उनमें यदि इन्द्रियनिग्रह रह सके तो विन्ध्याचल समुद्र तैर जाए*। 'मोह और उसकी उत्पत्ति का निरूपण इससे बढ़कर क्या हो सकता है? अतः शरीर को कृश रखना, जिह्वासक्ति को निर्मूल करना तथा स्त्रीजातिमात्र से विरक्तिभाव रखना मानो मोह पर मुद्गर-प्रहार करना है।

'हाड जले ज्यों लाकड़ी चाम जले ज्यों चीर'—इस प्रकार की अनित्यस्वरूपा अनुप्रेक्षाओं से विरक्ति का उदय होता है। श्मशान में जलते हुए शव को देखकर यदि मोह को चिताभस्म नहीं दी जा सकी तो बुद्धि का क्या लाभ हुआ? कपिल-वस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को दीन-हीन, विकलांग तथा शव को देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था। भगवान् त्रिशलानन्दन भी संसार की निःसारता को आरम्भ से ही पहचान गये थे। संसार में प्रतिक्षण जन्म-मृत्यु का चक्र चल रहा है। लोग

---

* 'विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
ये ह्यश्नन्ति घृतान्वितं प्रतिदिनं शाल्योदनं पायसं
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ॥'—शृंगारशतक ८०

अपने कन्धों पर बैठाकर मृतकों को श्मशान ले जाते हैं और फिर भी पापाचार नहीं छोड़ते, अनित्य भावना भाकर आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त नहीं होते। यह कितने आश्चर्य की बात है?[1] सभी जीवित प्राणी संसार में अनन्त कालतक ठहरने का विश्वास रखते हैं और विभुता का अभिमान करते हैं। महाभारत में दुर्योधन श्रीकृष्ण से कहता है कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव!' हे श्रीकृष्ण! बिना युद्ध किये पाण्डवों को सूई की नोक बराबर भूमि भी नहीं दूँगा। वह दुर्योधन, वे पाण्डव—आगे-पीछे समाप्त हो गये और यह भूमि 'अचला' होकर वहीं पड़ी है। राजा भोज को, उसके बचपन में, मुंज ने मरवाना चाहा था। मुंज सोचने लगा कि बड़ा होने पर भोज राज्य मांगेगा। क्योंकि वयस्क होने पर अपने स्वर्गीय पिता की राजगद्दी का वही अधिकारी था। इस मुंज ने मंत्रियों को आज्ञा दी कि भोज को मार कर उसकी आँखें हमारे सामने प्रस्तुत की जाएँ। मंत्रियों ने युक्ति से भोज को बचा लिया और किसी मृग की आँखें मुंज को दिखा दीं; परन्तु भोज अपने पितृव्य के क्रूर व्यवहार से इतना दुःखी हुआ कि उसने एक श्लोक लिखकर राजा को भेजा। मंत्रियों ने आँखें और श्लोक दोनों उपस्थित किये। श्लोक का अन्तिम चरण था—'नैकेनापि समं गता वसुमती मुंज! त्वया यास्यति'—हे मुंज! मान्धाता से लेकर आजतक बड़े-बड़े चक्रवर्ती महाराज हो गये परन्तु अपना काल समाप्त कर सब चले गये। यह पृथिवी तो कभी विधवा नहीं हुई। नये-नये नृपाल आते रहे, जाते रहे। यह आजतक किसी के साथ नहीं गई। अब प्रतीत होता है आपके साथ जाएगी[2]।' इस अनित्य संसार के साथ इतना अधिक दारुण मोह करते लोग अपना विवेक, धर्म, ज्ञान सभी कुछ हार जाते हैं। केवल मोह, मोह और मोह की मृगतृष्णा के अतिरिक्त जीवन में जीने योग्य उनके पास कुछ नहीं है। अहो! मनुष्यों के मोह को उच्छिन्न करने में काल का बड़ा हाथ है। यदि काल न होता तो मोहान्ध मनुष्य अपने परिग्रह को कितना विस्तार देता, कहना कठिन है। सौ वर्ष जीने का भरोसा न होने पर तो यह हाल है और अनन्त समय तक जीते रहने का विश्वास होता तो सम्पूर्ण विश्व की सम्पत्ति को एक ही मनुष्य अपने नाम लिखाने के लिए सारी मानवजाति से विद्वेष, युद्ध करता और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य संघर्ष की शरशैया पर सोता, उसी पर उठता, चलता और अपनी महन्ताई को बुलन्द करने की रात्रिन्दिव कोशिश करता; परन्तु काल की बाधा से वैसा नहीं

---

१. *'अहन्यहनि गच्छन्ति भूतानि यममन्दिरम्।*
शेषाणि स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम्॥'

२. *'मान्धाता स महिपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः*
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते!
नैकेनापि समं गता वसुमती मुंज! त्वया यास्यति।''—भोजप्रबन्ध

हो पाता, इस दृष्टि से मृत्यु के देवता यमराज स्तुति करने योग्य हैं। इस काल का नियंत्रण न होता तो विश्व कल्पनातीत दुःखों, भोगों और आसक्तियों से आकीर्ण हो उठता। किसी ने कहा है—

'कालबली सब को डसे क्या राजा क्या रंक।
ज्ञानी चले खुशी-खुशी मूर्ख होय बदरंग ॥'

परन्तु किसी के बदरंग होने की काल परवाह नहीं करता वह अपनी गति से चलता है। न थकता है न बैठता है। एक क्रमबद्ध योजना के अनुसार किसान जैसे सस्यों पर दरांती चलाता है, काल लोकजीवन के संहार में लगा हुआ है। जो ज्ञानवान् हैं वे अपनी निश्चित मृत्यु जानकर अमर होने के आध्यात्मिक प्रयास में लग जाते हैं। इसलिए मोह के साम्राज्य की मृगतृष्णा जैसी कल्पना को समझते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह मोह का उच्छेद करने में सदा-सर्वदा लगा रहे; क्योंकि क्षीणराग व्यक्ति ही मुक्त होता है[1]।

मनुष्य का बन्धन और मोक्ष अपने उपायों से ही होता है। नर अपने आप को स्वयं बन्धनों में डालता है और स्वयं मुक्त होता है। संसार में भी अपने द्वारा ही मनुष्य कर्मबन्धन में संयमित तथा मुक्त होता है। यही मुक्ति का रहस्य है। जो अपने शुद्ध आत्मा में राग-द्वेष और मोह से रहित शुद्ध उपयोग धारण करता है, वही शुद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रयत्न में मोह ही बाधास्वरूप है। सर्वप्रथम मोहवृक्ष को सुखाना पड़ेगा। उसकी मूलसिंचनप्रवृत्ति को बन्द करना होगा। मूल सुखा देने पर वृक्ष के हरे होने की आशंका नहीं रहती वैसे ही जीव को कर्म उत्पन्न नहीं होते। मोहनीय कर्म का क्षय ही कर्मवृक्ष को सुखानेवाला है[2]। इसके क्षय से जन्म-मरण-गतिक सहस्रार चक्र की धुर टूट जाती है। मोह को पराजित करने के लिए विषयों की क्षणविनश्वरता का विस्मरण नहीं होना चाहिए। निर्विषय, अर्थात् विषयों से रहित मन ही उत्तम सुखप्राप्ति में सहायक है[3]। अभ्यास तथा वैराग्य से जब मन निर्विषय हो जाए तथा अपने वश में हो चुके तब भी इस पर कठोर नियंत्रण रखना आवश्यक है; क्योंकि इन्द्रिय तो अश्व हैं, जरा वल्गा शिथिल की और नियंत्रण से बाहर हुए। अतः प्रतिसमय वशीकृत मन पर भी पूर्ण विश्वास नहीं रखना चाहिए। 'ज्ञानार्णव' का इस विषय में स्पष्ट वचन है कि 'यदि मुनि का मन कदाचित् रागचेतना से अभिभूत हो या है तो आत्मतत्त्व में नियोजित कर

---

१. *'तदम् मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे ।*
मुच्येतैतत्-क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि नाः ॥'—सागारधर्मा.

२. *'सुक्कमूले जहा रुक्खे सिंचमाणे ण रोहति ।*
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गते ॥'

३. चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणहमणं जेण सुहं उत्तमं लहहि ॥'—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २२

देना अभीष्ट है। इससे रागादि परास्त हो जाते हैं[1]। रागादि रिपुओं को परास्त करना योगियों की विशेषता है। सामान्य लौकिक प्राणी जिन राग-बन्धनों से पराभूत रहते हैं, वे रागादि मुनियों से सदैव स्वयं पराजित रहते हैं। जैसे महाविषधर नाग गारुडिक के मंत्रों से कीलित होकर शिर नहीं उठा सकता, वैसे वीतराग मुनियों के अन्तर में विषयविकाररूप सर्प प्रवेश नहीं पा सकता। यह सारा संसार विभ्रम के आवर्त में फँसा है। मोहनिद्रा से इसकी चेतना अस्त हो रही है; किन्तु इस विषम दुर्घट परिस्थिति में योगी विजेता के समान अप्रमत्त, धीरभाव से जाग्रत रहता है[2]।

मोक्ष के इस प्रकरण में यह निरूपण करना आवश्यक है कि जैनपरम्परा के अनुसार मोक्ष ज्ञानमात्र से उपलब्ध नहीं होता। सम्यग्ज्ञानदर्शन के साथ सम्यक्चारित्र होना मोक्ष के लिए अनिवार्य है। मनुष्य में देखना, जानना और प्रवृत्त होना—ये तीन क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों के नामान्तर हैं। अनादिकाल से मनुष्य देखता, जानता और दृष्ट-ज्ञात पदार्थों में प्रवृत्ति करता आया है। संसार के आत्मभिन्न द्रव्यों में उसकी परिणति का इतिहास अनुस्यूत है। वह देखकर, जानकर तथा प्रवृत्त होकर भी तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक उसकी विविध प्रवृत्तियों में सम्यक्त्व का पुट नहीं होता। सम्यक्त्व से ही पदार्थों का यथार्थ रूप प्रतिभासित होता है और जीव अनन्तानुबन्धी कर्म से छुटकारा पाता है। इस दृष्टि से सामान्य दर्शन तथा विशेष दर्शन में भेद हो जाता है। सामान्य रूप से देखनेवाला सुवर्ण और मिट्टी में भेद तो देखेगा परन्तु वह भेद लौकिक उपयोगिता की तुला पर रखा हुआ होगा। कह सकते हैं कि उसकी भेदमूलक दृष्टि राग, जिसे जहाँ स्वार्थपद से अभिहित कह सकते हैं, से बाधित है। मिट्टी के प्रति उसे विराग और सुवर्ण के प्रति राग है। यदि यह राग-विराग न होता तब उसके लिए सुवर्ण तथा मिट्टी समानरूपेण उपेक्षणीय ठहरते; किन्तु दो या दो से अधिक द्रव्यों में से किसी एक के प्रति आसक्ति तथा किसी दूसरे के प्रति उपेक्षा उसके वीतरागभाव को निषिद्ध करती है और किसी एक को राग का, तो किसी अन्य को विराग का स्थान मानती है। ऐसा मानते हुए जो जीवों की प्रवृत्ति-निवृत्ति देखने में आती है वह राग-द्वेष को जन्म देती है; और जिसे जिस वस्तु पर राग है, वह उसे असुन्दर, हेय अथवा त्याज्य मानता ही नहीं। एक आँख से हीन व्यक्ति भी अपनी आकृति का शृंगार करता है। इसका तात्पर्य यही है कि वह अपने को रूपहीन नहीं, अपितु रूपवान् मानता है। रागानु-

१. *'मुनेर्यदि मनो मोहाद् रागाद्यैरभिभूयते ।*
तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिपति क्षणात् ॥'—ज्ञानार्णव, ५२

२. *'भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।*
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥' ,, ४०

कामी व्यक्ति अपने रागस्थान को सुन्दर मानकर ही प्रवृत्त होता है। विषयों का जो स्वरूप एक रागी के सामने है, विरागी उससे सर्वथा भिन्न, विपरीत सोचता है। वेश्यागामी जब तक वेश्यागमन को बुरा नहीं मानता तब तक वहाँ जाता है। जिस दिन उसको यह पता चल जाता है कि यह वास्तव में जघन्य कृत्य है उसी दिन उसे उससे घृणा अथच वैराग्य भी हो जाता है। भर्तृहरि को अमरफल के माध्यम से अपनी पत्नी के दुश्चारित्र का पता चला और वह उसी समय विरक्त हो गये। विरक्त व्यक्ति वस्तु के दोनों पक्षों को सोचता है। जहाँ एक कामातुर अपनी वासनातृप्ति को ही लक्ष्य मान कर उसमें बलात् प्रवृत्त होता है वहाँ वासनारहित व्यक्ति वासना में प्रवृत्ति से होने वाले दुःखपरिणाम, बन्ध, आसक्ति, कायक्लेश को भी जानता है और शान्ति, निराकुलता, प्रसन्नता को भी पहचानता है। वही किसी को रागसम्पर्क से होनेवाले दुःखों की परिचिति करा सकता है। इस तटस्थ दृष्टि को सम्यक्दृष्टि कहते हैं। वादी-प्रतिवादी से पृथक् तीसरा व्यक्ति ही निर्णायक होता है। राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति ही रागद्वेष पर सही विवेचन दे सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र का सामान्य रूप जो लोकप्रचलित है, वास्तविक स्वरूप से भिन्न है, विपरीत है। बाजार में रंग डालकर सजायी हुई मिठाई पर बालक का मन ललचाता है, वयस्क जानता है कि यह नेत्ररंजक तो है परन्तु उदर में रोग उत्पादक है। सम्यग्दृष्टि भी यह समझता है कि 'आपातरम्या विषयोपभोगाः'—विषयों के उपभोग आरम्भ में रमणीय लगते हैं, परन्तु परिणाम में विष के समान हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में वह संसार के अशेष नाशमान् पदार्थों को जाँचता है। आत्मा से भिन्न ये परपदार्थ खरी कसौटी पर परखने में मिथ्या सिद्ध होते हैं इसे जानकर वह 'आत्मरति' आत्मा से ही स्नेहशील होकर अन्य सब से मोहासक्ति को समेट लेता है। उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र सामान्य बोध से ऊपर उठकर सम्यक्त्व से परिदर्शित, परिज्ञापित, तथा परिपालित होते हैं। वह समताभाव को प्राप्तकर मणि में, लोष्ठ में, प्रासाद में, श्मशान में समान दृष्टि रखता है। शास्त्रकारों ने पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—तीन स्थितियाँ निर्धारित की हैं। वस्तु है और वह मिट्टी से कुम्भ के समान रूपान्तर ग्रहण करती है तथा पुनः कुम्भ टूट जाने पर मृत्तिका ही रह जाती है। इस प्रकार मिट्टी से कुम्भ उत्पन्न होता है, टूट जाने पर मृत्तिका ही रह जाती है। इस प्रकार मिट्टी से कुम्भ उत्पन्न होता है, टूट जाता है तथा मिट्टी ही होता है। उसकी इन तीनों स्थितियों में उसका मार्तिक स्वरूप अविनश्वर है। घड़ा होने पर भी उसमें मिट्टी का सद्भाव है और भग्न कुम्भ के उन बिखरे टुकड़ों में भी मिट्टी का सद्भाव है तथा मृत्तिकाकार में भी मिट्टी की सत्ता अक्षुण्ण है। यह ज्ञान-दर्शन ही सम्यक् है। इसके विपरीत खेलते हुए बालक के हाथ से गिरकर मिट्टी का बना हाथी टूट जाता है और वह बालक रोने लगता है कि मेरा हाथी टूट गया; किन्तु उसके पिता अथवा घर में बड़े लोग उसे चुप कराते हुए कहते हैं कि यह तो हाथी नहीं, मिट्टी है। इस प्रकार

सामान्यतः वे बालक की अबोध दृष्टि से कुछ अधिक सोचते हैं किन्तु वास्तविक हाथी की मृत्यु पर उन्हें भी दुःख होता है, तब सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रबोध देते हैं कि यह तो मिट्टी था, मिट्टी हो गया। उनका ज्ञान वास्तविक है। सम्यग्ज्ञान में तथा मिथ्याज्ञान में यही अन्तर है। संसारी जन प्रायः नाम-रूप जगत् में विश्वास करते हैं और अपनी आसक्तियों को उनमें आरोपित कर देते हैं, उनकी आसक्तियों के स्थान जैसे-जैसे टूटते हैं वैसे-वैसे उन्हें शोक, दुःख, चिन्ता, क्लेश होते हैं। इसी दृष्टिकोण से तो किसीने कहा है कि 'मूढ़ मनुष्यों को एक-एक दिन में सैकड़ों शोकस्थान, सैकड़ों भयस्थान बाधित करते हैं; किन्तु स्थितप्रज्ञ पण्डित को तो जीवन में एक बार भी शोक तथा भय उपस्थित नहीं होते। 'वास्तव में देखा जाए तो जो स्वयं शोच-नीय है, वह दूसरों का क्या शोच करे। जो स्वयं मृत्यु के जबड़ों में पड़ा हुआ है वह किसी दूसरे के मरने पर क्या शोक करे, विस्मय करे। यह विवेक पदार्थों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को जानने वाले सम्यग्दृष्टि जीव को प्राप्त होता है जिससे वह संसार के विषयादि से उत्पन्न रागादि क्लेशों से छुटकारा पाकर परम आनन्द को प्राप्त करता है। मिथ्यात्व से उत्पन्न दृष्टिविकार जीव को संसार के नीच कीच में डाल देता है और सम्यक्त्व से जन्य दर्शन-ज्ञान और चारित्रभेद उसे मोक्षमार्ग पर ले जाता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्रवर्ती पदविन्यास इसी अनुक्रमणिका की ओर संकेत करता है।

परिणामतः मोहयुक्त अज्ञान से बन्ध होता है। मोहरहित अज्ञान बन्ध का विषय नहीं है। यदि ज्ञान अल्प हो किन्तु मोह नहीं हो तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है किन्तु मोहविद्ध ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। लोकप्रसिद्ध है कि 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति'—वस्तु वैशिष्ट्य से क्रिया की फलसिद्धि में विशेषता आती है। घृत को रजतपात्र में रखने पर उसकी विशुद्धता बनी रहेगी और पीतल के पात्र में रखने से दोष आ जाएगा। ज्ञान को निर्मोहपात्र में रखने से वह मुक्तिपरिणामी होगा और विपरीत अवस्था में बन्धकारण बनेगा। ज्ञानवान आसक्तियों से परे होकर शरीर को आत्मा से भिन्न देखता है। वह सोचता है—'जब मेरी (आत्मा की) मृत्यु नहीं तो भय कैसा ? जब मेरा आत्मा रोगमुक्त है, उसे रोग आ ही नहीं सकते तो पीड़ा किसे को ? वस्तुतः न तो मैं बालक हूँ और न वृद्ध हूँ। यह सब तो पुद्गल का खेल है* ।' ऐसे परिपक्व ज्ञानी ज्ञान-सम्पदा से अतिशय भाराक्रमाण न होकर यदि अल्पज्ञान-वान् हैं तो भी अपने भेदज्ञान से भवसागर पार उतर जाते हैं। उन्हीं को लक्ष्य कर यह कहा गया है कि 'याद करत तुष-माष को उतर गये भवपार।' क्योंकि मोक्षप्राप्ति में वीतरागता सर्वोपरि है। इस देहपंजर में कर्मपरिणाम से ही आत्मशुक बन्धनग्रस्त है। आत्मध्यानी मुनि कर्मनिर्जरा से अपने को अनन्तानुबन्ध से मुक्त

---

* *'न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ?*
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥'

कर लेते हैं। जो जितना मोहग्रस्त है वह उतना ही मृत्यु से डरता है। मुनि तो स्वयं मृत्यु वरण करने के लिए सल्लेखनाव्रत लेते हैं। जिसने जन्मभर सिंहवृत्ति से चर्या की, वह मृत्यु के द्वार पर भी सिंहवृत्ति से ही जाएगा। कामासक्तों को मृत्यु डरा सकती है; विरक्त को नहीं। आत्मा को अमृतस्नान करानेवाले अजर-अमर आत्म-धर्मा मुनि की मृत्यु होती ही नहीं। कहा है–'ममेति द्व्यक्षरो मृत्युरमृतं न ममेति च'–मम (मेरा) यह ममत्व ही मृत्युजनक है और ममत्व से रहित होना ही अमर होना है। अमरता वीतरागता का परिणाम है। सच्चा वीतराग तो किसी पदार्थ पर राग नहीं करता। मोक्ष पर भी आसक्ति नहीं रखता। सर्वत्यागी को भौतिक-अभौतिक सभी आसक्तियों का त्याग होता है। आचार्य अकलंकदेव ने इसी सच्ची वीतरागता को लक्ष्य करते हुए कहा है–'यस्यमोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति'–जिसे मोक्ष की भी इच्छा नहीं वही मोक्ष को प्राप्त करता है। वीतरागता की कितनी भव्य झांकी आंकी है आचार्य ने! अतः वीतराग भाव को लक्ष्य में रखना ही मुक्तिसोपान हैं। बहुत पढ़ना, उग्र तपस्या करना ये तो स्वयं में कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न करनेवाले हैं। भला, 'उस रात-दिन पढ़ते रहने से क्या, जिससे केवल तालू सूखता रहे। वह एक ही अक्षर पढ़ना सार्थक है जिससे शिवपुर (मोक्ष) जाया जा सके*।' कोरे शब्दपण्डितों को लक्ष्य में रखकर नीतिकार कहते हैं—'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्तिमूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्'–शास्त्रों का प्रचुर अध्ययन करके भी लोग मूर्ख रह जाते हैं, जो शास्त्रों के स्वाध्याय-परिणाम को क्रिया में परिवर्तित करता है, निरा शास्त्रवादी न होकर चर्यावादी होता है, वही विवेकी है। भेदज्ञानी मुनि चारित्र-पालन करते हुए शास्त्रस्वाध्याय के परिणाम को शुद्धोपयोग में परिणत करते हैं और कोरे शुकपाठी आजन्म पंक्तियों के परिष्कार में ही अटके रहकर शास्त्राध्ययन से प्रादुर्भाव परिणाम से वंचित रहते हैं। एक कोयले को जलाकर राख कर देता है और दूसरा उसे कूट-कूट कर राख में सन जाता है। कोयले की राख तो दोनों ने की किन्तु एक ने उस कोयले में अग्नि प्रज्वलित कर उसके ताप का उपयोग किया किन्तु दूसरे ने न तो अग्नि के दर्शन किये और न ताप का अनुभव किया। ऐसा व्यक्ति 'विदग्ध' कैसे हो सकता है? ज्ञान मोहक्षय के लिए है न कि वितण्डावाद के लिए। अतः ज्ञानोपासक भी मोहपराभव नहीं कर सका तो यह 'कोयला कूटने' जैसी बात हुई। भ्रम, अज्ञान तो दूर हुए नहीं और शास्त्रभार वहन करना पड़ा सो अलग। ऐसे दिग्भ्रान्त बालिशों को आचार्यों ने मोक्ष का अधिकारी नहीं बताया है। 'जो व्यक्ति अज्ञानतिमिर से आच्छन्न अपने आपको कर्तृताभिमानयुक्त रखते हैं और सोचते हैं–अमुक को कष्ट पहुँचाने की शक्ति मुझ में है। मैं चाहूँ तो समुद्र को मरुस्थल और मरुस्थल को समुद्र में परिवर्तित कर सकता हूँ तो यह उसका

---

* 'बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खर तं पढहु शिवपुर गम्मइ जेण॥'

अज्ञान है। उनको मोक्षप्राप्ति नहीं होती*। वह परपरिणति में अपने को फंसाये रखकर आत्मचिन्तन से दूर चला जाता है। कर्तृत्वाभिमान का उदय भी मोह से होता है। और मार्ग से विचलित करना मोह का निसर्ग स्वभाव है। ऐसे मोहमग्न किन्तु मुक्ति चाहनेवाले व्यक्ति ऐसे लोगों के समान हैं जो भगवान् के सम्मुख बैठकर जाप्य करते हुए मन में नर्तकी के नृत्य को न देख पाने की विवशता पर अन्दर ही अन्दर खिन्न हो रहे हैं। शास्त्रकारों का अभिमत है कि यदि कोई गृहस्थ श्रावक, जो मोहरहित है, मोहपराभूत किसी त्यागी से श्रेष्ठ है। मोहमग्न मुनि शिथिलाचारी है तो यह उसकी श्रेष्ठता में न्यूनता है। मोक्ष के लिए कषायकर्षण आवश्यक है। बिना कषायकर्षण के कायकर्शन निष्फल है। शुद्धोपयोग के बिना शास्त्रश्रम व्यर्थ है। मोह रखते हुए ज्ञानवान् कहलाना ज्ञान का दम्भ करना है। विद्या की उपासना मुक्ति के लिए की जाती है। जो मोक्षतक पहुँचाने में असमर्थ है, वह विद्या नहीं, अविद्या है। जहाँ दर्शनमोह की सीमा समाप्त होती है वहाँ से मुक्तिपुरी का आरम्भ होता है।

संक्षेप में, मोह और मोक्ष पर विचार करते हुए इस वास्तविकता को हृदय में रखना चाहिए कि यह संसार अनादि है। ये दृश्य जीव आज ही उत्पन्न नहीं हुए हैं और जिनकी मृत्यु हुई है, वे आज प्रथम बार कालकवलित नहीं हुए हैं। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्'—पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु, गर्भानल और चितानल, तथा अनन्त भवों में चंक्रमण की अभग्न शृंखला। एक ऐसी निरुद्देश्य यात्रा जिसका अन्त नहीं। पीड़ाओं का अवसान नहीं और जन्मपरम्परा को विश्रान्ति नहीं। मनुष्य के लिए यह स्थिति शोचनीय है; क्योंकि वह मति, मेधा और बुद्धि का धनी है। मनन करना, धारण करना तथा उस पर विवेचन-चिन्तन करना मनुष्यपर्याय में ही सम्भव है। उसे अज्ञान के हाथ से होनेवाली अपनी अकाल मृत्यु से बचने को प्रयत्नशील होना चाहिए। इस विषय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की उत्तरोत्तर अन्वयिता, उपयोगिता तथा उत्थानमार्ग में प्राप्य प्रेरणा का परिशीलन करना उसके लिए हितकर है। पुरुषार्थों का मूल धर्ममय हैं, धर्म है और पुरुषार्थों का अन्तिम फल मोक्ष—अर्थात् मुक्ति है। अर्थ और काम लौकिक विषय हैं परन्तु इनकी नींव धर्माश्रित है और परिणाम मोक्षगामी होना अपेक्षित है। जो धर्म को मूल मानकर अर्थप्रवृत्त होता है, वह पुण्यबन्ध करता है; किन्तु जो अर्थ उपार्जन करते समय धर्म का तिरस्कार करते हुए 'येन केन प्रकारेण' धन कमाता है, वह उसके साथ पाप भी अर्जित करता है। मात्र धनार्जन ही जिनका लक्ष्य है, उद्देश्य है, वे अर्थ के लिए किसी की हत्या भी कर देते हैं। अतः शुद्ध अर्थव्यवसाय धर्माश्रित होना आत्मकल्याण तथा वृत्ति की पवित्रता के लिए नितान्त अनिवार्य है। 'काम' पुरुषार्थ क्यों कहा गया? यदि यह निन्दनीय 'वासना' मात्र है तो उसे पुरुषार्थों की अवली में प्रतिष्ठित क्यों

---

* 'ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥'

किया ? अतः इसके धर्ममूलक रूप को जानना आवश्यक है। संसार को त्याग से जीता जाता है और राग से बन्धन परिणाम भुगतना होता है—यह नित्य सत्य है। किन्तु त्याग का मार्ग सम्पूर्ण संसार ग्रहण नहीं कर पाता और बहुसंख्यक लोग संसारी हैं। यह संसार वासनामूलक है तथापि मनुष्य ने अपनी विवेक-शक्ति से वासना को पाशविक धरातल से उठाकर मानवीय रूप दिया है। वह इस अपरूप पशुधर्म को सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप देने में सफल हुआ है। समाज के रूपमें उसने पत्नी, माता, पुत्री, स्वसा आदि विविध सम्बन्धों की प्रतिष्ठा करते हुए वासना को सीमित किया है तथा पुत्र परम्परा को सृष्टि का स्वाभाविक परिणाम मानकर उसे पिता-पुत्र के पवित्र सम्बन्ध में अनुसूत्रित किया है। अनिवार्य यौन सम्बन्ध को देव, गुरु तथा अग्निहवन एवं मंत्रों की सन्निधि तथा साक्षी में सम्पन्न कर उसे सामाजिक संस्कृति का पावन विधान बना दिया है। विवाह होने पर पुरुष तथा स्त्री के लिए संसार के सभी पुरुष तथा स्त्रीवर्ग यौनसम्बन्धबाह्य हुए, यह प्रतिष्ठा करना पति-पत्नी की दैहिक, मानसिक, आत्मिक चर्या का अनिवार्य अंग हो जाता है। इस प्रकार वासना पर सम्पूर्ण नियंत्रण नहीं, तो उसकी अकुण्ठ गति पर समाज तथा संस्कृति के सीमा-कवाट तो लग ही जाते हैं। एक पुरुष एकपत्नीव्रती हो और एक स्त्री एकपतिव्रत धारणकर जन्मभर के लिए शपथ ले, यह पवित्र जीवन को आरम्भ करने का प्रथम चरण है। जिस व्यक्ति ने सम्पूर्ण संसार के स्त्री-पुरुष-परिवार में से अपना वासनासम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया और एकमात्र 'दम्पती' युग्मतक उसे सीमित कर लिया, उस से यह आशा की जा सकती है कि कालान्तर में विषयरुचि को जीत कर वह त्यागमार्ग पर भी विचरण करने में समर्थ हो सकेगा। क्योंकि मन का चंचल स्वभाव एक स्त्री से, तथा एक पुरुष से तृप्ति अनुभव नहीं करता और स्वैर, स्वच्छन्दगामी होना पसन्द करता है। मनुष्य समाज के कठोर नियम उसे विवश करते हैं तथा सत् शास्त्र स्वाध्याय से वासना का मलिन रूप भी उसे शनैःशनैः प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार 'काम' भी पुरुषार्थ है। वह पवित्र सन्तान की परम्परा चलाने वाला है, पत्नीव्यतिरिक्त सभी स्त्रियों के प्रति भगिनीत्व-मातृत्व की भावना चरितार्थ करनेवाला है। इस उद्दाम मानसिक विकृति को नियंत्रित करने में 'काम' की यह परिभाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। मोहनीय कर्म का क्षय कर मनुष्य को अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की सिद्धि करना ही उपादेय है। 'काम' कामनाओं की पूर्ति से शान्त नहीं होता। अग्नि घृताहुति से निर्वापित नहीं की जाती। अतः काम को त्यागकर मोक्षमार्ग को अंगीकार करना ही मनुष्यभव की सर्वश्रेष्ठ परिणति है। जो अपने जीवन में अर्थ और काम से ऊपर नहीं उठ सका, उसने 'नर से नारायण' होने की सम्भावना रखनेवाले, क्षमताशील मनुष्यपर्याय को, मणि से काक उड़ाने के समान तुच्छ किया, दीन बनाया और हीनताओं में समाप्त कर दिया। अर्थ और काम से रति करना तो परपदार्थ से आसक्ति रखना है। अनेक जन्मों तक परपदार्थरति रखते हुए मृत्यु प्राप्त करना और इसकी समाप्ति का प्रयास न करना, अज्ञता नहीं तो क्या है? वास्तविक धर्म, अर्थ और काम में नहीं है; वह तो सम्यक् चारित्र में है। चारित्र

का पालन वीतराग तपस्या के बिना अशक्य है। जहाँ एक लंगोटी धारण करनेवाले ऐलक भी प्रतिलेखन-शुद्धि में समय देने से अपना अभीक्ष्ण उपयोग नहीं कर पाते, वहाँ सागार गार्हस्थ्यपालन करनेवाले कहाँ तक सक्षम हो सकते हैं ? यह मोक्ष 'मोक्षमार्ग प्रकाश' अथवा अन्य मोक्षविषयक प्रतिपादन करने वाले आगम-स्वाध्याय से उपलब्ध नहीं होता, इसके लिए तो कर्मों के पर्वत तोड़ने पड़ते हैं, संसार के समस्त आत्मभिन्न वैकारिक पदार्थों से विराग लेना पड़ता है और सर्वारम्भ परित्यागपूर्वक महाव्रतों का अनुपेक्ष्य पालन करना होता है। विशुद्ध आत्मतत्त्व में ध्यानावस्थित होकर जो मुनि ध्यान, ध्याता और ध्येय की एकात्मता का साक्षात्कार करते हैं, मोक्ष उन्हीं को प्राप्त होता है। यह सामर्थ्य आन्तर-बाह्य परिग्रहहाणपूर्वक निर्ग्रन्थचर्या के पालन से उद्भूत होता है। जब आत्मा संसार की आकुलताओं से मुक्ति प्राप्त कर चुके, तभी तो पारलौकिक दुर्गम पथ पर निराकुल संचरिष्णु हो सकता है। स्वकल्याण के लिए आत्मनिष्ठता प्राप्त करो, परपदार्थरति का त्याग करो तथा अत्यन्त विशेषणयुक्त आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परमसूक्ष्मता को अधिगत कर मोक्षगामी बनो। संसार के आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य आदि क्षुद्र हैं, नाशवान् हैं, अल्प हैं, क्षयिष्णु हैं और आत्मा का अधःपतन कराने वाले हैं। अतः निर्वीर्यता के धरातल से उठकर ब्रह्म पद प्राप्ति के पुरुषार्थ करो। □

लेखन-कला

वाक् के दो व्यावहारिक रूप हैं ध्वनि और लिपि। दोनों शब्दमय हैं। एक भाषित रूप है और दूसरा लिखितरूप। वक्तृत्वकला में वाक् के भाषित रूप की अवगति दी जा चुकी है। प्रस्तुत लेख में वाग्विधान के लेखात्मक विन्यास पर विमर्श किया जाएगा। लेखन-कला छवि-अंकन-विद्या के समान है। एक व्यक्ति के अनेक चित्र 'फोटो' से प्राप्त किये जा सकते हैं और आवश्यकता होने पर व्यक्ति-परिचय के लिए विविध स्थानों पर प्रेषित किये जा सकते हैं। प्रत्येक स्थान पर आकृति-दर्शन के लिए उसी व्यक्ति का जाना, उस प्रतिच्छवि के पश्चात् आवश्यक नहीं। लेखनकला भी लिपिविद्या है और लिपिबद्ध अक्षरों में व्यक्त विचारों को पुनः पुनः मुखयंत्र द्वारा उच्चारित करना अपेक्षित नहीं। जैसे व्याख्यान सुना जाता है वैसे लेख पढ़ा जाता है। वाक् का श्रव्य रूप वक्ता की अपेक्षा करता है; किन्तु उसका लेख्यरूप वक्ता की अनुपस्थिति में भी उसके द्वारा प्रतिपादित भावों को उसी के शब्दों में यथावत् प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार दीर्घजीविता की स्पर्धा में वाक् का लेख्यरूप अधिक उपादेय है। वैसे यह उसका अवरज है। वाक् अग्रजन्मा है और लेख अनुजन्मा है। जब वक्ता को अपनी अभिव्यक्ति के संरक्षण का विचार हुआ, उसने लिपिविद्या का आविष्कार किया। इस लिपिविद्या ने उसकी वाणी को पुनर्जीवन दिया। उसके विचारों को अक्षय यौवन प्रदान किया। उसकी मृत्यु को पराजित किया। अक्षरों में लिखित उसकी कीर्ति कल्प-काल के लिए सुरक्षित होकर लेखक के लिए अमरता हो गई। स्वर्ग में रहने वाले देवों का नाम 'अमर' है। उन्होंने अमृत पीकर अमरता प्राप्त की और लेखन-कला से यशस्वी हुए कलाकार को लिपिबद्ध अक्षरों ने 'अमर' कर दिया। पृथ्वी पर 'अमर' होकर जीनेवाले वे हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी को कनकमषी में निमग्न कर शाश्वत साहित्य की रचना की। अपने तपः स्वाध्याय-चिन्तन से समुद्भूत विचारों को लिखा तथा उन्हें वाक् के साथ शून्य में उड़ने, खो जाने से रोका। यह लेखन-प्रणाली मानव जाति के लिए वरदान है। वह कामधेनु के समान इससे इच्छित क्षीर-दोहन कर सकता है। आज के युग में लेखन-कला को मुद्रण से पर्याप्त विकास मिला है। यांत्रिक मुद्रण के युग से पूर्व लिखित पुस्तकों का बहुत समादर था। एक-एक ग्रन्थ वर्षों में लिखकर समाप्त किया जाता था। उसकी लिपि तथा प्रतिलिपि सम्भाल कर रक्खी जाती थी। प्राचीन हस्तलिखित संग्रहालयों में सुरक्षित ग्रन्थों को देखकर उस समय के लिपिधुरीणों के श्रम का ज्ञान होता है। हाशियों को हिंगुल से, कुंकुमद्रव से, हल्दी से रंगने की प्रथा थी। पत्रों में कथानक के पात्रों का चित्रांकन चलता था। चित्र साधारण और विशिष्ट होते थे। चित्रों में सुवर्ण-निर्मित मषी का प्रयोग किया जाता था।

बहुत-सी पुस्तकें कांचन के पानी से ही लिखी होती थीं। पुरातत्त्व संग्रहालयों में ऐसी कुछ पुस्तकें आज भी विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर लिपिकर्ताओं के असीम धैर्य का पता चलता है। ताड़पत्र पर, भोजपत्र पर तथा हाथबने देशी कागज पर मुँह-बोलते वे चित्रांकन, अक्षर-लेखन आज भी धूमिल नहीं हो पाये हैं। उनकी स्याही इतनी पक्की है कि देखकर उनके अज्ञात मिश्रण पर विस्मय होता है। आज मुद्रण की सुविधा मिलने से ग्रन्थों की सुरक्षा का उतना अवधान नहीं रह गया है। एक-एक ग्रन्थ की सहस्रों प्रतियाँ छपती हैं और खरीदार प्राचीन युग की तुलना में बहुत अल्प मूल्य देकर उसे प्राप्त कर लेता है। अप्राप्ति की सम्भावना न होने से उन ग्रन्थों को सावधानी से रखने तथा चयन करने का रुझान आजकल कम हो चला है; परन्तु यंत्र-युग से पूर्व में इन्हें देव-प्रतिमा के समान आदर-मान से रखा जाता था। जरी की किनार लगे पीले वेष्टनों में पुट्ठे लगाकर ऊँचे स्थानों पर रखने की प्रथा थी। ग्रन्थों को श्रुतपाहुड़ पर रखा जाता था और नीचे अंगण में बिना आसन के रखना वर्जित था। 'देव, गुरु और शास्त्र' एक कोटि में स्मरण किये जाते थे। शास्त्र को भूलकर भी पैर लग जाने पर उसे मस्तक-स्पर्श दिया जाता था। यह प्रक्रिया लिखित पुस्तकों में होने वाले श्रम को लक्ष्य करके प्रचलित थी, उन ग्रन्थों से प्राप्त होने वाले ज्ञान के निमित्त श्रद्धाभाव की द्योतक थी। आज मुद्रित पुस्तकों का युग है। प्राचीनकाल जैसी कलात्मकता यद्यपि सर्वत्र देखने में नहीं आती तथापि मुद्रण बहुत उन्नतावस्था में पहुँच गया है। तभी लाखों की संख्या में एक जैसे अक्षरों में दैनिक समाचार-पत्र छपकर प्रतिदिन देश-विदेशों में पहुँच जाते हैं। आज इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति ग्रन्थों, पुस्तकों को प्राप्त कर सकता है और उस युग में पुस्तकों का लिखना-लिखवाना बहुत व्ययसाध्य कार्य था और सभी के लिए सुलभ नहीं था। किसी मूल प्रति का पा लेना कठिन था और उससे दूसरी प्रति तैयार करवाना और भी कठिन था। एक-एक ग्रन्थ के लिखने में, उसके श्लोक-संख्या परिमाण के अनुपात से दीर्घकाल लग जाता था। आज का यह मोनो-टाइप कम्पोज उस समय कल्पनाबाह्य था। अस्तु।

ऊपर केवल लिखने की एक कला पर दृष्टिपात किया गया है। वस्तुतः यह बाह्य वर्णनमात्र है। इसके मूल अक्षर तो लेखकों, ग्रन्थ-रचयिताओं, शास्त्रकारों से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से विचारने पर प्राक्कालिक लेखकों और अधुनातन लेखकों में एक स्पष्ट अन्तर देखने में आता है। मुद्रणकला की सुविधा मिलने से आज आत्मख्याति एवं प्रकाशन के अवसर अधिक सुलभ हो गये हैं। इस हेतु से प्रत्येक वह व्यक्ति, जो मुद्रण के लिए व्यय कर सकता है, लेखक होने, प्रसिद्धि पाने में समर्थ है। इसके विपरीत एक सुलेखक अर्थाभाव होने से न अपने ग्रन्थ को प्रकाशन दे सकता है और न लेखकों की पंक्ति में आ सकता है। यह अर्थ का प्रभुत्व ही है कि आज के बाजारों में पुस्तकों के रंग-बिरंगे अम्बार लगे हैं। जासूसी, तिलस्मी, हत्याभरी, तथा दैनिक पत्रों के समान यात्रा-पठनीय सस्ती (स्तर से तथा

मूल्य से) पुस्तकें सर्वत्र पुष्कल मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐसे असीम समुच्चय में किसी सुलेखक की स्थायी साहित्य में गणनीय विचारप्रद पुस्तक ढूंढ़ निकालना परिश्रमसाध्य है। इसमें साहित्य के स्तर को गिरानेवाले व्यवसायी लेखक हैं जो प्रतिदिन एक पुस्तक लिखनेवाले तक हैं। उन्हें अर्थ चाहिए और प्रकाशकों को नित्य नया 'माल' चाहिए। इस प्रकार वनस्पति तेल से निर्मित मिठाइयों के समान 'बासलेटी' साहित्य का बाजार गर्म है। जैसे सिनेमा के गीतों ने राग-रागिनीबद्ध पक्के राग के गीतों की ध्वनि को मन्द कर दिया है वैसे सस्ते कहे जाने वाले इस पण्य साहित्य ने पुण्यपाठ को अधःपतित करने में अपना कौशल प्रदर्शित किया है। आज के नैतिक पतन का अर्धांश सिनेमा-जगत् को और अर्धांश ऐसे सस्ते बुकस्टालों को दिया जाना युक्तिसंगत है। वे जनता के हाथों में विष भरे अनैतिक कथानकों को पहुँचाने के गम्भीर अपराधी हैं। जिस राष्ट्र का विद्याविभाग इतना अनियंत्रित हो, वहाँ 'रीटा' और 'सीता' का सम्मान प्रश्न उपस्थित होने पर 'रीटा' के पक्ष में समर्थक मत अधिक मिलें तो आश्चर्य क्या ?

वस्तुतः लेखन इतना सरल नहीं है। वर्षों के तपःस्वाध्याय के परिणाम-स्वरूप लिखने का साहस किसी-किसी में होता है। प्राचीन वाङ्मय को देखने से ज्ञात होता है कि एक-एक ग्रन्थ लिखने में जीवन लग जाते थे। कभी-कभी तो जीवन लगने पर भी ग्रन्थों की परिसमाप्ति नहीं हो पाती थी। संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध गद्य भट्टारक बाणभट्ट की कृति 'कादम्बरी' के अपूर्ण भाग को बाण के पुत्र ने पूर्ण किया। आचार्य जिनसेन सम्पूर्ण 'महापुराण' नहीं लिख पाये और फलतः उनके शिष्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' लिखकर उसे समाप्त किया। आचार्य अकलंक तीन ग्रन्थ ही लिख सके, जबकि आज अनेक लेखक कुछ दिनों में ही एक ग्रन्थ लिखने के अभ्यासी हैं। यह विरोधाभास किस ओर निर्देश करता है? क्या इसका यह तात्पर्य समझा जाए कि लेखन का प्राचुर्य आधुनिकों में अधिक है अथवा पूर्वकालिक न्यून लिखते थे। विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि आधुनिक साहित्य-लेखकों का लेखन जिन विभक्तियों में विभाजित है वे निम्न प्रकार हैं—

अधिकांश लेखक पूर्ववर्ती लेखकों के सन्दर्भजीवी हैं। यदि वे आलोचक हैं तो सहज ही उन्हें स्लेट और खड़िया की सुविधा प्राप्त है। वे उस आधार से जीवित रहकर अपनी लेखन-प्रवृत्ति को प्रेरणा देते रहते हैं। यद्यपि वे स्वतंत्र कुछ नहीं लिखते तथापि स्वतंत्रता से लिखे हुए पर अपना मत अभिव्यक्त करते हुए अनेक ग्रन्थों के लेखक बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। प्राचीन लेखन-विभाग के अनुसार ये मल्लिनाथ परिवार के कहे जाने चाहिए। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं के आरम्भ में प्रायः लिखा है कि 'नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते'—जो मूल में विद्यमान नहीं है, वह मैं नहीं लिखूंगा तथा जिसकी अपेक्षा नहीं है वह भी मैंने नहीं लिखा है।' आधुनिकों में मूल से व्यतिरिक्त प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित विषय के उपबृंहण की प्रवृत्ति बढ़ गई है और इतने मात्र से वे मल्लिनाथ-परिवार

से आये हैं। जो मौलिक लेखक हैं वे पण्डितराज जगन्नाथ के अनुगामी हैं। पंडित-राज ने 'रसगंगाधर' में यह प्रतिज्ञा की है कि 'कस्तूरिका जिसकी नाभि में है, वह हरिण किसी अन्य सुगन्धि को सूँघने की लालसा क्यों करे? मैंने साहित्य में अपनी मौलिक स्थापना तो की ही है, साथ ही उनके उदाहरण भी स्वनिर्मित दिये हैं।' उनकी यह घोषणा साहित्यजगत् में नवीन है। ऐसे मौलिक चिन्तक जीवन में एक-दो कृतियाँ ही दे पाते हैं; किन्तु उन कृतियों में जो गम्भीरता, विशिष्टता अथच मौलिकता दिखायी देती है, वह अन्यत्र दुर्लभ होती है। इस विचार से प्राचीनों ने सूत्रात्मकता से जितना लिखा, आधुनिक प्राय: उसकी व्याख्या करने में लगे हैं और उस मौलिक चिन्तन पर अनुचिन्तन करनेवालों की लेखनपद्धति आज अधिक दृश्यमान है।

यह लेखनकला स्वाध्याय, शक्ति और बहुज्ञता से प्राप्त की जाती है। जिसने कठिन श्रम करते हुए स्वाध्याय नहीं किया, उससे प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् कर पचाया नहीं, वह कभी कुशल लेखक नहीं हो सकता। जिसने ध्यानस्थ होकर लेख्य विषय का सर्वांग दर्शन नहीं किया, क्या वह उसका पूर्ण वर्णन कर सकता है? इस पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए पुराकालीन लेखक तपस्या करते थे, चिन्तन में युग बिता देते थे और सत्य के साक्षात्कार के अनन्तर ही प्रतिपाद्य विषय का शुभारंभ करते थे। तब भी वे 'मंगलाचरण' करना न भूलते थे। मानो, ऐसा करते हुए उन्हें 'दिव्यध्वनि' सुनायी पड़ती हो। लिखने में भाषा, भाव, शैली, मितात्मकता के सौष्ठव को सुरक्षित रखने की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहता था। इसी निष्ठा से उन पर सरस्वती प्रसन्न होती थी और परिणामस्वरूप 'भवभूति' जैसे महाकवि लिखते थे—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' पुराने ऋषिमुनियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ लगाते थे। आजकल अर्थ के पीछे वाक् का अवतरण कथंचित् होता है। पूर्वसमय के सिद्धवक्ता ने 'हिंस' के स्थान पर 'सिंह' कह दिया तो अर्थ सिंह के अनुपद चला आया। ऐसे सर्वतंत्रस्वतंत्र वाणी के धनी लेखनकला में नवीन प्राण डाल देते थे। जैसे गंगा के प्रवाह अपना मार्ग बनाते चलते हैं वैसे उनकी लेखनी अस्खलित प्रवाह से अक्षरविन्यास करती चलती थी। धवला और जयधवला तथा महाधवला जैसे विशाल शास्त्रीय लेखन बिना तप:सिद्धि के कौन लिख सकते थे? महाकवि गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की और उसे सुनाने के लिए तत्कालीन किसी राजा की सभा में गया। राजा ने 'पैशाची' भाषा में लिखित होने से रचना को सुनने से इन्कार कर दिया, इसका गुणाढ्य को इतना दु:ख हुआ कि वह एकान्त वन में आकर बैठ गया। उसने पत्ते एकत्र कर अग्नि प्रज्वलित की और एक-एक पत्र को पढ़कर उसमें डालने लगा। इस प्रकार उस महत्त्वपूर्ण रचना का तृतीयांश अग्निसमर्पित हो गया। शेष एक भाग किसी प्रकार बचा रहा। 'महापुराण' के कर्ता ने आदर सहित गुणाढ्य का स्मरण किया है। आज विश्व में प्रचलित पंचतंत्र तथा अन्य ऐसी कथाओं का आधार 'बृहत्कथा' ही है। लेखनी के ऐसे धनी

स्वाभिमानी आज कहाँ हैं? जिनकी अंशावशेषरचना को लेकर युगों तक साहित्य लिखा जाता रहे, वे सुकीर्तिकलहंस आज के स्वल्पनीर मानस सरोवरों से प्रायः अदृश्य हो गये हैं। उनकी लेखनी सभी रसों में अबाधगतिक होती थी। यदि शृंगार का वर्णन करने लगते तो साक्षात् कामदेव और रति को अपनी लेखनी के अंकु पर उतार कर रख देते थे और वैराग्यधारा में बहते तो लोग वीतराग होकर निर्ग्रन्थमुद्रा धारण करने को तत्पर हो उठते थे। 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—उनकी वाग्धारा पर पत्थर रो देते थे और वज्र का हृदय पिघल उठता था। उन्हें अपनी वाङ्मयतपस्या पर पूर्ण विश्वास था। उनके प्रतिभापात्र इतने भरे हुए थे कि साधारण बोलचाल में उनकी भंगिमा का रस छलक-छलक पड़ता था। सूक्तियों और सुभाषितों के रूप में लिखित वह साहित्य आज भी सहृदयों का कंठहार है और वाणी का शृंगार है।

लेखनकला की प्रथम विशेषता यह है कि वर्ण्य विषय पाठक के बोधगम्य हो। यदि वर्ण्य विषय को प्रांजल भाषा तथा शैली द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया तो 'यत् स्वयं लिखति तत् परो न वाचयति'—जो स्वयं लिखते हैं उसे दूसरा वाचन नहीं कर सकता, यह दोष लग जाएगा। अतः लेखक को विषय-प्रतिपादन सुबोध शैली में करना चाहिए। लेखक को उस विषय का गम्भीर अध्ययन होना आवश्यक है जिस पर वह लेखनी उठाता है। जैसे कुलवधू को फटे चीथड़ों में लपेटने से कुल की लज्जा क्षीण होती है वैसे अपक्व ज्ञान से किसी विषय का अपूर्ण प्रतिपादन करने से वक्ता की विद्वत्ता का उपहास किया जाता है। ज्ञान के क्षेत्र में 'हाँ' या 'ना'—स्वीकार अथवा निषेध में उत्तर देना अभीष्ट है। अल्पज्ञता के लिए यहाँ कोई अवकाश नहीं। कुछ जानना तथा कुछ न जानना हानिकर है। अल्पज्ञान से अज्ञान अच्छा; किन्तु जिस विषय का ज्ञान रखना आवश्यक हो वह आंशिक नहीं होना चाहिए। या तो लेखनी उठावे नहीं, यदि उठावे तो अधिकार रखे कि उस विषय का कोई पक्ष परोक्ष नहीं रह जाए। सर्वांगपूर्ण रचना का ही विद्वत्समाज में समादर होता है। अधूरी जानकारी को भयावह कहा गया है। 'अल्पयोग्यता भयप्रद है' ऐसी एक विदेशी सूक्ति है। लेखन की कलात्मकता की सुरक्षा इस बात पर अधिक निर्भर है कि उसे शुद्ध व्यवसाय नहीं बनाया जाए; क्योंकि व्यवसाय उपार्जन के निमित्त किया जाता है, और कोई भी व्यक्ति अपने उपार्जन की सीमाओं का विस्तार करना चाहता है। वह विस्तार जब व्यवसाय-तुला पर बैठ जाता है तो मात्रात्मक तो हो सकता है परन्तु विधात्मक नहीं हो पाता। 'संख्या' (क्वांटिटी) तो बढ़ जाती है परन्तु 'स्तर' (क्वालिटी) गिर जाता है। इसके विपरीत 'स्वान्तःसुखाय' जिस साहित्य की रचना होती है वह अपने स्तर की अपने आप रक्षा करता है। जितने शास्त्रीय सिद्धान्त-लक्षण ग्रन्थ हैं उनकी पंक्ति-पंक्ति सोद्देश्य है और उनके पद-पद पर टीकाकारों, व्याख्याताओं तथा आलोचकों ने विमर्श किया है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'—इस पद में 'सम्यक्'

क्यों लिखा, 'चारित्राणि' को बहुवचन क्यों किया ? इत्यादि बाल की खाल निकालने वाले आलोचकों ने उनके सूत्रों पर भी पद-पद पर विचार किया है। आज तो एक वाक्य में समाप्य विषय को एक पृष्ठ में उपबृंहण दिया जाता है और इसे रचनाकार का कौशल माना जाता है। यदि विवेचन किया जाए तो वैसी रचनाओं के पृष्ठ पंक्तियों में और पंक्तियां शब्दों में बदलकर संक्षिप्त की जा सकती हैं। 'स्टीफेन ज्विग' नामक एक पश्चिमी लेखक ने लिखा है कि 'मैं जब अपनी पुस्तक का संशोधन करता हूँ तो आध पन्ने रह जाते हैं।' उसकी पत्नी ने एक दिन अपने पति (ज्विग) को अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में देखा और पूछा तो उन्होंने बताया कि आज मैंने अपने ग्रन्थ का एक अध्याय ही कम कर दिया है और उस पर भी मूल कथानक में कोई त्रुटि नहीं आई है। पूर्व समय में भारतीय भी ऐसे ही लिखकर प्रसन्न होते थे। सूत्रशैली में कहना विद्वानों की विशेषता समझी जाती थी। इसका एक कारण तो यह था कि सूत्र लिखने में समय कम खर्च होता था, तथा दूसरी बात यह थी कि शिष्य-परम्परा में उसे स्मरण कराने की सुविधा रहती थी। सूत्रों को छात्र शीघ्र स्मरण (कण्ठस्थ) कर लेते थे। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य दोनों का समय बचता था। आज समय का उस दृष्टि से मूल्यांकन कम हो गया है और लोग बड़ी-बड़ी पुस्तकों को रेल में यात्रापथ पार करते, रात्रि में शैया के पास दीप लगाकर पढ़ने के अभ्यासी हो चले हैं।

लेखन चिन्तन की छाया है। चिन्तन लेखन का शरीर है। जैसे बिना शरीर के छाया नहीं बनती वैसे चिन्तन बिना लेखनी नहीं उठती। चिन्तन में विचारों का गुम्फन किया जाता है और लेखन में उसे अभिव्यक्ति मिलती है। जो विचार मस्तिष्क में घुमड़ते रहते हैं वे ही लेखनी से उतर कर पत्र पर आकार ग्रहण करते हैं। अतः लेखन से पूर्व विचारों का संग्रह होना परम अपेक्षित है। विचार-संकलन के लिए मस्तिष्क को नवचिन्तन में निमग्न करना चाहिए और नवचिन्तन तप से, स्वाध्याय से सम्भव है। जो व्यक्ति अच्छा स्वाध्यायी नहीं होता वह अच्छा लेखक नहीं हो सकता। लेखन में तथा स्वाध्याय में कार्य-कारण सम्बन्ध है। इस दृष्टि से लेखकों की दिनचर्या सामान्य जनों से नितान्त भिन्न हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। गीता में कहा गया है कि 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'— जिस समय (दिन में) सारे प्राणी जागते हैं, मुनि (मननशील, चिन्तक) उस समय को रात्रि मानते हैं। इसका आशय यह है कि जब संसार कोलाहल में डूबा हुआ हो, तब निद्रा लेकर शारीरिक विश्राम की आवश्यकता को पूर्ण कर लेना चाहिए तथा रात्रि में जब सारा संसार सो गया हो, उस निःस्तब्ध, प्रशान्त समय में तत्त्व-चिन्तन करना चाहिए। इसका दूसरा तात्पर्य यह भी है कि सामान्य संसार जिन आहार-विहार-आमोद-प्रमोद में जागता है, लीन रहता है, मुनि उसमें रात्रि के विराग के, अज्ञान के सद्भाव को देखता है और दुनिया जिस तत्त्वचिन्तन में उपेक्षा रखती है, उसमें वह सूक्ष्म दृष्टि से अन्वेषण करता है। अनादिकाल से विचारकों चिन्तकों

लेखकों तथा मनीषियों की दिन-रात्रिचर्या में यह लौकिक सामान्य जनों से भेद रहता आया है और तूलिका थामकर यशःसम्पादन करने की इच्छा रखने वालों के लिए सदैव रहेगा। यह तो उस दैनिकपत्र का सम्पादक भी बताएगा कि प्रतिदिन जितना मुद्रण एक दैनिकपत्र में होता है, श्रेष्ठ लेखन लिखने में अनेक दिनों की अपेक्षा होगी; क्योंकि 'अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः'—शाश्वत पठनीय साहित्य की क्रमबद्धता को कहते-लिखते जाना कठिन है। जैसे नये पत्ते मधुमास आने पर ही निकलते हैं वैसे श्रेष्ठ साहित्य का मौलिक लेखन दीर्घकाल की साधना की अपेक्षा रखता है। लेखनकला वैदुष्य की कसौटी है। अपने ही विचारों को जब पत्र पर अंकित करना चाहते हैं तो उनकी क्रमबद्धता, वाक्यविधान तथा अनुरूप शब्द-चयन कठिन हो जाता है—और प्रायः ऐसा लगता है कि जैसा सोच रहे थे, वैसा लिखने में नहीं आया; क्योंकि लेखन एक कला है। यह चित्रांकन के समान है। इसका व्याकरण, शैली, विन्यास अपनी अलग विशिष्टता रखते हैं। बहुत लोग जो अपने विचारों को क्षिप्रता से बोल कर कह-सुनाते हैं लिखते समय उन्हें भूल जाते हैं। जैसे अवक्ता को 'स्टेज-फीवर' (मंचज्वर) हो जाता है; वैसे अलेखक को 'पेपर फीवर' (पत्रज्वर) हो जाता है। कुशल लेखक बनने के लिए अनेक वर्षों तक निबन्ध लिखकर अभ्यास किया जाता है तथा सन्दर्भ-पुस्तकालयों की सहस्रातिसहस्र पुस्तकों का अध्ययन, उनके आवश्यक नोट्स तैयार करने होते हैं। ऐसी परिष्कृत लेखनी से प्रसूत साहित्य युगों तक पठनीय होता है तथा उसमें से अध्येताओं को विपुल सामग्री उपलब्ध होती रहती है। इस उपलब्धि के अभाव में जो लेखनचापल्य करते हैं वे 'हर्षचरित' के प्रस्तावना श्लोकों को देखें जिनमे उन्हें बालक कहते हुए जननी+राग हेतु (जन+नीराग हेतु)—बताया गया है। श्रेष्ठ लेखन तो सर्वदा समादरणीय रहा है और सरस्वती का दुर्लभ प्रसाद माना गया है। □

'ण वि अत्थि ण वि य होहदि, सज्झायसमं तवो कम्मं ।' —आचार्य कुन्दकुन्द

साहित्य और स्वाध्याय

शब्दबद्ध हितकारी चिन्तनपरिणाम को साहित्य कहते हैं। साहित्य की इस सहित (हितसहित) शाब्दिक भावात्मकता ने मनुष्य के चिन्तन, अनुशीलन के परिणामों को व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, दर्शन एवं अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान आदि विषयों में अभिव्यक्त किया है। इस अभिव्यक्ति में मानव की उदात्त बुद्धिमत्ता नियोजित हुई है। कठोर तपश्चर्या से उपलब्ध सत्य का साक्षात्कार सुलभ हुआ है और काल की अनन्त राशि व्यय हुई है। ये जो पुस्तकालय और संग्रहालय आपूर्यमाण दिखायी दे रहे हैं, उनमें असंख्य साहित्य-शिल्पियों की साधना फलीभूत होकर विराजमान है। मनुष्यजाति ने ज्ञानसमुद्र का मन्थन कर जिन रत्न-राशियों को प्राप्त किया, साहित्य-रूप में सहृदयों की कण्ठाभरण होकर वे सहस्र-सहस्र आलोककिरणों में दमक रही हैं। वह विवेक का अन्तर ही मनुष्य को चतुष्पाद पशुवर्ग से श्रेष्ठ बताता है। प्रत्येक पशु का जीवन जातिसदृश है और प्रत्येक मनुष्य का जीवन व्यक्तिसदृश है। अर्थात् पशु अपनी सम्पूर्ण जाति से आहार, विहार में समान हैं और मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य से अपने बौद्धिक, नैतिक, चारित्रिक विकासक्रम में भिन्न है। मनुष्य प्रगति अथवा अगति (पश्चाद् गति) करने में समर्थ है किन्तु पशु 'यथा जातस्तथा गतः'—जैसा उत्पन्न हुआ वैसा ही निधन को प्राप्त हुआ। उसने समूहरूप में या व्यक्तिगत रूप में कोई विशेषता अथवा प्रगति नहीं की; किन्तु मनुष्य ने विस्मय से, जिज्ञासा से, चिन्तनपरिणामों से जन्म-मृत्यु के विचित्र भवावर्तसे अपने को सोचने पर विवश किया और रहस्यों को भेद कर निष्कर्षों को प्राप्त किया। मैं कौन हूँ? जन्म-मरण क्या है? यह संसार क्या है? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है? कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा? इत्यादि प्रश्न उसके मानस में उठते हैं और वह अपने तात्विक निष्कर्ष से इनका समाधान प्राप्त करता है। चिन्तन की यह सहज धारा सभी मनुष्यों को प्रायः मिली हुई होती है तथापि कोई एक इस अनाहत ध्वनि को सुन पाते हैं। सुननेवालों में भी कुछ व्यक्ति इस पर विचार करते हैं और उन विचार-परायणों में भी बहुत थोड़े ऐसे लोग निकलते हैं जो अपने चिन्तन की परिणति को चारित्र से, आचरण से कृतार्थ करते हैं। ऐसे पवित्र चारित्रशील महापुरुष अपनी चिन्तन परिणति का सत्लाभ लोक को देने के लिए स्वानुभवों को अक्षरबद्ध करते हैं। वही साहित्य के रूप में हमें मिलता है। बिन्दु-बिन्दु से जैसे कुम्भ भर जाता है, वैसे अनेक दार्शनिकों, चिन्तनशील मनीषियों, एवं आचार्यों के अनुभूत तथ्यों के शब्द-शब्द से वाङ्मय-कलश भरा हुआ है। एक व्यक्ति किसी एक

विषय पर जितना लिख नहीं सकता, सोच भी नहीं सकता तथा अपना सम्पूर्ण जीवन देकर जितना है, उसका एक पारायण तक नहीं कर सकता, उतना अपरिमित ज्ञान (साहित्य) पूर्ववर्तियों ने अपनी परम्परा के हित में छोड़ा है। मानव-पीढ़ी यदि उस संगृहीत साहित्यधन का उपयोग करे तो वह उससे जन्मान्तर तक समाप्त नहीं होगा। उनके एक-एक शब्द, भाव, अर्थवैशिष्ट्य ने ग्रन्थरूप में जन्म लेकर ज्ञान की विभूतियों को स्फीत एवं समृद्ध कर हमारे लिए आत्मदर्शन का मार्ग प्रशस्त किया है। उन सारस्वत महर्षियों के अपार ऋणानुबन्ध से उऋण होना दुष्कर है, कठिन है।

निर्माता और उपभोक्ता संसार में दो वर्ग हैं। साहित्यकार निर्माता है और उसके पाठक उपभोक्ता हैं। साहित्यकार को एक कृति-निर्माण में अनेक दिन, मास और वर्ष लगते हैं; किन्तु उसके वर्षों के चिन्तनश्रम को पाठक घण्टों में प्राप्त कर लेता है। सिद्ध पक्वान्न के भक्षण में तथा निष्पन्न शब्दराशि को पढ़ने में अधिक समय नहीं लगता। सत्साहित्य अपनी मौलिकता से सहस्रों वर्ष जीवित रहता है किन्तु असत् अथवा कालिक साहित्य ऋतु विशेष के पुष्पों के समान शीघ्र ही शीर्ण हो जाता है। संसार के प्रबुद्ध मस्तिष्क पाठक साहित्य के परीक्षक होते हैं; क्योंकि अपनी रचना पर पक्षपात बुद्धि होने से लेखक स्वयं उसका समालोचक नहीं हो पाता। प्रसिद्ध है कि 'एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः' एक खान से सुवर्ण निकलता है और एक खान से कसौटी का पत्थर निकलता है। दोनों ही पत्थर हैं। परन्तु सुवर्ण सुवर्ण की परीक्षा नहीं कर सकता, उसकी परख के लिए तो कसौटी का पत्थर ही आवश्यक है। इस प्रकार मूल रचनाकार के श्रम का मूल्यांकन उसके पाठक करते हैं। पवन ही कस्तूरी की सुगन्ध को उड़ा कर सुदूर दिगन्तों तक ले जाता है। तथापि 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'—कालिदास की यह उक्ति सार्थक ही है कि जब तक सहृदय पाठक (विद्वद्वर्ग) किसी रचना पर अपनी प्रशंसा की मुहर न लगावें तब तक उसका प्रयोग सफल नहीं माना जा सकता। यदि पाठक ने रचनाकार की कृति को तन्मय होकर पढ़ा, उसके द्वारा प्रतिपादित विषय के औचित्य को स्वीकार किया तो स्वर्गस्थ होकर भी वह लेखक जीवित है। वस्तुतः लेखक का श्रम उसके वाचक सफल करते हैं। जिस लेखक को वाचक नहीं मिलते, उसका श्रम चरितार्थ नहीं कहा जा सकता। जब तक शब्द प्रयुक्त होकर साहित्य नहीं बनते और जब तक साहित्य अध्येताओं को आकर्षित नहीं करता तब तक कर्त्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से विचारों में नवीन शक्ति का, चेतना और दिशाबोध का उन्मेष होता हुआ प्रतीत होता है। प्रायः नयी दिशा, नये विचार और असंकीर्ण चिन्तन के राजपथ सत्साहित्य से ही मानव समाज को प्राप्त होते हैं। साहित्य व्यक्ति की चेतना में एक विशिष्ट अन्तःकरण का निर्माण करता है। एतावता जीवन में साहित्य का महत्त्व असन्दिग्ध है। जब कोई व्यक्ति अपने अतीत में घटित किसी विशिष्टता के विषय में जिज्ञासा करता है तब उसकी पूर्ति साहित्य से ही होती है। हम तीर्थंकरों को, उनके लोकहितकारी कृतित्वों

और आत्मप्रसन्नता को साहित्य से ही जान सकते हैं। किसी के समक्ष अपने इतिहास, संस्कृति और सभ्यता तथा जातीय गौरव को प्रस्तुत करते समय हम प्रतीकरूप में अपना साहित्य ही भेंट कर सकते हैं। इस प्रकार साहित्य हमारी अमूल्य निधि है। वह हमारा कल्पतरु है, जिससे मनःकल्पित दुहा जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान की कृत, करिष्यमाण तथा प्रक्रान्त क्रियाएँ साहित्य द्वारा परिचालित होती हैं। हमें अपनी गति और स्थिति के लिए अपना साहित्य देखना होगा। संसार की अनेकरूपता के परिष्कृत तथा विकृत चित्र हमें साहित्य में ही मिलेंगे। साहित्य तथ्यों का संकलन है, तथा सत्यों का निरूपण है। अनन्त कालावधि में जिनको जो चिरप्रस्फुरण हुआ है, वह साहित्य-सरोवर में कमल के समान मुसकरा रहा है। साहित्य पढ़ कर हम अपने ज्ञानतन्तुओं का विस्तार करते हैं। अपनी कूपमण्डूकता को सागर तक ले जाते हैं। अपने-आपको जानने लगते हैं। मानव के उत्कृष्ट जीवन की उच्चतम उपलब्धियाँ साहित्य के अमर पत्रों पर अंकित हैं। साहित्य के निरन्तर अनुशीलन से बुद्धि की धार तीक्ष्ण होती है, कुण्ठा निरस्त होकर चिन्तन, की किरण दिखायी देती है। जैसे कदली के पत्र के नीचे दूसरा पत्र विद्यमान रहता है वैसे साहित्य में विचारों की परम्परा तहा कर रक्खी हुई है। साहित्य से मस्तिष्क को आवश्यक आहार मिलता है। जैसे भटके हुए को मंजिल मिले, डूबते को नौका वैसे अविचार के शून्य में खोये हुए को उत्तम वैचारिक मार्ग सत्साहित्य से प्राप्त होता है। सत्साहित्य से जीवन का निर्माण करना प्रत्येक विवेकशील का कर्त्तव्य है।

किन्तु साहित्य की अलमारियाँ सजा कर अपने चारों ओर रखने से साहित्य-निधि का अवतरण जीवन में नहीं होता। तुम्बी जल में डूबी रह कर भी ऊपर तैरती रहती है। वैसे जो अपना मुख (अपनी मानसिक वृत्ति) तुम्बी के समान पानी में नहीं डुबाता, उसे साहित्य का लाभ नहीं मिल सकता। साहित्य से लाभ उठाने के लिए 'स्वाध्याय' की अपेक्षा है। जो पुरुषार्थ करता है, सिद्धि उसी को प्राप्त होती है। 'क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे'—क्रियासिद्धि पुरुषार्थ की अपेक्षा करती है, उसे उपकरणों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। जैसे एक कुलाल है। उसके पास मिट्टी, दण्ड, चक्र, चीवर—सभी उपादान विद्यमान हैं; तथापि यदि वह इतने मात्र से कुम्भ-निर्माण के स्वप्न देखने लगे तो यह उसके लिए 'आकाशपुष्प' होगा। कुम्भ-निर्माण के लिए तो उसे उन उपकरणों का विधिवत् उपयोग करते हुए श्रम करना होगा, कुलालचक्र को दण्ड से घुमाना होगा। ऐसे ही श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों को अपनी 'मेज' पर रखने से काम नहीं चलेगा, अपितु स्वाध्याय द्वारा उनको आत्मसात् करना आवश्यक होगा। स्वाध्याय का व्रत प्रत्येक मनुष्य को लेना चाहिए; क्योंकि इससे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। स्वाध्याय से पापों के निराकरण का मार्ग ज्ञात होता है। जिस प्रकार ग्रहण से मुक्त हुए सूर्य की किरणें सभी दिशाओं में निर्बाध संचार करती हैं उसी प्रकार स्वाध्यायी की प्रतिभा (बुद्धि) सहज ही शब्द की अभिप्रेत अर्थशक्तियों का ग्रहण कर लेती है। स्वाध्याय के बिना वैदुष्य का दम्भ करना वन्ध्या-

पुत्र को लालित करना है। अतः कहना चाहिए कि जो स्वाध्यायनिष्ठ है वही साहित्यवेत्ता है। पठन-पाठन में अनियुक्त तल्लीनता स्वाध्यायव्रती का विशेष गुण है। स्वाध्याय से बौद्धिक बल की वृद्धि होती है। बुद्धिबल आत्मबल के लिए सहायक होता है। आत्मा बलवान् होने से साध्यों की प्राप्ति होती है। न केवल लौकिक संपदाओं के सूत्र स्वाध्यायकक्षों में बंटे हुए हैं अपितु धर्माचरण की संहिताएँ भी इसमें अन्तर्निविष्ट हैं। स्वाध्याय से संस्कारों में परिणाम विशुद्धि आती है और परिणाम विशुद्धि महाफला है। मेधा की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है। ज्ञान प्राप्ति का माध्यम स्वाध्याय है। स्वाध्यायमग्न के समक्ष अक्षररूप में उन विशिष्ट ग्रन्थकारों का उदात्त जीवन साकार हो उठता है, जिनके वाङ्मय यशःशरीर को वह पढ़ता है। लेखकों की कृतियों का अध्ययन करने से उनके प्रकाण्ड ज्ञान की जानकारी मिलती है और अध्येता उनके भावलोक-सामीप्य का अनुभव करता है। मन को स्थिर रखने की दिव्यौषधि स्वाध्याय है। 'श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्'—वानर के समान चंचल मन को शास्त्ररूप स्कन्ध पर विचरने के लिए छोड़ देना चाहिए। जो अपने मन को स्वाध्याय शिला पर अकम्प प्रतिष्ठित कर देता है, वह धन्य है; क्योंकि हेय-उपादेय का ज्ञान शास्त्र-स्वाध्याय से ही होता है। मृत्यु जैसे महादुर्ग को लांघने का पराक्रम स्वाध्यायी को प्राप्त होता है। यदि स्वाध्याय करते हुए भी मन चंचल है, ज्ञानावरण अक्षीण है तो कहना होगा कि वास्तव में स्वाध्याय नहीं किया गया। 'व्यर्थः श्रमः श्रुतौ'—शास्त्राध्ययन का श्रम व्यर्थ हुआ। 'पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम्'—दीपक हाथ में रख कर चलने वाले यदि कुए में गिरें, ठोकर खायें तो दीपक उठाने का श्रम किसलिए? शास्त्रों के स्वाध्याय को इह-लोक मात्र के लिए नहीं परलोक के लिए भी पथप्रदर्शक मान कर चलना चाहिए। 'आगमचक्खू साहू'—साधु तो शास्त्र को नेत्र समझते हैं। उनके विधि-निषेध मार्ग शास्त्रलोचनों से देखे जाते हैं। सूर्य तो अस्त होता रहता है; परन्तु ज्ञान अखण्डदीप है। इसकी ज्योतिर्मयता रात्रि में तिमिरबाधित नहीं होती। अधीतविद्य के आत्मा में स्वाध्याय-दीप की अनिर्वाप्य लौ जलती रहती है। नित्य स्वाध्याय करनेवाला मानो, नियमित रूप से अपने ज्ञानपात्र को ज्योति के परमाणुओं से मांजता है। एक अच्छे अध्ययन-शील का कहना है कि 'यदि मैं एक दिन नहीं पढ़ता हूँ तो मुझे अपने आप में एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नहीं करता हूँ तो पास-पड़ोस के लोग जान लेते हैं और एक सप्ताह न पढ़ने से जो रिक्तता आ जाती है उसे सारा संसार जान लेता है।' वस्तुतः अध्ययनशीलों की यह स्वाभाविक मानस-स्थिति है। उन्हें ज्ञानपिपासा से तृप्ति नहीं होती। वे स्वाध्याय-पीयूष को पी-पीकर थकते नहीं। उन्हें उदराग्निशमन के लिए चाहे अन्न न मिले, किन्तु क्षुधित मस्तिष्क के आहार के लिए ग्रन्थ मिलने ही चाहिए। उनकी चेतना बिना स्वाध्याय के रिक्त कुम्भ के समान हो जाती है। यह कितने खेद की बात है कि पेट के लिए तो मानव नित्याशी है, अनेक उपायों से उसे भरना चाहता है, एक भी उपवास करना पड़े तो दुःखी-दीन एवं शक्तिहीन हो जाता है किन्तु अध्ययन-क्षेत्र में उपवास-पर-उपवास

करके मस्तिष्क की शक्ति को 'सल्लेखना' ही देने का उपक्रम करता रहता है। आहार की स्वादुता, पौष्टिकता तथा नियमितता में ही उसका सारा श्रम नियोजित है और मस्तिष्क शक्ति को जिस खुराक की अपेक्षा है वहाँ उसने उपेक्षा के ताले लगा दिये हैं। यह लिखना युक्तिसंगत है कि एक स्वाध्यायशील को न किसी एकान्त कक्ष में बन्द कर दो और पुस्तकों से, उसके प्रिय विषय से वंचित कर दो, वह कुछ दिनों में पागल हो जाएगा। स्वाध्याय प्रेम के पीछे अन्य माया-ममताओं को बिसराने वालों का इतिहास दुर्लभ नहीं है। वैदिक न्यायदर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् 'अक्षपाद' के विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे प्रतिक्षण स्वाध्याय में मग्न रहते थे। मार्ग चलते हुए भी पुस्तक के पन्नों पर उनकी दृष्टि जमी रहती थी। एक दिन पढ़ते-पढ़ते चलते हुए मार्ग में स्थित कुए में गिर पड़े। पढ़ने के बाद भी जैसे ही कुछ स्वस्थता मिली, पुस्तक उठा कर पढ़ने लग गये। वह जलविहीन अन्धकूप था। उनकी स्वाध्यायतन्मनस्कता से देवी सरस्वती ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया और कहा—इच्छावर मांगो। अक्षपाद, जिनका उस समय कणाद नाम था, ने कहा कि 'पढ़ते हुए चलने में कठिनाई होती है अतः कृपया पैरों में दो आँखें लगा दो और कुछ नहीं चाहिए।' स्वाध्याय के दीवानों का एक आधुनिक उदाहरण जयपुर से सम्बन्धित है। विद्याभूषण पं. हरिनारायणजी पुरोहित को नयी-नयी पुस्तकें प्राप्त करने, उन्हें पढ़ने का बहुत चाव था। एक दिन वे बाजार से जा रहे थे और फुटपाथ पर किसी पुस्तक-विक्रेता के पास कोई उत्तम पुस्तक उन्होंने देखी। उस समय उनके पास जेब में पुस्तक का मूल्य चुकाने को पैसे नहीं थे और घर जाकर पुनः आने तक पुस्तक के बिक जाने की आशंका थी, अतः उन्होंने अपना कुर्ता उतार कर विक्रेता को गिरवी रख दिया और उस पुस्तक को ले आये। इसलिए उनकी उपाधि 'विद्याभूषण' वास्तविक थी। भारत में स्वाध्याय को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है किन्तु आश्चर्य है कि यही लोग 'दैनिक समाचार' भी मांग कर पढ़ते हैं। यद्यपि अखबार पढ़ने जितने समय में वे एक दो कीमती सिगरेटें पी जाते हैं परन्तु 'पत्र' के निमित्त पैसा व्यय करना अपव्यय समझते हैं। विदेशों में अधिकांश व्यक्तियों के पास निजी पुस्तकालय हैं और प्रतिमास वे अपनी आय में से कुछ अंश पुस्तक खरीदने में व्यय करते हैं। हमारे देश के लोग या तो पढ़ते नहीं, पढ़ते हैं तो किसी अल्पशुल्क पुस्तकालय के सदस्य बन जाते हैं और उपन्यास जैसी कुछ 'समय बिताने में सहायक' महत्त्वहीन पुस्तकों को पढ़ते रहते हैं। इसे स्वाध्याय कोटि में नहीं लिया जा सकता। 'अज्झयणमेव झाणं' कहते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष स्वाध्याय की इच्चसत्ता का आदर्श विद्यमान था। अध्ययन ही ध्यान है, यह असाधारण स्थापना है। ध्यान तन्मयता (आत्मस्वरूप में स्थिति) का वाचक है। उपन्यास पढ़ने से ध्यान या तन्मयता की प्राप्ति नहीं होती। उसमें जो तन्मयता का आरोप लोग करते हैं वह असिद्ध है; क्योंकि वहाँ केवल उपन्यासादि—पात्रनिष्ठ राग-तन्मयता तो है परन्तु आत्म तन्मयता नहीं। रागतन्मयता से पतन और आत्मतन्मयता से अभ्युत्थान होता है। सामान्य

लौकिक साहित्य पढ़नेवालों का मन उन-उन उपन्यासादि को अपने अन्तःकरण में स्थित राग सम्बन्ध से चुन कर पढ़ता है और अध्यात्मनिष्ठ स्वाध्यायी अपने मन को अवश्य पठनीय ज्ञान साधनभूत शास्त्रग्रन्थ पढ़ने को देता है। एक के अध्ययनीय साहित्य का निर्वाचन मन करता है और दूसरा अपने मन को विभाव परिणति से हटाने के लिए अध्यात्म-साहित्य की व्यवस्था करता है। यही मौलिक भेद स्वाध्याय और सामान्य पठन में है। आचार्य कुन्दकुन्द के मत में उच्च आत्मज्ञानपरक साहित्य के पठन को ही स्वाध्याय कहा है। संसार में जितने उच्च कोटि के वक्ता, विचारक, लेखक अथवा उपदेष्टा हुए हैं उनके सिरहाने पुस्तकों से बने हैं। सर्वतोमुखी ज्ञान के गुण-मय कपास को उन्होंने आँखों की तकली पर अटेरा है और उसके गुणमय गुच्छों से हृदयमन्दिर को कोषागार का रूप दिया है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करने वाले रात-दिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय में तन्मय रहते हैं। बड़े-बड़े अन्वेषक और दार्शनिक भूख-प्यास को भूल कर स्वाध्याय में लगे रहते हैं। स्वाध्याय से ज्ञान सूर्य के समान भास्वर होता है। उसके उन्मेष की किरणों से दशों दिशाएं उद्भासित हो उठती हैं। स्वामी रामतीर्थ को जापान में एक सभा में शून्य पर (० बिन्दु पर) व्याख्यान देना पड़ा। जब वे सभा में पहुँचे तो उन्हें हतप्रभ करने की भावना से संयोजक ने बोर्ड पर शून्य लिख दिया; किन्तु उस भारतीय सन्यासी ने अकिंचन लगने वाले उस शून्य विषय पर देर तक वह सारगर्भित भाषण दिया कि श्रोता उनके ज्ञान पर धन्य-धन्य कह उठे। ऐसा चमत्कार एक दिन में नहीं मिलता। इसकी कुंजी सतत् स्वाध्याय है। बहुज्ञ होना बहुत वर्षों की अर्जित स्वाध्याय सम्पत्ति का सूचक है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि जैसे कामी को स्त्री प्रिय लगती है, लोभी को पैसा प्रिय लगता है, वैसे मुझे भगवान के चरणों की भक्ति प्रिय लगे। सच्चे स्वाध्याय के लिए यही उक्ति घटित की जा सकती है। जिसे स्वाध्याय बिना क्षण भर चैन नहीं मिले वही उसकी मूल्यवान सम्पदा का अधिकारी हो सकता है। पुराने समय के लोग गरीबी में भी पढ़ लेते थे। इधर-उधर से सूखे घास को, तिनकों को, गोभुक्त शेष डंठलों को बीन कर, बटोरकर वे आग जला लेते थे और उसी के प्रकाश में पुस्तकों के सूत्र रट लेते थे। आज विद्युत् प्रदीपों के नीचे बैठ कर भी वैसी तन्मयता से पढ़ने वाले नहीं मिलते।

'स्वाध्यायान् मा प्रमद' यह भारतीयों को सिखाया जाने वाला प्रथम पाठ था। धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्नजल न लेने वाले आज भी विद्यमान हैं। स्वाध्याय कोई ऐच्छिक विषय नहीं था, वह दैनिक कर्मों में आवश्यक कार्य था। कुशाग्र बुद्धि लोग स्वाध्याय के ऋणी हैं। अज्ञानरूप गज पर स्वाध्याय अंकुश है। पवित्रता के पतन में प्रवेश पाने के लिए स्वाध्याय राजमार्ग है। स्वाध्याय न करने वाले अपनी योग्यता की डींग हाँकते हैं; किन्तु वास्तविक स्वाध्याय परायण उसे पवित्र गोपनीय निधि मान कर आत्मोत्थान के निमित्त उसका उपयोग करते हैं। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकराते रहते हैं। जब वे बोलते हैं

तो साक्षात् वाग्देवी उनके मुखमंच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के शुभाक्षरों का प्रतिबिम्ब उनकी आँखों पर लिखा रहता है। ज्ञान की निर्मल धारा से स्नात उनकी वाङ्माधुरी में पवित्र होने के लिए सारस्वत-प्रवाह नित्याभिलाषी होते हैं। महान् तत्त्वद्रष्टा, सफल राजनेता, अथवा उत्तम सन्त किसी स्वाध्याय विद्यालय के स्नातक ही हो सकते हैं। स्वाध्याय एकान्त का सखा है, सभास्थानों में सहायक है तथा विद्वत्समुदाय में उच्च स्थान प्रदान करने वाला है। बिन्दु-बिन्दु विचार-दोहन करते रहने वाला कालान्तर में पण्डित हो जाता है। शब्दों के अर्थ कोशों में नहीं, साहित्य की प्रयोगशालाओं में लिखे हैं। अनवरत स्वाध्याय करते रहने वाला शब्दों के सर्वतोमुख अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के लिए भी सत्साहित्य के निर्माण तथा स्वाध्यायशीलता की आवश्यकता है। बिना उत्तम साहित्य का स्वाध्याय किये नेतृत्व शक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। जैसे छिछले तालाब में हाथियों को अवगाहन देने की क्षमता नहीं होती वैसे अध्ययन-चिन्तन-पराङ्मुख व्यक्ति में विशाल उत्तरदायित्वों के निर्वहण की योग्यता नहीं होती।

यह मानव जीवन साहित्य से अपने इतिहास को महिमान्वित करता है और स्वाध्याय से अपने आपको विशिष्ट बनाता है। जो लोग ताड़ और खजूर के पेड़ों के तुल्य लम्बे-ऊंचे होने में ही अपने को धन्य समझते हैं वे ऊंचे आकाश की ऊंचाइयों तक उठ कर अकेले तपते हैं; किन्तु जो छाया और फलयुक्त महावृक्षों के समान अनेक जीवों के आश्रय-स्थान होते हैं, उनकी श्रान्ति-क्लान्ति को दूर करने में अपने शाखा-पल्लवों का उपयोग करते हैं वास्तव में उन्हीं का जीवन सफल है। नीतिकारों ने निरर्थक जीने वालों पर व्यंग्य करते हुए कहा है—'काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुंक्ते'-कौआ भी दीर्घकाल तक जीवित रहता है और बलि-भक्षण करता है। केवल बलि-भक्षण के लिए ही चिरजीविता का वरदान पाने वालों का जीवन न स्वकल्याणकारी हो पाता है और न परहित साधक। ऐसे अनुपयोगी जीवन से तो मृत्यु श्रेयस्कर है। लोहार की धौंकनी के समान कोयले फूंकने और राख उड़ाने के लिए श्वास लेते रहना क्या जीवन कहा जा सकता है? जीवन का विनाश अवश्यम्भावी है। जो दीपक जल रहा है वह कभी बुझेगा; किन्तु बुझने से पूर्व वह रात के राहियों को मार्गदर्शन कर सके तो उसके जलने की सार्थकता होगी। यों वह जला भी और किसी के उपयोग में नहीं आ सका, यह स्वयं उस विदग्ध के लिए शोचनीय स्थिति है। आकाश में एक-एक बादल जीवन लेकर आता है और सूखी-प्यासी पृथ्वी उसकी ओर याचनाभरी दृष्टि से देखती है। वह अपने-आप को निःशेष कर पृथ्वी के सूखे अंगण को हरा-भरा (उर्वर) कर जाता है। जीवन की यही सार्थकता है। मृत्यु-रोग-भय तीन चोर जीवन के पीछे लगे हैं। जो बेसुध होकर सोता है, वह लुट जाता है; किन्तु जो सावधान होकर अपने पल्ले के रत्नों की सम्भाल करता है, वह ठगाता नहीं। स्वाध्याय करते रहने से जीवन जीने की कला आती है। अन्यथा जीवन अजाने यात्री के समान देह-सराय में रह कर अवधि बीतने पर चला जाता है। इस यात्री का परिचय प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। अपने आध्यात्मिक गुरुओं के दिव्य संदेश को, नवनीत के समान जो स्वाध्याय की मथनी से मन्थन

कर चखता है, वह जीवन के वास्तविक परिचय को प्राप्त करता है। वही जीवन की अमरता के स्वाद को जान पाता है।

सुई जहा ससुत्ता ण णस्सदि सा पुणो वि णट्ठावि ।
एवं ससुत्तपुरिसो ण वि णस्सदि सो पमादेण ।।"

—आचार्य कुन्दकुन्द

(जैसे धागा से युक्त 'सुई' खो गयी हो—अर्थात् कचरे में कहीं गिर गई हो तो भी प्राप्त हो जाती है। उसी प्रकार सूत्र-आगम स्वाध्यायशील पुरुष अनन्त संसार के प्रमाद से नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो सकता अर्थात् संभल जाता है।) □

समाज, संस्कृति और सभ्यता

मनुष्य की शालीनता के तीन उपस्तम्भ हैं—समाज, संस्कृति और सभ्यता। समाज में वह पलता है, संस्कृति-क्षीर को पीकर पुष्ट होता है और सभ्यता के अश्व पर आरूढ़ होकर समय के राजमार्ग पर द्रुत गति से दौड़ लगाता है। समाज उसे सहस्रों वर्षों का संचित गौरवपूर्ण ऐतिह्य-उपायन् भेंट करता है, संस्कृति उसे आत्मधर्म का अंगराग लगाती है और सभ्यता की सुरभि से उसके मन:प्राणों को आप्यायन मिलता है। प्रत्येक उत्तम व्यक्ति अपने समाज के प्रति कृतज्ञ अथच विनयी होता है, अपनी संस्कृति का जागरूक प्रहरी होता है और सभ्यता का पालन करते हुए अपने सच्चारित्र-दुर्ग को रक्षा-प्राचीर लगाता है। उसकी गति में समाज-सत्ता की प्रभुत्वसम्पन्न शक्तियों की पदचाप उठती है, उसकी यति (स्थिरता में) संस्कृति के अनादिकाल से प्रक्रान्त स्वरूप की अविचल वज्रप्रतिमा दिव्य सौन्दर्य धारण कर मुसकिराती है और सभ्यता के समयसार सीमान्त इन्द्रधनुषी सतरंग से उसे रंजित करते हैं। सहस्रों शाखा-प्रशाखाओं से युक्त महान् न्यग्रोध के समान समाज उस व्यक्तिसत्ता के लिए आलवाल है, संस्कृति उसका धमनीप्रवाही क्षीर है और सभ्यता उसके पल्लव हैं। समाज व्यक्ति का शरीर है, संस्कृति शील और सभ्यता उसकी सामाजिकता के रथ पर फहराता केतुपटान्त है। प्रत्येक व्यक्ति पर ऋण है—समाज, संस्कृति और सभ्यता का। इन तीनों धात्रियों की क्रोड में मानवजीवन पलता है और व्यक्ति इनके निर्दोष दूध का ऋणी है। तन, मन और जीवन देकर इसकी सम्पन्नता को जीर्णत्व से बचाना प्रत्येक मानव का अविस्मरणीय कर्तव्य है। उत्सर्ग करे वह अपने-आपको, इन त्रिकों के संरक्षण के लिए और ऐसा जीवन जिये कि जीना धन्य बन जाए। संस्कृति और सभ्यता को उसके जीवन से नयी चेतना, नवजीवन मिले और सभ्यता के चूल पर रत्नकिरीट हिमनग की चोटियों-से दमकने लगे। सार्थक जीवन जीने वालों को यह हितोपदेश स्मरण रखना चाहिए कि यह संसार है और इसमें असंख्य जीव चतुर्गति में अपनी-अपनी कर्मधुरी पर घूम रहे हैं। अनेक जन्मते हैं और अनेक निधन प्राप्त होते हैं। महासमुद्रों के समान एक ओर सूर्य उनके जल को सहस्रों किरणों से पी रहा है और दूसरी ओर सहस्रों नदियाँ उसे भर रही हैं। समुद्र न तो रिक्त होता दिखायी देता है और न अधिक उच्चलित होता प्रतीत होता है। वैसे ही जनों के जन्म-मरण से संसार का यह विशाल सम्मर्द (भीड़) क्षीण-वृद्ध नहीं लगता। किसी के निधन से संसार के क्रम में कोई क्रान्ति नहीं आती; अत: जीवन का अज्ञात, सुषुप्तरूप में जीकर समाप्त हो जाना पुरुषार्थसम्पन्न मानव के लिए शोभास्पद नहीं। लता की शाखा पर मुसकुरानेवाला नया फूल यदि नया रूप और नयी गन्ध नहीं फैलाता तो उसके उत्पन्न होने और खिलने से क्या लाभ हुआ?

व्यक्ति उत्पन्न होकर, पढ़कर, बढ़कर यदि समाज, संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को उद्भासित नहीं कर सका तो उसको वंश में संख्या-पूरण मात्र नहीं कहेंगे तो क्या कहेंगे ? राजमार्गों पर अविच्छिन्न क्रम लगा है इन मातृगर्भ से विवश प्रसूत सद्योजातों का। जिनको चलना नहीं आता, बोलना, बैठना तो क्या चुप रहना भी नहीं आता। यदि जननी के यौवनहारी निर्विवेक प्राणधनियों को मानवसंज्ञा से विभूषित करें, पशुत्व से ऊपर मानें तो नीरक्षीर-विवेकी तुलाधार का सत्य मिथ्या की दुस्संगति से श्यामायमान हो उठेगा। आकाश में टिमटिमानेवाले कितने तारे हैं; उन मन्दातप ज्योति के अपत्यों को कौन जानता है? लोकाकाश के कोटर में असंख्य ऐसे तारे हैं जिनका आलोक पृथ्वी तक नहीं आता। ऐसे ही अल्पप्राण जीवन जीने वाले खद्योतसार मानव अपने समाज का क्या उपकार कर सकते हैं। शैशव में माता के लिए भार बने रहे, यौवन में उच्छृंखल वृत्तियों में जीवित रहकर पृथ्वी के, समाज के भार बने और काल के अतिथि हुए तो अपने हाथों में लोकजीवी पुरुषार्थों में से किसी एक के द्वारा लिखित प्रशस्तिपत्र भी नहीं ले गये। सौ वर्ष जीते रहे, परन्तु जीना नहीं आया और मरने चले तो मृत्यु को भी गौरव न दे सके। अर्कपुष्प-से आंधी के साथ उड़े और पानी बरसा कि मिट्टी में दब गये। कुश-कास के समान उन्हें किसी कुशल किसान ने बोया नहीं, यों ही मेघसम्पात की प्रथम सिहरन में निकल पड़े, निरुद्देश्य शिलीन्ध्र। ऐसे पुरुषार्थ-विमुख, अकर्मण्य, वृथाजीवियों को धिक्कार भेजने के लिए भी इतिहास में शब्द नहीं मिल पाते। इसीलिए बड़ी उपेक्षा के साथ नीतिकारों ने कहा—'मृतः को वा न जायते' कौन बड़ी बात है कि ऐसे प्राणी किंशुक के समान वृन्त पर फूले भी और टूट भी गये। उत्पन्न होना तो सार्थक उसका कहना चाहिए जिससे वंश उन्नति को प्राप्त हो। चन्द्रमा के उत्पन्न होने क्षारसमुद्र भी क्षीरसमुद्र कहलाने लगा। सीपी से समुत्पन्न मोती अपने पानी से आभा का उपमान बन गया। पृथिवी से कोयला निकला और सुवर्णादि धातुएं भी। धातुओं ने उसे 'रत्नगर्भा' नाम दिया। अपने कुल, जाति और समाज को उत्कर्ष अथवा अपकर्ष देने में कुलप्रसूतों का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। केवल जननीगर्भ-भारभूत बालिशों को देखकर मुंह से अनायास निकल पड़ता है—'मा स्म सीमन्तिनी काचिन् जनयेत् पुत्रमीदृशम्'—कोई मां ऐसे पुत्र को उत्पन्न न करे। अतः परम उज्ज्वल वंशहंस को कीर्ति के क्षीरसिन्धु में अवगाहन देने की सामर्थ्य रखने वाला मानव ही समाज का प्रिय, यशस्वी और तिलकायित बनता है।

समाज की रचना एक दिन में नहीं होती। 'रोम एक दिन में नहीं बना'—यह कहना सत्य है। एक बीज अंकुरित होता है, बढ़ता है और वर्षों में वृक्षरूप होकर फल तथा छाया-दान करने में समर्थ होता है। समाज और संस्कृति की रचना भी युगों में हो पाती है। कितने विद्वान्, मनीषी, आचार्य और मुनि अपने चिन्तन से सन्मार्ग खोजकर उसे अनुवर्तिनी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित करते हैं जिनके सात्विक तप का लाभ लेकर समाज चारित्रशील बनता है और सांस्कृतिक प्रगति कर पाता है। यही हेतु है कि समाज की

सर्वांगस्थिति का मूल्यांकन करते समय उसकी विराट् सभ्यता का स्मरण आवश्यक हो आता है। लम्बी-चौड़ी सड़कें, इमारतें और जनसंख्या का बाहुल्य मात्र समाज-जीवन की सुदृढ़ आधारभूमि नहीं है अपितु उसके लिए आवश्यक हैं विचारों के विशाल राजपथ, चिन्तन के ऊँचे मणिप्रासाद, संस्कारों के समशील चतुष्पथ और आत्मश्रद्धा के देवालय। जिन्हें देखकर उसकी भौतिक समृद्धि से ऊपर आत्मसम्पदा का आभास मिल सके। जिस समाज के पास प्रशस्त राजपथ तो हैं परन्तु उन पर विचरण करनेवाले अतिप्रशस्त नागरिक नहीं हैं, त्यागी, मुनि और ज्ञानचारित्र सम्पन्न उत्तम व्यक्ति नहीं हैं वह राजपथ पतझर से वीरान उपवनवीथि के समान है जिसमें सुरभि फैलाने वाले पुष्प नहीं हैं। वस्तुत: समाज की धन्यता इस बात में नहीं है कि वह धनिक है अपितु इस बात में है कि वह धनका उपार्जन तथा व्यय धन्य कहे जाने वाले मार्ग पर लगाता है। इसी प्रकार उसकी वास्तविक विशेषता इस बात में भी नहीं है कि उसमें प्रतिपक्षियों का उत्तरीय हरण करनेवाले विद्वान् दाडिमफल में बीजों के समान भरे हैं, अपितु, इस बात में है कि वे उस वैदुष्य का सन्मार्ग-दर्शन और सच्चारित्र के अनुपालन में उपयोग करते हैं। कोई खड्ग कितना चमकने-वाला है, यह उसकी विशेषता नहीं है, अपितु, वह कितने सत्पुरुषों की रक्षा में सक्षम है, यह उसका उपयोगगुण मानना चाहिए। 'वादाय वेदाध्ययनम्' करनेवालों से वे उत्तम हैं जो प्राप्त ज्ञान को आत्मचिन्तन में नियोजित करते हैं।

एक समान रीति, नीति, परम्परा और व्यवहार तथा संस्कृतिधारियों को 'समाज' कहा जाता था। 'सम् + अजति' समान रहकर, सुख-दु:ख में अविभाजित अनुभव करने-वालों का संगठन समाज कहलाता था। उसकी ऊपरी पहचान रोटी-बेटी व्यवहार से होती थी; किन्तु उसका आभ्यन्तर स्वरूप साधर्मी के प्रति सहज बन्धुता के संरक्षण से जाना जाता था। प्राचीनकाल में लोग अपने समानशील परिवारों के समूह में रहते थे और उनके सुख-दु:ख परस्पर बँटे हुए होते थे। आज नगरों की विशाल भीड़ में उस सामाजिकता के दर्शन नहीं होते। आज धनिक समाज अलग है और श्रमिक समाज अलग। न केवल प्रान्तीय, राष्ट्रीय स्तरों पर यह संगठन चल रहा है अपितु विश्वस्तर पर ये दो समाज बनते जा रहे हैं। इसमें वे लोग भी हैं जो जातीय धरातल पर एक कुटुम्ब होने से एक समाज हैं; किन्तु आर्थिक आधार पर हुए इस नवीन संगठन में दो विरुद्ध स्थिति रखनेवाले सहोदर भाई भी दो अलग-अलग समाज हो रहे हैं। रोटी-बेटी और जाति का आधार आज की समाजरचना में मुख्य से हटकर गुणीभूत (गौण) होता जा रहा है। यह नयी समाज-रचना विश्वव्यापक है। पुरानी समाजरचना का जो आधार था, वही इस नयी रचना का है; किन्तु क्योंकि पुरानी सामाजिकता में व्यक्तिवाद, अहंवाद और आत्मपोषणवाद मुख्य बनता चला गया इससे वास्तविक रूप से उसका आन्तरिक अभेद खण्डित हो गया। पहले सम्बन्धों की मधुरता नवीन अर्थयुग में कटुता बन गई। समाज का व्यक्ति समाज के हित में न सोचकर व्यक्तिगत हितों को सोचने लगा। वह सहृदय न रहकर मूलत: व्यापारी बन गया। उसके जाँचने-तौलने के सभी दृष्टिकोण आर्थिक बनते गये और आज व्यक्ति-व्यक्ति भिन्न परिस्थिति में जीकर पृथक्-पृथक् हो गया। आर्थिक विषमता, विशाल उद्योग,

बड़े नगर और विदेशी सत्ताधारियों के वैयक्तिक उन्मुक्त जीवन की चकाचौंध ने भारत के सरल, संयुक्तपरिवारजीवी जीवन को बदल दिया। इससे भाई-भाई में बन्धुता मिटती गई और व्यापारिकता बढ़ने के साथ वंचकता आती गई। विश्वास के दीर्घक्षेत्र छोटे होकर लुप्त हो गये। आज बड़े नगरों में एक मकान में रहनेवाले परस्पर दो पड़ौसी कमरों के प्रवासियों को नहीं जानते। दफ्तरों और कारखानों से उनका जीवन इतना बँध गया है कि वे 'व्यक्ति' से ऊपर 'समष्टि' को सोच भी नहीं सकते। उनके लाभ में और हानि में समाज को कोई लाभ-हानि नहीं। यों समूहात्मकता तो बढ़ गई है, पर सामाजिकत्व उच्छिन्न हो चला है। पूर्व समय में रोजी-रोटी के लिए मनुष्य इतनी दूर-दूर की नौकरियों में नहीं बँधा था। उसके लघु उद्योग उसे निर्वाह के लिए स्थानीय रूप से यथोचित देते थे और सामान्य जनों की प्रवृत्ति धन का सर्वग्रास करने की ओर नहीं थी। रोटी, कपड़ा और मकान की सुविधाएँ मिल गईं तो पर्याप्त था। लोग कठोर परिश्रम करते थे। परन्तु नयी शिक्षा ने, बढ़ती हुई महर्घता ने लोगों को गाँवों से उखाड़ दिया। उद्योग-धन्धे बड़े नगरों में स्थापित हो गये। सुदूर देहातों तक रेल-लाइनें बिछ गईं और यातायात निरापद हो गया। नगरों से आये हुए मजदूरों ने शेष ग्रामीणों के मन में आकर्षण, प्रलोभन उत्पन्न किया और परिणामस्वरूप गाँवों के छोटे उद्योग उपेक्षित हो गये तथा लोग शहरों में पहुँचने लगे। इस प्रकार मजदूर और उनके हिसाब-किताब के लिए बाबूवर्ग सीताफल में बीजों के समान नगरों में बस गये। पुरानी सामाजिकता का अन्त करने में यह श्रीगणेश था। संयुक्त-परिवार-प्रणाली का अन्त इससे अपने-आप होगया। नयी शिक्षा और नयी भौतिक सभ्यता ने सरल, ग्राम्यजीवियों पर जादू का असर किया और वे ऊपरी तड़क-भड़क में आवेष्टित होकर अपने धर्म, रुचि, संस्कार, नीति सभी को भूल गये। एक-दो पीढ़ी के पश्चात् वह परायी संस्कृति, परायी वेशभूषा निजी लगने लगी और आज तो उसके लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले भारत में बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। हिन्दी के राजभाषा प्रश्न पर दक्षिण भारत ने इसे सिद्ध कर दिया है। कहने का आशय यह है कि एक समय जिस समाजरचना द्वारा हम अपने आदर्शों का मार्ग पहचानते थे, धर्ममय जीवन व्यतीत करते थे, समान सुख-दुःखसहयोगी होते थे, वह मूलभूत समाज-रचना आज अदृश्य हो गई है। आज 'बीमा पॉलिसी' लेकर मनुष्य आश्वस्त हो सकता है। अपने कुटुम्ब पर भी भरोसा नहीं रहा। रोटी-बेटी का व्यवहार, जिसे समाजरचना की आधारशिला मानते थे, आज अन्तर्जातीय हो चला है। इससे प्राचीन सामाजिकता की सम्पूर्ण तेजस्विता नष्ट हो गई है। इस नयी क्रान्ति से लाभ कितने अंश में हुआ, इसे तो समय बताएगा, परन्तु हानियों का विवरण कम नहीं है। जातिविशेष में जो आचार था, चारित्र था, शुद्धि के नियम थे, रक्तशुद्धि को महत्त्व देने की प्रथा थी, उन सबको प्रगति की चक्की में पीसकर मिश्रचूर्ण (पाउडर) का रूप दे दिया गया है। जीवन अध्यात्म-धरातल से उतरकर इन्द्रियविलास तक सीमित हो चला है। आँधी में उड़ते पत्तों के समान लोग हवा में तैर रहे हैं। उड़कर कहाँ पहुँचेंगे, स्वयं को भी पता नहीं है। इस दिशाबोधहीन, निरुद्देश्य उड़ान में जो भाग ले रहे हैं उन्हें यह ज्ञात नहीं कि वे किसी गिरिशिखर पर उतरेंगे या खाड़ी में।

आधुनिक समाज का यह चित्र व्यक्तिवाद का निरूपण कहा जाना चाहिए; क्योंकि व्यक्ति पर आज समाजसत्ता का अंकुश प्रायः नहीं रहा है। आज का मानव समाज में रहकर भी समाज से, उसकी रीति-नीतियों से अप्रभावित है और अपनी इच्छा के अनुसार इसमें परिवर्तन भी करने लगा है। बड़े नगरों में आधुनिक वातावरण में रहनेवाले हिन्दू, जैन और अन्य सम्भ्रान्त कुलों में जन्मजयन्तियाँ मनाने की प्रथा चल पड़ी है। उसमें वे एक 'केक' काटकर जयन्ती का शुभारम्भ करते हैं। यह प्रथा अंग्रेजों में है और अपने को श्वेतजाति के समकक्ष समझने में अभिमानयुक्त माननेवालों ने सगर्व इसे अपना लिया है। अपने-अपने सम्प्रदाय में ऐसे वर्षप्रवेश दिन पर जो भगवत्पूजा, देवदर्शन, गुरुओं का आशीर्वाद तथा पवित्रता से रसोईघर में मिष्टान्नादि बनाकर भोजन करने की जो रीति थी, उसे निर्दोष तथा श्रेष्ठ होते हुए भी भुला दिया गया। इतना ही नहीं, उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। इसी प्रकार समाज के नियमाधीन 'विवाह-प्रक्रिया' को 'कोर्टशिप' में बदल दिया गया। जीवन में जो-जो भारतीय संस्कृति अथवा श्रमणपरम्परा के अनुसार 'आचारसंहिता' परम्परा से चली आ रही थी, उसे उसके महत्त्व को बिना जाने-माने अर्धचन्द्र देकर उसके स्थान पर नितान्त तुच्छ वृत्तियों को स्वीकारने में, समाजसत्ता पर पाँव रखनेवालों ने सम्मान समझा है। इस परिवर्तन में बाहरी परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसकी पृष्ठभूमि पर यहाँ थोड़ा अवसरोचित विचार कर लेना आवश्यक होगा।

किसी समाज की रचना उसके आन्तरिक आचारसंगठन पर निर्भर करती है। संस्कृति को उस समाज की 'आचार-संहिता' कह सकते हैं; क्योंकि बिना संस्कृति के समाजरचना की कल्पना नहीं की जा सकती। वह समाज को मार्गदर्शन करती है और अयुक्त स्वेच्छागामिता से रोकती है। साथ ही वह अपनी विशिष्ट सम्पत्तियों से उसे विभूषित करती है। कहना चाहिए कि संस्कृति समाज तथा व्यक्ति को सुधारती है, सँवारती है और उज्ज्वलता प्रदान करती है। आत्मधर्म का जागरण संस्कृति के पावन-प्रभात में होता है। युग-युग में जिन आदर्श, आचारवान् महापुरुषों ने गहन-गम्भीर ज्ञान सागर के मन्थन से जिन शाश्वत मूल्यवान् मणिरत्नों का आविर्भाव किया, उन्हीं से संस्कृति-कोष को समृद्धि मिली। वे सांस्कृतिक मणिरत्न समाज के आचार में, व्यवहार में इतने तद्रूप हो गये हैं कि उन्हें अलग से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह गई। कोकिल पक्षी वसन्तऋतु में बोले या ग्रीष्म में, उसके स्वरमाधुर्य में कोई अन्तर नहीं आता। ऐसे ही श्रमणसंस्कृति से सम्पन्न यह समाज विशेष प्रयत्न के बिना भी जो कार्य करता है, उसमें संस्कृति के मान सुरक्षित रहते हैं। जैसे किसी प्रामाणिक वक्ता का वचन बिना शंका के स्वीकार करने योग्य होता है, वैसे संस्कृति द्वारा परिचालित व्यक्ति अथवा समाज की नैतिकता अशंकनीय होती है। संस्कृतिनिष्ठ समाज अपनी अभ्यर्थनीय मर्यादाओं से हटकर सोचना भी पसन्द नहीं करता। संस्कृति उनका नैसर्गिक जीवन है, श्वासप्रश्वास है और सर्वस्व है। किसी एक वैदेशिक विद्वान् ने भारतीयों की नित्यव्यवहरणीय आचार-संहिता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—"मैं उदार भारतीयों के जीवनदर्शन की उन छोटी-

छोटी बातों से भी बहुत प्रभावित हूँ जिन्हें वे बिना किसी विशेष परिज्ञान के प्रयोग में लाते हैं। उनका शील, सौजन्य, शिष्टाचार, अतिथि के प्रति आदर-सम्मान के उच्चकोटि के व्यवहार कुछ इस प्रकार से उनके रक्तबिन्दुओं में घुलमिलकर एकीभूत हो गये हैं कि उन्हें उनके व्यक्तित्व से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यद्यपि किसी विशेष जागरूकता से वे ऐसा नहीं करते, किन्तु फिर भी उनके सामान्य स्वभाव में, अंगुलि में नाखूनों के तुल्य अभिन्न होकर वे रच-पच गये हैं।' सम्पर्क में आनेवाला उन स्वाभाविक विशेष गुणों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। हमारी प्राचीन संस्कृति के उदात्त स्तोत्रों को विदेशी पर्यटकों ने मुक्तकण्ठ से गाया है। स्तुति अथवा प्रशंसा सद्गुणों की की जाती है। जो अपने से विशिष्ट होता है, उसके लिए श्लोक अपने-आप बनते हैं। भारतीयों का आचारसंहिता से परिचालित संस्कृतिमय जीवन किसी काल में ऐसा ही रहा कि इतिहास के पत्रों पर उसे स्वर्णमषी से लिखकर अमर कर दिया गया है। संस्कृति की विशेषता क्या है? इस पर विचार करने से भारतीय तथा वैदेशिक विचारधारा का पार्थक्य स्वयम् स्पष्ट हो जाएगा। पश्चिम की संस्कृति भौतिकता-प्रधान है और भारतीय आत्म-(अध्यात्म) प्रधान। तन, मन और जीवन को उनके लौकिक विलास की चरम सुविधाएँ देना पश्चिमीय दृष्टिकोण है। तन से बलिष्ठ, मन से प्रफुल्ल एवं जीवन में स्वस्थ रहने के लिए पाश्चात्य जगत् जी-तोड़ श्रम कर रहा है। 'खाओ, पीओ और मौज करो' उनके जीवन के तीन सूत्र हैं। उनके दिन का आरम्भ 'बेड टी' से होता है और अवसान अर्धरात्रि तक क्लबों में मद्य, द्यूत, विलास, नृत्य करते हुए होता है। 'पुनः प्रभातं पुनरेव शर्वरी'—फिर रात और फिर दिन का आगमन, ऐसे ही फिर 'बेड टी' और फिर 'मद्य-क्लब' और उसकी थकान से टूटकर बिस्तरों पर गिरता हुआ तन। उनका जीवन अतिस्वीकारात्मक है। अपनी परिभाषा में इस स्वीकारात्मकता को वह प्रत्येक श्वास में भरपूर जियेगा; तथा स्वस्थ-सबल रहने के लिए आमिष और निरामिष पदार्थों को आग्रह से स्वीकार करेगा। संक्षेप में उनकी दिनचर्या अथवा जीवनप्रणाली भोगप्रधान है। श्रमणसंस्कृति लौकिक जीवन में अति को मर्यादित करती है। तन, मन और जीवन को स्वस्थ-सुन्दर रखने में इस भारतीय संस्कृति का विरोध नहीं है तथापि दृष्टिकोण में अन्तर है। तन को नीरोग, पुष्ट रखो, किन्तु अभक्ष्यभक्षण से नहीं; क्योंकि तन ही सर्वोपरि पोषणीय नहीं है। तन-मन और जीवन से ऊपर एक नित्य, अविनश्वर आत्मा है, उस आत्मोपयोग में तन, मन और जीवन को लगाना श्रेयस्कर है। 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' —मनुष्य वित्त से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसे यदि पृथ्वीभर का साम्राज्य दे दिया जाए तब भी वह तृप्त नहीं हो सकता। तन, मन, और जीवन भी वित्त हैं, सम्पदा हैं। इस सम्पदा से—परपदार्थ से किसी की तृप्ति नहीं हुई अतः इनका अधिक विस्तार हानिकर है। संसार में युद्ध, वैर, कलह; तन-मन और जीवन को अतिभोग सुलभ करने के लिए ही हैं। जिनके पास जितना है, उतने में वे सन्तुष्ट नहीं हैं। परिणामस्वरूप छीन-झपट और मायाचार चलता है। इसमें ही जीवन को पर्यवसित कर देना काक उड़ाते मणि फेंक देना है। यह भारतीय संस्कृति का सार है। अतः भारतीय व्यक्ति भोग भोगते हुए भी 'कदा शम्भो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः' का अन्तश्चिन्तन

करता रहता है। यहाँ भोगों की आन्तरिक निरूपणा में रोगों का दर्शन त्यागियों ने किया है। 'भोगे रोगभयं'—यह उनका निष्कर्ष है। जिन क्रियाओं से परिग्रह बढ़े, कर्म-मल आत्मा को विकृत करें, उनका निर्मूलन इस संस्कृति का उद्देश्य है। इससे परलोक-प्राप्ति तथा मोक्ष तो मिलता ही है, यहाँ लोक में भी विषमता नहीं आती। आज लोग 'साम्यवाद' का उद्घोष करने लगे हैं। पूंजीपतियों की श्वासें फूल रही हैं। छिपा धन धनिकों और सरकार के लिए 'सिरदर्द' बन गया है; परन्तु श्रमणों की परम्परा में तो यह पहले से ही विद्यमान है। 'अपरिग्रह' उनका व्रत है। दिगम्बर मुनि तो साम्यवाद से भी ऊपर उठे हुए हैं। वे समाज के धर्मगुरु हैं, आदर्श हैं और आदर्श यह कि सारी सम्पदाओं को छोड़कर मुनिवेष धारण करो। यह वैभवविलास स्वप्न है, गन्धर्वनगर है, बिजली की मुसकान है। इसे शाश्वत न समझो। परपदार्थ से रति न कर आत्मध्यान में लीन रहो इत्यादि। जिस समाज के आदर्शों की यह स्थापना हो, उस संस्कृति में हिंसा, वैर, कलह और अनाक्रमण-सन्धियों की चर्चा भी नहीं हो सकती। वहाँ सारी मनुष्य जाति एक है और सब जीव जीएँ तथा जीने दें। परस्पर क्षमाभाव से संसार में रहें। कषायों को मन्द करते जाएँ और वात्सल्यभाव से विश्वमैत्री के लिए आगे बढ़ें। टैंक, तोप, वायुयानों की विनाशक उड़ान ऐसी अहिंसक संस्कृति में जन्म नहीं सकती। यह भावना भारतीय संस्कृति की देन है। इसमें कर्मों को रिपु कहा गया है और इनके विनाश के लिए प्रबल पुरुषार्थ को आवश्यक माना है। स्पष्ट है कि 'खाओ-पीओ और मौज करो' से यह विचारधारा सर्वथा भिन्न है। इसमें तो उपवास, व्रत, संयम तथा त्याग को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। अविनाशी आत्मा के समीप होने को श्रेष्ठ कहा है। यहाँ का ध्येय और भौतिक संस्कृति का ध्येय सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ जीवन्मुक्तों का निर्माण होता है और भौतिकवादी विचारधारा में 'बन्धन' का। उनका जीवन तृष्णाओं से परिचालित होता है और आत्मजगत् में जीनेवाले भूतजगत् को अपनी स्थितप्रज्ञता के तीक्ष्ण अंकुश के नीचे रखते हैं। यदि भौतिकवादी स्वस्थ रहने के लिए भक्ष्याभक्ष्य, खाद्य-अखाद्य को ग्रहण करते समय दैहिक पुष्टि को दृष्टिपथ में रखता है तो आत्मसंस्कृतिजीवी उसमें हिंसा, दोष, पातक, अतिचार आदि को बचाकर ग्रहणबुद्धि रखता है। यदि मद्य, मधु, माँस खाने से उसे शत वर्ष जीने का विश्वास हो तो भी वह इन्हें ग्रहण नहीं करेगा। शरीर के लिए आत्मपरिणाम को कदर्थित करना श्रमणसंस्कृति के पालक के लिए कदापि स्वीकरणीय नहीं। उसकी अविचल मान्यता है कि मनुष्य यदि मद्य-माँस से पुष्ट होकर इस जीवन में अपने को नीरोग, सबल मानने का अभिमान करेगा तो उसे भवान्तर में नानाक्लेशदारुण अधम योनियों में पचना पड़ेगा। पापानुबन्ध से होनेवाली उन परिणतियों का स्मरण भी भयावह है। इसलिए 'राग' को जीतना श्रमण-परम्परा का प्रथम लक्ष्य है। विश्व में घटित होनेवाले समस्त दुष्कर्म, राजनीतिक प्रपंच-घटनाएँ, एक दूसरे को नष्ट करने की शतरंजी चाल एवं युद्धोन्माद आदि के मूल में राग की अतिशयता ही हेतु है। आज इन दुर्घट दुर्योगों की उपस्थिति अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है कि सरल सात्त्विक आर्यसंस्कृति पर असुरसंस्कृति का आक्रमण हो रहा है। आश्चर्य तो इस बात का है कि सीमा पर होनेवाले आक्रमणों का समाचार तुरन्त मिल जाता है और

छोटी-से-छोटी आक्रमणात्मक कार्यवाही का विज्ञापन करने में समाचारपत्र [illegible] रहते हैं, किन्तु सीमाओं में रहनेवाले भारतीयों के मन:प्राण पर अनदार्य भौतिक संस्कृति ने कितना कुप्रभाव डाला है इस ओर किसी का अवधान नहीं है। बाजारों में बिकनेवाले प्लास्टिक अथवा रबर के 'बबुआ' के समान आज के संस्कृति से हटते हुए मानव की दशा है। कोई उन्हें उठाकर दबाता है तो वे धन्य होकर आवाज करने लगते हैं। वास्तव में जो अन्तःसार से शून्य होते हैं उनकी यही दुरवस्था होती है। मानवजीवन का श्रेष्ठ वरदान तो उसकी उदात्त संस्कृति ही है। संस्कृति के बिना वह अपना परिचय, नाम-गोत्र भी नहीं बता सकता। किसी का नाम 'महावीरप्रसाद जैन' है तो यह नाम ही उसकी संस्कृति की कीर्तिमाला को अम्लान पारिजातफूलों की माला बता रहा है। 'महावीर' उसकी सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रकृति का द्योतक है तो 'प्रसाद' उस कुल की भगवान् के प्रति भक्ति का निर्देशक। आज की बाहरी चकाचौंध में फँसकर यदि 'महावीरप्रसाद' ने भक्ष्या-भक्ष्य का विचार भुला दिया है तो उसका निदान यही है कि उस पर परायी संस्कृति की छाप तो पड़ी है, परन्तु अपनी संस्कृति का ज्ञान नहीं मिला। उसकी दशा उस व्यक्ति के समान है जिसके पूर्वजों के पास बहुमूल्य हीरों के खजाने थे किन्तु उसको केवल पड़ौसियों के द्वार पर जड़े हुए काँच के टुकड़ों को देखकर उन्हें अपनाने का लोभ हुआ। अपनी उच्च श्रमण संस्कृति के अनुयायियों को तो इस बात का सात्विक गर्व होना चाहिए कि उस निधि में जो रत्न हैं वैसे विश्व में अन्यत्र ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेंगे। केवल पंच महाव्रतों (अथवा अणुव्रतों) एवं दश धर्मलक्षणों की पूरी व्याख्या की जाए तो विश्वभर में मानव को सर्वोच्च मानवता की उपलब्धियाँ उनमें मिल जाएँगी। ऐसी इस संस्कृति की पूरी अवगाहना के लिए शब्द मिलने कठिन हैं। देवपूजन, गुरुउपासना, अतिथिसत्कार, व्यसनों का त्याग, सत्यपालन, ऋजुवृत्ति, अहिंसक आचरण, वैर-कलह का त्याग, क्षमापर्व तथा नितान्त भौतिक वातावरण को अपने ऊपर आच्छादित न होने देना इत्यादि कितने ऐसे सद्गुण-समूह हैं जो केवल श्रावकों के धारणीय मात्र नहीं हैं अपितु मानवजाति के परम मित्र हैं। ऐसी सर्वगुणसम्पन्न संस्कृति का उपासक किसी हीनगुण इतर संस्कृति का अनुगामी नहीं हो सकता।

संस्कृति ने न केवल मानव के लौकिक तथा आत्मजीवन को प्रभावित किया है, अपितु शिल्प, कला, स्थापत्य एवं जातियों के शील उसकी असीमित रेखाओं में समाये हुए हैं। श्रवणबेलगोला की भगवान् बाहुबली की मूर्ति को देखकर, अजन्ता-एलोरा गुफाओं में उत्कीर्ण संगतराशों की शैली एवं अद्भुत शिल्पकौशल, असीम धैर्य को हृदयस्थ कर, मोहनजोदरो और हड़प्पा में उत्खनन से उपलब्ध वस्तुओं का पुरातात्त्विक अध्ययन कर उनकी संस्कृति को पहचानने में हम भूल नहीं कर सकते। मन्दिरों के कलश तथा मस्जिदों की मीनारें संस्कृतिभिन्नता को दूर से ही सूचित कर देती हैं। कहीं-कहीं संस्कृतियों के संगम के भी मधुर चित्र देखने को मिलते हैं। पुरातत्त्व के विद्वान् अनुसन्धाताओं ने उत्खनन में प्राप्त अवशेषों से उनकी निर्माणतिथियों को ज्ञात किया है। पर्वतों, गुफाओं और स्तम्भों पर प्राप्त शिलालेखों, उत्कीर्ण लेखांजलियों से संस्कृति के इतिहास को जाना जा सकता है।

यह पूर्वोक्त आलोच्य-सामग्री पुकार-पुकार कर हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करती है जिसके कण-कण में कुलगौरव छिपा हुआ है। संस्कृति संस्कारों के पुंज का [illegible] है। यह स्वस्तिक का चतुर्मुख थापा है जो चतुर्मुख गति का संकेत करता है। संस्कृति आरण्यक मुनियों की शान्त जीवनचर्या है। यह जैनेन्द्र-मुद्रांकित साधुमहाराजों की पुनीत गाथा है। अधिक लिखने से क्या? 'संस्कृति' इस एक शब्द में धर्म, इतिहास, तथा ज्ञान-विज्ञान के लक्षाधिक पृष्ठों का लेखन परिसमाप्त हो जाता है। यह शब्द समाज के नैतिक आदर्शों की परिभाषा में लिखे गये सभी शब्दार्थों का आलम्बन कल्पतरु है। जो व्यक्ति सुसंस्कृत है, संस्कृतिसम्पन्न है, वह अपनी विश्वसनीयता के लिए स्वयं प्रमाण-पत्र है। संस्कृति का मायाचाररहित सेवक ही उदार, शिष्ट, धार्मिक और चारित्रसम्पन्न हो सकता है। संस्कृति से पतित व्यक्ति उत्तम क्षमा, दम, शौच, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि उदार वृत्तियों का पालन नहीं कर सकता। जिस प्रकार करीरवृक्ष को पत्ते नहीं निकलते वैसे संस्कृतिविरहित मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वबोध नहीं होता। भुने हुए बीज जैसे खेती के योग्य नहीं होते वैसे भ्रष्टाचारी व्यक्ति समाज के लिए अनुकरणीय नहीं हो सकते। संस्कृतिपरिचालित चारित्र ही समाज का मानबिन्दु है, दिग्-दर्शन है। संस्कृति समाज की निर्माणशाला है। चारित्र महाविद्यालय है। संस्कृति अपने स्तन्य से समाजशिशु को उज्ज्वल स्तन्य पिलाती है। संस्कृतिविहीन को कटे हुए पतंग के तुल्य समझना होगा जो कहाँ गिरेगा, स्वयं को भी पता नहीं।

संस्कृति आचारशास्त्र है, संस्कृति व्यवहारमार्ग है, संस्कृति पापविमोचन सूक्त है, संस्कृति भगवान् महावीर की प्रतिमा है, संस्कृति पवित्रता का नामान्तर है। आत्मजीवन साधने की प्रक्रिया संस्कृति से प्राप्त होती है। यह संसार का सर्वोत्तम द्रव्यकोष है, सभ्यता का प्रशंसापत्र है। सच्चा संस्कृतिभक्त अपने विरोधियों को भी परास्त करने में किस सीमा तक समर्थ हो सकता है इसके लिए सिकन्दर और एक भारतीय दिगम्बर मुनि की ऐतिहासिक घटना का उल्लेख युक्तिसंगत होगा। विश्वविजय का संकल्प रखनेवाले सिकन्दर ने जब भारत के पंजाब प्रान्त पर विजय प्राप्त की तो उस समय उसने एक वीतराग दिगम्बर मुनि की प्रशंसा सुनी। उसने अपने शाही स्वभाव के अनुसार एक उच्च पदाधिकारी को मुनि महाराज को बुलाने के लिए भेजा। वीतराग तपस्वी ने सिकन्दर के सेवक को यों ही लौटा दिया। अन्ततोगत्वा स्वयं सिकन्दर मुनिराज के चरणों में उपस्थित हुआ और उसने उन साधुशिरोमणि के चरणसान्निध्य में क्षणकाल बैठकर उस भव्यता के दर्शन किये जो उसकी हत्या, लूट-पाट और देशविजय से कहीं ऊँची तथा पवित्र थी। सत्य है, संस्कृति के विरद-पुत्रों की पदविभूति से ऊँची कोई पीठ नहीं।

संस्कृति आत्मिक सौन्दर्य की जननी है। इसीके अनुशासन में सुसंस्कारसम्पन्न मानव-जाति का निर्माण होता है। सभ्यता और संस्कृति में बहिरंग और अन्तरंग धर्म का अन्तर है। समाज की परस्पर शिष्टतानुबन्धिनी चर्या सभ्यता है और धर्मशासन से अणुमात्र विचलित न होकर युग-युग में एकरूप आचार-संहिता संस्कृति है। मनुष्य धोती-कुर्ता पहनकर कोटपैण्ट धारणकर संस्कृतिमान् रह सकता है; किन्तु अभक्ष्य भक्षण कर मन्दिर

में भगवान् की प्रतिमा के सामने स्तुतिस्तोत्र पढ़कर भी संस्कृतिपरायण नहीं गिना जा सकता; क्योंकि अभक्ष्यभक्षण आचार-धर्म का उल्लंघन है और आचारपालन ही संस्कृति है। इसीलिए आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा कि—जैनों को लौकिकविधियों के स्वीकार करने में वहाँ तक कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए जहाँतक उनके सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रतों में दूषण उत्पन्न न हों। मूल उद्देश्य व्रतों की रक्षा है। प्राणत्याग का अवसर आने पर भी व्रतों का भंजन नहीं करना चाहिए। सुदूर रेगिस्तानों की यात्रा करते हुए अरब लोग पानी के लिए अपने ऊँटों का पेट चीरकर पानी पीते सुने हैं; क्योंकि उनके जीवन में प्राण-रक्षा मुख्य है किन्तु एक व्रती ऐसी परिस्थिति में प्राणत्याग कर सकता है, अपेय नहीं पीता। एक को प्राण और दूसरे को व्रत प्रिय है।

आज आहार, पान, विहार सभी में दोष आ गये हैं। होटलों में बिना किसी सोच-विचार के सभी वर्ग के लोग खाने-पीने लगे हैं। स्पृश्यास्पृश्य और खाद्याखाद्य का विवेक भुला दिया गया है। एक व्रती का तो नियम होना चाहिए वह ऐसी परिस्थिति में, जबकि उसे पवित्र चौके के भोजन की व्यवस्था न हो, फल, मेवा और दूध (यदि शुद्धता से मिल सके) खाकर रहे। परन्तु आज ऐसी पंक्तियाँ लिखनेवाले को दो शताब्दी पिछड़ा हुआ बताएँगे। तथापि सत्यवक्ता को निर्भीक होकर उन विकृतियों का डाक्टर के समान ऑपरेशन कर देना चाहिए जिनसे भय है। यह उनका उत्तरदायित्व है। कठोर पर्वतों से ही नदी की धाराएँ निकलती हैं जिनसे जगत् को जीवन मिलता है। गुरु और औषधि कड़वे होने से अधिक लाभप्रद होते हैं।

'सभ्य' शब्द की व्याकरणसंगत परिभाषा के अनुसार सभ्य वे हैं जो सभा में मान्य समझे जाते हैं। यह अर्थगौरव सभ्य को शिष्ट भी मानता है। हमारे यहाँ सभ्य, शिष्ट, साधु, भद्रजन सामान्यतः समानार्थी हैं। अतः संस्कृतिसेवक ही यहाँ सभ्य कहा जाएगा। वेशभूषा से ही काम नहीं चलेगा। सच्चा सभ्य व्यक्ति सभी का अविरोधी होने में अपना वैशिष्ट्य समझेगा। सभ्य होने के लिए सुसंस्कृत होना अत्यन्त आवश्यक है। मार्ग चलते थूकना, केले इत्यादि फलों के छिलकों को लापरवाही से मार्ग में फेंक देना, कुशलता के नाम पर मिथ्याभाषण करना, अपने से दूसरों को तुच्छ समझना, सामूहिक स्थान पर धूम्रपान करना, मादक पदार्थ का सेवन कर दुर्भाषण करना—ये ऐसी बातें हैं जो आधुनिक पढ़े-लिखों में भी मिलेंगी। धर्मशाला आदि धार्मिक अथवा सार्वजनिक स्थानों की सफाई का ध्यान न रख कर उनके फर्श को, दीवार को, सीढ़ियों को प्रायः लोग गन्दा कर देते हैं। ऐसा करते समय आत्मीयता का अभाव ही उन्हें प्रेरित करता होगा; क्योंकि अधिकतर उन्हें अपने घरों में इस तरह मलिनता फैलाने की छूट नहीं होती। इसलिए सभ्य वेश धारण करने और सभ्यता निभाने में अन्तर है। वास्तविक सभ्य तो चन्दनद्रुम है जिसका सौरभ समीप के वृक्षों को भी स्वसदृश बना लेता है। किसी ने ठीक कहा है कि पवित्र व्यक्ति एक फुलवारी के समान होता है जिसकी सुगन्धि पासवालों के पास उड़ कर पहुँचती है। चन्द्रमा और सज्जन को देख कर आह्लाद होता है। प्राणों में आनन्द के प्रवाह उतरते चले जाते हैं। ऐसी संस्कृति से

सभ्यता का निर्माण होता है । यदि संस्कृति दोषयुक्त है तो उसमें उत्तम व्यक्तित्व उत्पन्न नहीं हो सकते । जिस कोटि के तन्तु होंगे, उसी कोटि का वस्त्र बुना जाएगा । वज्रलेप से चिक्कण किये हुए पत्थर पर सुन्दर चित्रांकन हो सकता है । किसी खुरदरी दीवार पर उत्तम चित्र लिखे जाने की कल्पना हास्यास्पद है । कपास की शाखाओं पर गुलाब के फूल कब खिले हैं ?

उत्तम संस्कृति से सम्पन्न यह भारतवर्ष विश्व का मार्गदर्शयिता था । सम्यक् चारित्र के पाठ यहाँ से सीखे जाते थे । विदेशों में यहाँ की आध्यात्मिक विभूति की चर्चा थी । यह देश महात्माओं, गुरुओं, मुमुक्षुओं, विशिष्ट महात्माओं का आस्थान गिना जाता था; किन्तु आज इस देश के लोग नकल उतारने में प्रवीण हो गये हैं । भारतीय अध्यात्मदर्शन की बातें वे यूरोपीय तर्ज में कर सकते हैं और किसी भारतीय संत को तब तक महत्त्व नहीं देंगे, जब तक उसकी प्रशंसा विदेशों से प्रमाणित न हो जाए । राजेन्द्रप्रसाद अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के समान थे, गांधी ईसा जैसे थे—इत्यादि कह कर वे अपने देश की विभूतियों की आदर्श ऊंचाई को विदेशियों से जब तक सन्तुलित नहीं कर लेंगे, मानेंगे नहीं । विश्व के जन जिनका अनुकरण करते थे, वे आज विश्वजनों का अनुकरण करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं । अग्रगामी को अनुगामी होना प्रिय लगने लगा है । जिसके आचरणों से आदर्श व्याख्याओं का निर्माण होता था, वे दूसरों के आचरणों से निजी आदर्शों के ध्वजों का उत्तोलन करने लगे हैं । आत्मविस्मृत जनों की प्रायः यही दुरवस्था होती है । भीतर से थोथे नगारे को कोई चोट मारे तो वह पुलकित होकर बजने लगता है । शंख को कोई भी उठा कर फूंक मार देता है । आज भारतीय भी अनुकरणवाद के आखेट हो गये हैं । यह परच्छन्दानुवर्तिता प्रशंसा के योग्य नहीं अपितु शोचनीय है । अपने सांस्कृतिक स्वाभिमान की हत्या है । जो रत्न की श्रेष्ठता एवं मूल्यवत्ता को न जान कर कांच के लिए आग्रह करे, कस्तूरिका को छोड़ कर पंक के लिए पाणि पसारे—उसकी शंकनीय बुद्धि पर किसे खेद नहीं होगा ।

भारतीय श्रमण संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के प्रति असीम आस्था ही वर्तमान विश्व को संकट से परित्राण दिला सकती है । मानवजगत् में 'मत्स्यन्याय' की प्रवृत्ति इसी से निवारित हो सकती है । यह देन उन विश्ववन्द्य वीतराग तीर्थंकरों की है, जिन्होंने मनुष्य मात्र के कल्याण का मार्गदर्शन किया । जो क्षेत्रीय, जातीय, प्रान्तीय अथच राष्ट्रीय रागों से ऊपर होकर मनुष्य के लिए सोचते थे । जिनकी चरणच्छाया में बैठने वाले आचार्यों ने 'क्षेमं सर्वप्रजानां' लिखा, न कि किसी एक जाति विशेष को लक्ष्य करके हितोपदेश दिया । 'जैन' शब्द जातिपरक नहीं है अपितु धर्मपरक है । जो भगवान् वीतराग 'जिन' का भक्त है वही 'जैन' है । मानव जाति अहिंसा से सदा प्रेम करती आई है । युद्ध और हिंसा—उसे कभी अच्छे नहीं लगे । मैं तो कहता हूँ कि सीमा पर सैनिक सशस्त्र पंक्ति बांधे खड़े हैं वे भी हिंसा के लिए नहीं, हिंसा के निरोध के लिए उपस्थित हैं । जो लोग आक्रमण कर राष्ट्र के धर्म, संस्कृति, सतीत्व, मन्दिर, कृषि, बाल-स्त्री-वृद्ध जनों

को विनष्ट करना चाहते हैं, उनको रोकने के लिए जो खड़े हैं, वे तो बलिदान देने के लिए और उक्त समूहों की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध हैं। इस प्रकार सैनिक पर भी अहिंसक दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। वहाँ यह कहना युक्तिसंगत होगा कि मानव-मात्र का उत्तम धर्म अहिंसा है। अहिंसा से ही वह परस्पर में विचारों तथा व्यवहारों का आदान-प्रदान करता हुआ जीवित है। इस प्रकार अहिंसा विश्वधर्म है, विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृति है। जहाँ कीट-पतंग पर भी क्षमाभाव है, उस संस्कृति से उत्तम क्या हो सकता है ?

अतः विश्व में उच्च गुणयुक्त प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उत्तम संस्कृति को उज्जीवित रखना, मानवमात्र के लिए हितकर है। एक शीतल जलाशय सहस्रों जनों को ठण्डा पानी देगा, एक घनच्छायावान् वृक्ष शीतल छाया देकर धूप से रक्षा करेगा और एक सद्धर्म प्राणिमात्र को निराकुल, धर्ममय, आत्ममार्ग बता कर उसके दोनों लोकों की यात्रा को पुण्यफलों से आपूर्ण कर देगा।

एक संस्कृतिमान् व्यक्ति अपने नित्य स्वाध्याय से संसार की वास्तविकता को जान कर उसके प्रति विशेष दृष्टि रखता है और सुखों में फूलता नहीं, दुःखों में विचलित नहीं होता—समभाव से आंधी-वर्षा को सहन करता है। वह अपने कर्मपरिणाम से हुए सुखो-दुःखों को जान कर कषायों को मन्द करता जाता है तथा स्थितप्रज्ञ होता है। अज्ञानी बालक जैसे मिट्टी के खिलौने के टूट जाने पर रोने लगता है तथा पानी में चन्द्रबिम्ब देख कर प्रसन्न हो किलकारी मारने लगता है वैसे ज्ञानवान् 'न मुह्यति न हृष्यति'—न दुःखाकुल होता है और न अत्यन्त सुखी होकर नाचने लगता है। ज्ञान और वैराग्य के दो कूलों में घेर कर जीवन-नदी को मोक्ष-समुद्र तक पहुँचाने में प्रयत्नशील रहता है। उसके निर्मल जल में संस्कृति के कमल खिलते हैं। उनसे स्पर्श कर जो पवन गुजरता है, वह शीतलता से भर जाता है। उसके तटों पर जो बीज गिरते हैं उनके छायादार वृक्ष बनते हैं और उसके पास प्यास लिये जो अंजलि बढ़ाता है, उसे अमृत पीने को मिलता है। □

धर्मयोग

'योग' शब्द भारतीय दर्शनशास्त्र में बहुचर्चित तथा [illegible] है। गणितशास्त्र में योग का अर्थ है जोड़। एक और एक का योगफल दो होता है—यह उसका व्यवहारार्थ है। योगशास्त्र में आत्मा का आत्मा से मिलन योग कहा जाता है। 'युजिर् योगे' इस धातु से यह शब्द निष्पन्न है। कर्मपरिणाम से कषायों में बद्ध आत्मा परद्रव्यों में आसक्ति करता है और आत्मस्वरूप का ज्ञान भुला बैठता है। द्रव्यमन इस परपदार्थरति का माध्यम बनता है। इस पर-रति का परिणाम आनुषंगिक बन्ध है। जिन्हें कर्मक्षपण की इच्छा होती है वे आत्मस्वरूप में मग्न होने के लिए योगसाधन करते हैं। सांसारिक द्रव्यमात्र से जो योग है, वह संयोग तथा उसकी समाप्ति वियोग कही जाती है। संयोग और वियोग दोनों में क्षणिक हर्ष तथा शोक की स्थिति बनी रहती है। किसी नीतिकार का कहना है कि 'संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' संसार के सभी संयोगों का अन्त वियोग है और सभी वैभवों का पर्यवसान पतन है। जो मनुष्य जितने स्नेह-प्रेम-बन्धन में फँसता है उतना उसे सन्तप्त होना पड़ता है *। अतः संयोग-वियोग से परे शाश्वत सुख की प्राप्तिहेतु ज्ञानी मुनि-महात्मा योगसाधन कर आत्मकल्याण के पथ को गाहते हैं। योग का एक अर्थ चित्तवृत्तियों का निरोध है। चित्त सदा चंचल रहता है। उसे क्षेत्र चाहिए वह चाहे भौतिक हो या आत्मिक। भौतिक क्षेत्रों में तो मन लगाया हुआ है ही—सारा संसार इसी द्रव्यमन के भौतिकपरिग्रह से जकड़ा हुआ है। हाँ! आवश्यकता है इसे आत्मोन्मुख करने की। यह आत्मोन्मुख करने की प्रक्रिया ही योग है। जो योगसाधन करते हैं उन्हें आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। 'सामायिक' योग का नामान्तर है। योगस्थिति के बिना आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। योग के समय इन्द्रियवृत्तियाँ बहिर्व्यापार से रहित हो जाती हैं और जैसे कोई अपने अनेक कपाटोंवाले भवन को अन्दर से बन्दकर अत्यन्त भीतरी कक्ष में प्रवेश करता है, वैसे भावात्मक मन [illegible] आत्म-प्रदेशों में लौट पड़ता है। वहाँ पहुँचकर वह स्थिर हो जाता है। जैसे वायुरहित प्रदेश में दीपक की लौ अकम्प हो जाती है वैसे वह आत्मस्थिति होती है जिसे योगयुक्त कहते हैं। इस योग से आत्मरूप में स्थिति और [illegible]-विरति की प्राप्ति होती है। अनन्तानुबन्धी कायक्लेश नष्ट हो जाते हैं। शाश्वत आरोग्य-प्राप्ति के द्वार खुल जाते हैं। योग से आत्मा की अनन्त शक्ति प्रकट होती है। गणित में भी योग का अर्थ वृद्धि है तथा ऋण न्यूनता को कहा गया है। जो संसार के संयोग-वियोग में लगा हुआ है, वह ऋणभोक्ता है और

---

* 'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोक-शंकवः ॥'

ऋणी के समान दुःखाकुल है किन्तु जिसने विशुद्ध योग-मार्ग को जान लिया है वह अनन्तानुबन्धी कर्मों का क्षय करता है। प्रस्तुत विषय 'वर्षायोग' भी मुनिचर्या का एक योगपूर्ण अंग है। वर्षाऋतु में इसे धारण करने से यह वर्षायोग कहा जाता है। व्यवहार में, इस समय मुनि चातुर्मास करते हैं और किसी श्रावकबस्ती में चार माह व्यतीत करते हैं। शास्त्र के अनुसार यह समय आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की पूर्व-रात्रि से आरम्भ होकर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि तक माना गया है।

ग्रीष्म, वर्षा और शीत—ये तीन वर्ष की मुख्य ऋतुएँ हैं। बसन्त, शरद् तथा हेमन्त ऋतुएँ इतनी उग्र (तीक्ष्ण) नहीं होतीं कि उनकी असोढव्यता की प्रतीति हो। मुनियों के तप की चर्चा करते हुए कवि भूधरदास ने कहा है कि त्यागी दश-लक्षण धर्म को धारण करते हैं और बारह अनुप्रेक्षाओं को भाते हैं। वे बाईस परीषहों को सहन करते हैं तथा चारित्ररत्न के भण्डार होते हैं। इसी वर्णन के आगे उन्होंने लिखा है—

'जेठ तपे रवि आकरो, सूखे सरवर नीर।
शैलशिखर मुनि तप तपे, दाहे नगन शरीर।।'
'पावस रैन डरावनी, बरसे जलधर-धार।
तरुतल निवसे तब यती, बाजे झंझावार।।'
'शीत पड़ै, कपि मद गले, दाझै सब वनराय।
ताल तरंगिनी के तटे, ठाडे ध्यान लगाय।।'
'इह विधि दुर्धर तप तपें, तीनों काल मँझार।
लागे सहज सरूप में, तनसों ममत निवार।।'

इस प्रकार ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुओं के कठिन परीषहों को सहन करते हुए मुनि तन से ममता का परित्याग कर देते हैं। वर्षाऋतु में मूसलधार बरसते बारिदों का परीषह मात्र सहन करना नहीं होता अपितु उसमें विहार को स्थगित करना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि नदियों में बाढ़ आ जाती है, मार्ग रुद्ध हो जाते हैं, असंख्य सूक्ष्म-स्थूल कृमि-कीट उत्पन्न होने लगते हैं। पृथ्वी हरी घास से ढंक जाती है और चींटियाँ अण्डों को मुँह में दबाए बिलों से बाहर निकल आती हैं। यह समय एक सम्यग्दृष्टि एवं सम्यक्चारित्रधारी मुनि के लिए विहार की सुविधा नहीं देता। प्रकृति की इन बाधाओं के अतिरिक्त चातुर्मास में अनेक दिन और पूरा भाद्रपद मास पवित्र व्रतों, पर्वों और सांस्कृतिक आयोजनों के होते हैं जिनमें स्थानविशेष पर मुनियों, आचार्यों और अन्य त्यागिवर्ग की नियमित समुपस्थिति से धार्मिक-उत्सवों का वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। स्थान-स्थान पर शास्त्र-प्रवचनों का आयोजन होता है और एकत्र हुए श्रावकवर्ग को धर्मप्रभावना का विशेष लाभ मिलता है। यह स्मरणीय है कि भारतवर्ष के अतीत युग में वर्षा के चार महीनों में प्रायः (विशेष आवश्यक प्रयोजन के बिना) देशान्तर गमन स्थगित रहता था। राजाओं के युद्ध-प्रयाण, व्यापारियों के व्यवसायनिमित्त

से होने वाले दिगम्बर-गमन वर्षों के अन्त में ही होते थे। तपस्वी भी ऐसे समय में किसी एक स्थान पर ठहर जाते थे। जैन परम्परा में 'चतुःसंघ' की जो व्यवस्था है, उसे इन दिनों में परस्पर समीप आने का अधिक अवसर मिलता था। श्रावकों को निराकुल धर्मध्यान का तथा मुनि-परमेष्ठियों से अधिकाधिक धर्मदेशना लेने का सुयोग मिलता था। आज यद्यपि यातायात के साधन अतिसुविधापूर्ण हो गये हैं तथापि श्रावक लोग चातुर्मास में यथाशक्ति अवसर निकालकर अपने वैयावृत्य का पालन करते देखे जाते हैं। पदाति विहारी मुनियों के लिए तो आज भी नदियाँ हैं, कृमि-कीट हैं और गतिमार्ग में वे ही पुरानी बाधाएँ हैं। हाँ! श्रावक उड़कर या तैरकर अथवा फिर वाष्पयान की सुविधा से चलकर पूर्वापेक्षया सरलता से आ-जा सकता है। अब शास्त्रोक्त विधिपूर्वक वर्षायोग ग्रहण तथा उसके विसर्जन की प्रक्रिया का निरूपण किया जाता है, जो निम्न प्रकार से है—

'वर्षायोग प्रतिष्ठापन' के दिन मध्याह्नवेला में त्यागी, निराकुल, पवित्र स्थान, विशेष में शुद्धिपूर्वक स्थित होकर बृहद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंच-गुरुभक्ति और शान्तिभक्ति का पठन करे तदनन्तर मध्याह्न वन्दना करे। इसे शास्त्रीय परिभाषा में 'मंगलगोचरमध्याह्न वन्दना' कहते हैं। 'नन्दीश्वरभक्ति' श्लोक ६४ वें में योग ग्रहण तथा योगमोक्षण—दोनों समय इस 'मंगलगोचरवन्दना' को करने का निर्देश किया गया है—'मंगलगोचरमध्याह्नवन्दना योगयोजनोज्झनयोः'। इसके पश्चात् बृहत् सिद्धयोगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान ग्रहण करे। तदनन्तर बृहत् आचार्यभक्ति व शान्तिभक्ति का पठन करें। यह क्रिया त्रयोदशी के दिन होती है। इस प्रक्रिया के दूसरे दिन (आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में) सिद्धभक्ति, योगिभक्ति पढ़कर चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा करे तथा प्रत्येक दिशा की ओर मुख करते हुए लघु-चैत्यभक्ति का पठन करे—इस प्रकार चतुर्दिक् चैत्यालयों की वन्दना करनी चाहिए उस समय जो वृद्धजन वहाँ उपस्थित हों, उन्हें योगतन्दुलप्रक्षेपण करना चाहिए, ऐसा परम्पराप्राप्त व्यवहार है। पुनः पंचगुरुभक्ति तथा शान्तिभक्ति पठन कर 'वर्षायोग' ग्रहण करना शास्त्रविधि है।*

'वर्षायोग' स्थापित करते समय उच्चारण करे—'वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्'। 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं' इत्यादि दण्डक पाठ व कायोत्सर्ग के

---

* *'लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मंगलगोचरे।*
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्तिभक्ती: प्रयुंजताम्॥
ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रौ सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्ति गुरुस्तुतिम्॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद् रात्रौ च मुच्यताम्॥'

अनन्तर 'थोस्सामि' स्तवपाठ करे। पुनः 'सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान् साधिता त्मस्वभावान्'—सिद्धभक्ति पढ़े।

सिद्धभक्ति पढ़ने के अनन्तर योगभक्ति पढ़े। उससे पूर्व 'वर्षायोगप्रतिष्ठापन-क्रियायां योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्'। तथा पूर्ववत् 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकपाठ करे। योगभक्ति के लिए 'जातिजरोरुरोगमरणातुरशोकसहस्रदीपिता:'—इत्यादि का उच्चारण करे।

एतत् पश्चात् यथाक्रम पूर्वादि दिशाओं की ओर मुख करते हुए अथवा दिशाओं की भावना करते हुए सभी दिशाओं में विद्यमान चैत्यालयों की वन्दना करे। प्रत्येक दिशास्थित चैत्यालय को नमस्कार करने के लिए प्रथम श्लोकपाठ इस प्रकार करे—

'यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम्।।'

पश्चात् पूर्वाभिमुख होकर पठन प्रारम्भ करे—

'स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः।।
प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः।।
विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात् क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः।।
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः।। १—५

इति श्रीवृषभजिनस्तवनं पठित्वा श्रीअजितजिनस्तवनं पूर्वाभिमुख एव पठेत्—

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्दः।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाऽजित इत्यवन्ध्यम्।।
अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके।।
यः प्रादुरासीत् प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलंकशान्त्यै।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान्।।
येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।
गांगं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः।।
स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुर्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम्।। १—५

अथ वर्षयोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् । पश्चात् 'णमो अरहंताणमित्यादि' दण्डकपाठ करके के अनन्तर निम्नांकित पाठ पढ़ना चाहिए–

वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु नन्दीश्वरे यानि च मन्दिरेषु ।
यावन्ति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वन्दे जिनपुंगवानाम् ॥१॥

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् ।
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां
जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥२॥

जम्बूधातकिपुष्करार्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवा–
श्चन्द्राम्भोजशिखण्डिकण्ठकनकप्रावृड्घनाभा जिनाः ।
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धना
भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥३॥
श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे शाल्मलौ जम्बूवृक्षे
वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकररुचके कुण्डले मानुषाङ्के ॥
इष्वाकारेऽञ्जनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यंतरे स्वर्गलोके
ज्योतिर्लोकेऽभिवन्दे भुवनमहितले यानि चैत्यालयानि ॥४॥
द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ ।
शेषाः षोडशजन्ममृत्युरहिताः सन्तप्तहेमप्रभा–
स्ते सञ्ज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥५॥

अञ्चलिका–इच्छामि भन्ते ! चेइयभत्ति काओसग्गो कओ तस्सा लोचेउं अहलोय-तिरिलोय-उड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तीसुवि लोएसु भवणवासिय वाण वितर-जोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण दिव्वेण पुप्फेण दिव्वेण धूवेण दिव्वेण चुण्णेण दिव्वेण वासेण दिव्वेण ण्हाणेण णिच्च कालं अंचंति पुज्जंति वंदंति णमंस्संति अहमवि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमस्सामि दुक्ख-क्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं । इति पूर्वदिग्वन्दना ।

ततो दक्षिणमुखस्थितचैत्यालयवन्दनमवसरप्रार्थनाश्लोकैः समाचरेत्–

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम् ॥१॥

त्वं शंभवः सम्भवतर्ष–रोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ ! रुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥
शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णाऽमयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥
बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुर्बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥
शक्रोऽप्यसक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य ! देयाः शिवतातिरुच्चैः ॥५॥

इति सम्भवजिनस्तोत्रं पठित्वाऽभिनन्दनजिनस्तोत्रं दक्षिणमुख एव पठितमुपक्रमेत् । यथा हि—

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥
अचेतने तत्कृतबन्धनेऽपि च ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात् ।
प्रभंगुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद् भवान् ॥२॥
क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥३॥
जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥४॥
स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो ! लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥

एतदनन्तरं वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहमित्यादि पूर्ववत् दण्डकादि सम्पाद्य कायोत्सर्गं कुर्यात् 'थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलि अणंतजिणे' स्तवपाठं च विदधीत । ततः पश्चाद् 'वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु' प्रभृति पूर्ववत् आवर्तयेत् । तदनु पश्चिमदिगभिमुखो मनसि वा पश्चिमाशां कल्पमानोऽधस्तनवन्दनादिपाठं पठेत्—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम् ॥१॥

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥१॥
अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२॥
सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥३॥
न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥४॥

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ! ॥५॥

इत्थं 'सुमतिजिनस्तोत्र'मधीत्य श्रीपद्मप्रभजिनस्तोत्रमस्ताशाभिमुख एवोच्चरेत् । यथा हि—

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥
बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान् पुरस्तात् प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां विमुक्त ॥२॥
शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नराऽमराऽऽकीर्णसभां प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥
नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥४॥
गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥

अतः पश्चात् पूर्ववत् 'वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियाया' मित्याद्यारम्य समग्रमुच्चारयेत् । उत्तरदिक्चैत्यवन्दनां च कुर्वीत । यथा हि—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम् ॥१॥

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ॥१॥
अजंगमं जंगमनेय-यंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥
अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥
बिभेमि मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥४॥
सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥५॥

इति सुपार्श्वजिनस्तुतिं विधाय श्रीचन्द्रप्रभजिनं स्तुवीत—

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥१॥
यस्यांगलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोऽरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥
स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥३॥

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः ।
अनन्तधामाक्षर-विश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षय-शासनश्च ॥४॥
स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलंकलेपः ।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात् पवित्रो भगवान् मनो मे ॥५॥

इति श्रीचन्द्रप्रभजिनस्तवनं पठित्वा 'अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां चैत्य-भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' इत्याद्युच्चार्य पूर्ववद् दण्डकादि विधाय 'वर्षेषु वर्षान्तरे'त्यादि भक्ति अधीयीत । इति चतुर्दिग्वन्दनम् ।

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां पंचगुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् । पूर्ववद् दण्डकादिविधि समाप्य 'श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारिधाराभिः'—इत्यादि पंचगुरुभक्ति पठेत् । पुनः 'वर्षायोगप्रतिष्ठापने'त्यादि पठित्वा शान्तिभक्तिकायोत्सर्ग-विधि निवर्तयेत् । पश्चात् पुनरपि दण्डकं कृत्वा 'न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति' इत्यादि शान्ति-भक्ति सर्वदोषविशुद्धयर्थं समाधिभक्ति च पठेत् । एष वर्षायोगप्रतिष्ठापनविधिः ।

'वर्षायोग' समाप्ति करते समय भी इसी विधि का पालन करना होता है । समाप्ति करते हुए 'अथ वर्षायोगनिष्ठापनक्रियायां' पढ़ना चाहिए ।

विशेष ज्ञातव्य—मुनि वर्षायोग के अतिरिक्त अन्य नगरादि स्थानों पर दीर्घ समय तक नहीं ठहर सकते । यदि धर्मप्रभावनार्थ स्थिति आवश्यक हो तो मासपर्यन्त रुक सकते हैं । तीर्थक्षेत्रों में अधिक कालपर्यन्त धर्मध्यान के लिए ठहर सकते हैं । जहाँ 'वर्षायोग' स्थापित करना अभीष्ट हो वहाँ आषाढ़ मास में ही पहुँच जाना विहित है । यदि किसी कारणवश आषाढ़ मास में न पहुँचा जा सके तो श्रावण कृष्ण चतुर्दशी तक अवश्य पहुँच जाना चाहिए । यद्यपि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को 'वर्षायोग' समाप्त हो जाता है तथापि कार्तिक शुक्ल पंचमी से पूर्व उस स्थान को नहीं त्यागना चाहिए । यदि दुर्निवार उपसर्ग आदि कारणों से स्थान छोड़ना ही पड़े तो प्रायश्चित लेना चाहिए । 'वर्षायोग' स्थान से १२ योजन (४८ कोस) के अन्तर्गत यदि किसी साधु की समाधि का प्रसंग हो तो उतने दूर जा सकते हैं । □

धर्म और पन्थ

'धर्म' शब्द की चर्चा अनादिकाल से चली आ रही है। अनेक सम्प्रदायों, वर्गों, व्यक्तियों तथा महानुभावों ने अनेक रूप में धर्म के दर्शन किये हैं और इसकी परिभाषाएँ स्थिर की हैं। उनमें कितने एक धर्म को जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं तो कितने जीवन के साथ इसका कोई सामंजस्य अनुभव नहीं करते। बहुत से धर्म को अवाञ्छनीय बन्धन मानते हैं तो अनेक इसे मुक्तिमार्ग का मणिसोपान मानकर आदर करते हैं। कितने लोग इसे सामाजिक संगठन का प्रबल कारण स्वीकार करते हैं तो कितने (इससे विरुद्ध मत रखनेवाले) धर्म को हिंसा, वैर, कलह, आक्रमण, युद्धोन्माद और विभीषिका की ऐतिहासिक अखाड़ेबाजी का माध्यम बताते हैं। कुछ लोग इसे बुद्धिवाद के तुलादण्ड पर तौलते हैं तो कुछेक श्रद्धा के मणिमुकुट में इसका दर्शन करते हैं। कुछ इसे परमार्थ साधन का अमोघ उपाय मानते हैं। इस प्रकार एक धर्म को अनेक लोग अनेक दृष्टिभेदों से परखते हैं, कटाक्ष करते हैं, अनुगत होते हैं और अपने को धन्य समझते हैं। संक्षेप में यदि यह कहें कि विश्व में आजतक अधिकतम जनों के मानस को अनेक भावा-विभावाओं से जिसने आन्दोलित किया है, वह 'धर्म' है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जैसे प्रत्येक व्यंजनाक्षर को द्वादशाक्षरी लगी हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को धर्मबन्धन लगा हुआ है। अनादिकाल से मानव-समाज धर्म को किसी-न-किसी रूप में जानता-मानता आया है।

प्रश्न होता है कि वह 'धर्म' क्या है, जिसे लेकर विविध विचारों का यह अनादि क्रम विश्व में प्रचलित है। इतना तो निर्विवाद सत्य है कि धर्म बहुचर्चित है और आज नहीं, चिरकाल से धर्म पर सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचना की जाती रही है। इसे किसी ने तलवार कहा है तो किसी ने आत्मसाधन का अमृतबिंदु बताया है; परन्तु इसकी चर्चा अवश्य होती रही है। एतावता इसकी व्यापकता, विशिष्टता, बहुचर्चितता, मान्यता एवं विलक्षणता को स्वीकार करने से इन्कार नहीं किया जा सकता। साथ ही इसकी व्याख्या इतनी सरल नहीं कि तुरन्त ही इन-इन उक्त जटिलताओं के जाल में से निकालकर देखी-पढ़ी जा सके। तो क्या धर्म अनिर्वाच्य है ? नहीं।

साधारणतः धर्म का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्मशास्त्रों की निरूपणा तथा मान्यताएँ अधिक सहायक हो सकेंगी। हमारे इहलोक तथा परलोक-जीवन को धर्म और अधर्म की विभाजक रेखाओं ने ही द्विधाविभक्त कर रखा है। यहाँ अधर्म से अधर्मद्रव्य की ओर संकेत नहीं है अपितु धर्मविरुद्ध अथवा धर्मरहित जीवन से अभिप्राय है। धर्म को चार पुरुषार्थों में गिनते हुए उसे प्रथम स्थान दिया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ का आशय है कि ये मनुष्य द्वारा सम्पादनीय श्रेष्ठ उद्यम हैं। सभी उद्यमों का मूल धर्म है। बिना धर्म के शेष तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि नहीं की जा सकती। धर्मपूर्वक ही अर्थ,

काम और मोक्ष की उपलब्धि की जा सकती है। धर्म का तिरस्कार करके न अर्थ और न काम साधे जा सकते हैं। धर्मरहित अर्थ उपार्जन-साधना की पवित्रता से रहित होगा और धर्मरहित 'काम' व्यभिचारश्रेणी में गिना जाएगा। मोक्ष तो सर्वोच्च पुरुषार्थ है और अहिंसा धर्म उसकी प्राप्ति में परम सहायक है। अहिंसा से प्राणिमात्र में वैरविशुद्धि और वैरशुद्धि से समभाव, समभाव से रागपरिणति का नाश, रागनाश से मन की चंचलता का निरोध तथा मन की स्थिरता से आत्मध्यान होकर मोक्ष-प्राप्ति होती है। इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का अन्तिम 'मोक्ष' साध्य है; तथा 'धर्म' साधन है। बिना साधन के साध्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः धर्म पवित्रता से आरम्भ की जाने वाली साधनाओं का पिता है, जनक है। धर्म का आलम्बन सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रों में निर्दोष तथा उत्तम विधि के परिपालन का परिचायक है। कालिदास ने इक्ष्वाकु-वंशियों के धर्ममूल चारित्र का वर्णन करते हुए लिखा है—'प्रजायै गृहमेधिनाम्'—उत्तम वंश की पवित्र सन्तान परम्परा की रक्षार्थ ऐक्ष्वाकुओं ने गृहस्थधर्म का पालन किया। कामभोगों की परितृप्ति उनका लक्ष्य नहीं था। अपने विवाहित जीवन को संयम-पूर्वक पति-पत्नी बिताते थे। असंयम को बुरा समझा जाता था। केवल वासना-शान्ति के लिए अपनी स्त्री से भी सहवास को व्यभिचार बताया गया है। इस संयम का आग्रह धर्म से ही सम्भव है; क्योंकि 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' धर्म से रहित तो पशुओं के समान है। पशुजीवन से ऊपर उठना हो तो धर्मदण्ड का आश्रय लेना होगा। बिना धर्म के पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धों का निर्वाह तक कठिन होगा। आज के युग में कालिदास के 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' को 'कामाय गृहमेधिनाम्' बदलकर पढ़नेवालों की संख्या अधिक होती जा रही है। जैसे उत्तम पात्र में रखी हुई वस्तुएँ विकार को प्राप्त नहीं होतीं, वैसे धर्मपात्र में रखकर अर्थ और काम को विकृति से बचाया जा सकता है।

व्यवहार और निश्चय-रूप में धर्म को जानकर मनुष्य सम्पूर्ण पापों से परित्राण पाता है। व्यवहार का मार्ग लोक-संरक्षण के निमित्त है और निश्चय-मार्ग आत्मसिद्धि निमित्त। आत्मा को निर्ग्रन्थ, शुद्ध, बुद्ध, सर्वोपाधिरहित, ज्ञानस्वरूप जानना निश्चय-धर्म है और उसके लिए वस्त्र त्यागकर जिनेन्द्रमुद्रा को धारण करना व्यवहारधर्म है। निश्चय वस्तु के ध्रौव्य स्वरूप की प्रतीति कराता है और व्यवहार उसके कटक, कुण्डल आदि रूप पर निर्भर करता है। माता, पिता, बन्धु आदि लोकव्यवहार हैं। निश्चयरूप से तो ये कर्मानुबन्धी अनन्त पुद्गल-पर्याय मात्र हैं। लोकहितकारी रूप को ध्यान में रखकर धर्म की जो परिभाषाएँ स्थिर की गई हैं, उनसे आत्मा को मोक्ष-मार्ग पर ले चलने के लिए संबल मिलता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म, अपरिग्रह इत्यादि का पालन जब तक नहीं किया जाएगा, इस सम्यक्चारित्रमार्ग पर जब तक चलना नहीं आयेगा, तबतक मोक्ष क्या मिल सकेगा? एतावता धर्म मोक्ष का मार्ग दिखानेवाला परम सहायक है। धर्म के इस व्यावहारिक रूप को जानकर, इसका पालनकर आत्मा परमात्मभाव की प्राप्ति में समर्थ होता है। इस रूप में धर्म अनन्य

सखा है, निर्माता है और जीवन को सर्वोच्च पुरुषार्थ की विभूति प्रदान करता है। जो धर्म को अपना पथदर्शक मानकर चलता है, वह अपथगामी नहीं होता। धर्म की प्रभा अधर्म के मार्ग पर नहीं पड़ती। इसीलिए धर्म की रोशनी में चलने का व्रत रखनेवाला अन्धकार में नहीं भटकता। धर्म जीवन की सभी कलाओं को एक विशिष्ट सौन्दर्य प्रदान करता है। जो अन्तरात्मा से धर्मपालन करते हैं उनकी मुखाकृति पर एक अपूर्व सात्विक तेज प्रादुर्भूत होता है और द्रष्टाओं के मन:प्राण को अयाचित आकृष्ट कर लेता है। अधर्म अथवा विकारों से ग्रस्त मनवाले व्यक्ति की आकृति भी वैसे विचारों की सूचना देती रहती है। धर्मशीलों को नमस्कार करने के लिये लोगों के प्राण उत्क्रमण करने लगते हैं। उनके प्रति एक अहैतुकी श्रद्धा का भाव स्वयं उदित होता है। जैसे अग्नि के सम्पर्क से दुग्ध में उफान उठता है वैसे धर्म वृद्धों की उपस्थिति से चित्त उन्हें प्रणाम करने को उठ खड़ा होता है और उन्हें प्रणति करने पर आशीर्वादरूप अमृत पाकर पुन: बैठ जाता है। किसी ने कहा है कि यदि मनुष्य बहत्तर कलाओं में कुशल है; किन्तु धर्मकला में अकुशल है तो वह पण्डित हो, अपण्डित हो, उसकी सभी कलाएँ निष्फल हैं[1]; क्योंकि कला तो उज्ज्वलता, अमृतमयता और रोचिष्णुता का नाम है जिनकी समृद्धि में चन्द्रमा अमृतमय हो जाता है। 'आत्मानुशासन' की सूक्ति है कि कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि से तो मन:संकल्पित आशाओं की पूर्ति होती है किन्तु धर्म का पालन तो बिना संकल्प के ही अचिन्त्य फल का दाता है[2]। 'याचे कल्पतरु देय सुख चिन्तत चिन्तारैन। विन याचे विन चितवे धर्म सकल सुख देन॥' इस दोहे में आत्मानुशासन के उक्त श्लोक का आशय ही अनूदित हुआ है।

धर्म विश्वशान्ति, विश्वप्रेम और परस्पर सहिष्णुता का उद्भावक है। अशान्ति, वैर और असहिष्णुता तब फैलती है जब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र अधर्मपूर्ण व्यवहारों में लग जाते हैं। 'धर्मस्य सूक्ष्मा गति:'—धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। जैसे अगरबत्ती धीरे-धीरे जलकर सारे कक्ष में सौरभ फैला देती है, जैसे खिले हुए पुष्प का सौरभ अज्ञातरूप से उड़कर नासापुट को सुरभि से सन्तर्पण देता है उसी तरह सद् अथवा असद् व्यवहारों की प्रक्रिया से सर्वत्र व्याप्त परमाणुओं में सूक्ष्म कम्पन उत्पन्न होता है और वह अपने जैसे वातावरण को उत्पन्न कर लेता है। जल पर उठती हुई तरंगों को हम देखते हैं, परन्तु उन तरंगों को उठाने वाले पवन को नहीं देख पाते, इसी प्रकार संसार में फैलती हुई अशान्ति को तो हम देखते हैं परन्तु इसके मूल में जो उत्पादक कारण हैं, उन्हें लक्ष्य नहीं कर पाते; किन्तु आकाशवाणी केन्द्र से प्रसारित समाचार जैसे 'रेडियो' पर सुदूर होते हुए भी सुनायी पड़ते हैं उसी प्रकार अव्यक्तरूप से मानसिक विचारों का प्रभाव भी श्वासोच्छ्वास के साथ वायुमण्डल में विसारी होकर

---

१. *बावत्तरी कला कुसला पंडियपुरुषा अपंडिया चेव।*
सव्व कलाण विपरं जे धम्मकलं न जाणंति॥

२. *संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।*
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते॥—आत्मानुशासन

अपनी परिणति से प्रभावित करता है। सामूहिक रूप से यदि संसार किसी विचार-पक्ष पर सोचता है तो उसके मूल में वह वातावरण ही कारण है जो रातदिन नेताओं, पत्रों, चर्चाओं इत्यादि से बनाया जाता है। अज्ञात रूप से वह प्रजाओं और राष्ट्रों के अवचेतन मानस में क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है और परिणामस्वरूप उसी दिशा में, उन्हीं विचारों को पोषण मिलता रहता है। यह अशान्ति, तनाव तथा विरोध की भावना व्यक्तियों और राष्ट्रों को समान रूप से प्रभावित करती रहती है। अतः यह कहना युक्तिसंगत है कि चिन्तन का परिणाम ही निकट तथा दूर के वातावरण के निर्माण में कारण है; और इस रूप में धर्मचिन्तन का प्रभविष्णु परिणाम स्पष्ट है। धर्म जबतक वास्तविक रूप में जनमानस में विद्यमान रहता है तबतक नित्य नये सन्मंगलपूर्ण शुभकार्य होते रहते हैं और उदात्त गुणों का प्रसार होता रहता है। जैसे शारीरिक मलिनता से व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार अधर्मयुक्त मानस-मालिन्य से छल, कपट, द्वेष, हिंसा, पापसमूहों की उत्पत्ति होकर जीवन विषाक्त बन जाता है। धर्महीन को पापकर्म करते हिचक नहीं होती और पुण्यशील धर्म से विरुद्ध जा नहीं सकता। क्योंकि धर्म सात्त्विकता की ओर ले जाता है, विश्व के साथ सख्यसम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' धार्मिकों की मनोभावना को व्यक्त करने-वाला सूत्र है। 'यह मेरा है, यह पराया है' ऐसी क्लेशदायिनी संकीर्ण विचारधारा पर धर्म विराट् की विजय-वैजयन्ती है। धर्म निराकुलता की जननी है, आनन्द का पिता है, सुखों का सहोदर और शान्ति की पवित्र भूमि है। धर्मात्मा मनुष्य संकुचित परि-धियों से निकलकर विशालता के शिखरों पर विचरण करता है। वह दुःख, दैन्य, ग्लानि, तुच्छता इत्यादि मूढ़ताओं को छोड़कर आनन्द, सम्पन्नता, प्रसन्नता और उदार-हृदयता के विशाल संसार में विचरण करता है। दिशाओं के सभी द्वार उसके लिए उन्मुक्त हैं। समुद्रों का कल्लोलसंकुल जल उसकी स्तुति गाता है और हिमालय उसके लिए मार्ग छोड़ देता है। यह धर्म की महिमा है।

धर्म आत्मा में निर्दोषभाव को जागृत कर वस्तुस्वभाव का ज्ञान कराता है। जो वस्तुस्वभाव को जान लेता है वह धर्म को पहचान जाता है। 'वस्तुस्वभावो धर्मः'— वस्तु का स्वभाव धर्म है। उष्णता अग्नि का स्वभाव है। वह उसका धर्म है। यदि आप शीतल अग्नि ढूंढ़ने निकलेंगे तो विश्व भर में ढूंढ़कर भी नहीं पा सकेंगे; क्योंकि अग्नि शीतल नहीं होती। मनुष्य का धर्म उसका सच्चा विवेक है। विवेक का अर्थ है विवेचन से प्राप्त सत्य। तत्त्वार्थ का परिणाम ही विवेक है। स्व-पर का भेदज्ञान ही विवेक है। रत्नत्रय की उपलब्धि बिना विवेक नहीं होती। सम्यक्त्व की प्राप्ति विवेक से होती है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र विवेक से ही उत्पन्न होते हैं। अप्रमत्तगुण की स्थापना में विवेक परम सहायक है। 'तुष-माष' का भेदज्ञान विवेकस्फुरण का निदर्शन है। विवेक सम्यक्त्व में प्रतिष्ठित करनेवाला है। हीरे और काँच का ज्ञान विवेक से ही होता है। श्रेष्ठ मार्ग का चयन बिना विवेक नहीं होता। अनन्तानुबन्धी कर्म का क्षय विवेक से ही किया जाता है। मनुष्य विवेक से जानता है कि मेरा आत्मा

परम वीर्यसम्पन्न है, विराट् है। तुच्छता शरीरधर्म है, विभुता आत्मधर्म। शरीर नाशवान् है, आत्मा अविनश्वर। अत: अनश्वर के लिए विवेक का उपयोग करना हितकर है; क्योंकि जो व्यक्ति अनित्य वस्तुओं के मोह में नित्य वस्तुओं का परित्याग करता है, वह पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ नहीं पाता; क्योंकि जो नश्वर हैं, वे तो नष्ट हो जाएंगे और जो अनश्वर हैं, उनसे उसका परिचय तक नहीं होगा। ऐसा जानकर धीमान् शाश्वत सुखों से अपेक्षा रखते हैं।

'धारणाद् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजा:'—'धर्म' का अर्थ है वह शक्ति जो धारण करती है, प्रजाओं को धर्म ही धारण करता है। अग्नि को उसका उष्णत्व ही धारण करता है। अपनी दाहक शक्ति के बल पर ही वह्नि अनुल्लंघनीय है। जब अंगार भस्ममात्र रह जाता है तब उस पर कोई भी पांव रख देता है, परन्तु अग्नि पर पैर रखने की शक्ति किसी की नहीं। जो धर्मनिष्ठ रहता है, उसे सभी समादर से देखते हैं परन्तु धर्महीनों का आदर कोई नहीं करता। धर्मपरायण व्यक्ति नितान्त स्वतंत्र नहीं है। वह धर्ममर्यादा में बँधा हुआ होता है। धर्म उसे पथ-अपथ का निर्देश करता है। धर्म के बन्धन मुक्तिप्रद होते हैं और रागबन्धन भवबन्धन। ये बन्धन चारित्र के सहयोगी हैं, स्वैराचरण के सखा नहीं। ये गति को गौरव देनेवाले हैं, दिग्भ्रमकारी नहीं। इन बन्धनों में तुला का सन्तुलन है, दिवस का आलोक है, उषा की अरुण पताका है। ये संयम के प्रतीक हैं, लौह-शृंखलाओं के बन्धन नहीं। जिस प्रकार इक्षुदण्ड पर्व-पर्व पर सधा हुआ है उसी प्रकार धर्मयुक्त मानव का जीवन तप, त्याग, शील, संयम, चारित्र-इत्यादि पर्वों पर ऊर्ध्वगामी बनता है। धर्म प्राणिमात्र के तद्गुण को उपोद्वलित कर उसे नर से नारायण बनाने में मार्गोपदेष्टा बनता है।

निषेधमूलक परिभाषा के द्वारा धर्म की निरुक्ति करें तो कहा जा सकता है कि सप्तव्यसनों का परित्याग धर्म है। मायाचार नहीं करना धर्म है। धर्म क्या है? भगवान् के चरणकमलों में एकाग्र भक्ति रखना धर्म है। देव, गुरु, अतिथि का यथा-शक्ति सभक्ति सत्कार करना धर्म है। सभी के प्रति समदृष्टि रखना धर्म है। उसमें धर्म की स्थिति जानो, जो सदाचारी है, विनम्र है, सत्यभाषी है। क्रोध, लोभ, मान, मायादि से वर्जित है, इन्द्रियसमूहों को वश में रखता है, अभिमान नहीं करता, मृदुता को अपनाता है, शील का सागर है, सद्गुणों का आगर है। दूसरे के तिलप्रमाण गुण को गिरिप्रमाण बताकर प्रसन्न होता है। जिसके हृदय में किसी उत्तम गुण व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या-असूया नहीं होती और जो भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरणारविन्दों का मधुप है। इसके विपरीत कुटिल, क्रोधी, अनृतभाषी, प्रतारणापरायण, देव-गुरु में अविनयी, केवल संसार को ही अपना माननेवाला और 'तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपनो नाश मान'—वृत्ति का अनुवर्तन करने वाला आत्मधर्म से निश्चय वंचित है। ऐसा दिग्भ्रान्त व्यक्ति आत्मपरिज्ञान से रहित है। वह ठगा गया है विश्व के इस मीनाबाजार में लूटा है उसे काम, क्रोधमूलक दस्युओं ने, अकिंचन किया है ज्ञानवरणी कर्मों ने। दुःखक्लेश की भित्तियों पर श्वास-श्वास के दारुण नश्वर

चित्र बनाते, मिटाते नष्ट किया है उसने अपने मनुष्यपर्याय के दुर्लभ क्षणों को। वह अधार्मिक है। धर्म से वंचितों को अमृत से वंचित कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। धर्म आत्मज्ञान का संबल है। परलोक-यात्रा का उत्तम पाथेय है और धर्मराज के बहीखाते में लिखाने योग्य श्रेष्ठ वित्त (पूंजी) धर्म ही है।

यह धर्म त्रिकालाबाधित है। सत्यरूप है, अहिंसामय है। यह ज्ञातव्य, दर्शनीय तथा आचरणीय है। धर्मनौका पर आरूढ़ होकर भवार्णव को लांघनेवाला डूबता नहीं। संसार के सभी संश्लेषणजन्य सुखप्रतीतिमान् भोगों का परिणाम दुःखमय है। उनकी प्राप्ति से जितना हर्ष होता है उतना उनके वियोग से शोक भी होता है। धर्म आत्मदृष्टि देता है और उससे मनुष्य को प्राप्ति और नाश का हर्ष-विषाद नहीं होता; क्योंकि दोनों ही वास्तव में मिथ्या हैं। धर्मदृष्टि न मिलने से सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इस प्रकार धर्म शान्तिकवच है। जो मनुष्य धर्माचरण करते हुए अन्तःप्रच्छन्न मायाचार का अनुवर्तन करता है वह धर्म को ठगता है; किन्तु जिन्होंने धर्म को अन्दर-बाहर समानरूप से ग्रहण किया है वे ही उसके सच्चे उपासक हैं।' संसार के सन्तुलन को बिगाड़ने में अधार्मिकों का प्रमुख हाथ है। धर्म के उत्तमत्व से अनभिज्ञ इसे पाखंड, ढकोसला बताते हैं और परमात्मा की भक्ति करनेवालों को 'देवताओं के गुलाम' कहते हैं; किन्तु विचार कर देखा जाए तो अधार्मिकों का जीवनदर्शन ही विश्व के लिए भयावह है। पाप-पुण्य के प्रति असमीचीन दृष्टिकोण होने से ऐसे लोग विश्व को महानाश के गर्त में ले जाते हैं।

'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—धार्मिकों के बिना धर्म की क्रियाशक्ति पंगु हो जाती है। अग्नि काष्ठ के द्वारा ही व्यक्त होती है धर्म को धार्मिक जन ही लोकव्यवहार का रूप देते हैं। धर्म मनुष्य की आवश्यक विशेषताओं में प्रमुख है। वह जीवन की आत्म-शक्ति है, उसके बिना शिव 'शव' है। अग्नि भस्म का ढेर है। राष्ट्रों के जनपथ शून्य के विस्तार हैं। धर्मसंरक्षण से प्राणियों में औदार्य, सौन्दर्य और चारु चरित्र की प्रतिष्ठा होती है। 'मनुष्यजातिरेकैव'—उदार धर्म की सेवा करने-वालों की भावना सम्पूर्ण मनुष्यजाति को एकता के बन्धन में बाँधती है। मानव स्वधर्म के साथ ही उत्पन्न होता है। अहिंसा, क्षमा इत्यादि उसके अकृत्रिम धर्म हैं। बालक उत्पन्न होते ही माँ से वात्सल्य मांगता है। वह प्रत्येक उत्पन्न हुए जीव का स्वाधिकार है। माँ उसे स्तन्य पिलाकर अपने-आपको शैशव की प्रथम श्वास के साथ मिले स्तन्य का प्रति-दान करती है। इस प्रकार वात्सल्य की परम्परा की रक्षा की जाती है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का यही अर्थ है। विश्व का मानव वात्सल्य का आदान-प्रदान करके ही जीवित है। 'मत्स्यन्याय' से मानवजाति नष्ट हो जाएगी। वात्सल्य में पोषण की भावना है। यही अहिंसा है। जन्मते ही शिशु अपनी जननी से 'अहिंसा' पाता है। दूध की धार में माँ उसे अहिंसा पिलाती है। मानवमात्र अपने चारों ओर अहिंसा से जीता है। अहिंसा को पीकर पुष्ट होता है। इसी दृष्टि से अहिंसा के व्यापक स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्यों ने कहा—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'—यही

परम ब्रह्म है। मानवमात्र के सुख की आधारभूमि 'अहिंसा' है। 'आत्मनः प्रति-कूलानि परेषां न समाचरेत्'—अपने को जो प्रतिकूल लगे उसे दूसरों के प्रति भी न करे, यह अहिंसापालन का मार्गदर्शक सूत्र है। अहिंसक को सब स्नेह करते हैं। हिंसकों से दुनिया चौकन्नी तथा सावधान रहती है। उनको विश्वसनीयता के साथ नहीं देखा जा सकता।

धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए। यदि खाते-पीने, सोने-उठने तथा अपने दैनिक मनोरंजनों के लिए समय निकालते हो तो धर्म के लिए भी समय रखो। अपने कार्यों को धर्मतुला पर परखो। जैसे माला के सभी मणि सूत्र में पिरोये होते हैं वैसे अपने सभी कार्यों को धर्मसूत्र में पिरोकर रखो। जो मणि अथवा पुष्प सूत्र में पिरोये नहीं होते, वे देवता के उपहार नहीं होते। इसी प्रकार जो कार्य-कलाप धर्मानु-विद्ध नहीं हैं, उनको अपने आत्मा के लिए स्वीकार नहीं करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को खरीदते समय जैसे उसे तुला पर तौलकर ही लेते हैं वैसे अपने जीवन के कार्य-कलाप को धर्म की तुला पर रखकर ग्रहण करना होगा। बिना धर्म किये हुए कार्य पवित्रता को सन्देह में डाल देंगे। कसौटी पर जैसे कांचन को परखा जाता है वैसे अपने समस्त कार्यों को 'धर्मनिकषग्रावा' पर कसकर देखना चाहिए। जो मनुष्य अपनी प्रत्येक कार्यप्रणाली को अपने धार्मिक व्यक्तित्व के अनुरूप ही ग्रहण करता है उसे दुःख नहीं होता। प्रातःकाल उठकर दिवस में करणीय कार्यों के विषय में धर्मबुद्धिपूर्वक सोचना और रात्रि में सोने से पूर्व उन दिनभर के कार्यों पर आलोचनामयी आत्मदृष्टि डालना सन्मार्ग पर बने रहने के लिए उपादेय है। व्यक्ति-व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मेरा आज का दिन शुभ कार्यों में गया कि व्यर्थ चला गया। धार्मिक को अपने समय, दिन और क्षणों की भी व्यर्थ कार्यों में, या अकार्य में (निष्क्रिय होकर) हिंसा नहीं करना चाहिए। समय का दुरुपयोग बहुत बड़ी हिंसा है। यह मनुष्यपर्याय को मिले दैवी दुर्लभ क्षणों की अवहेलना है; जो किसी मूल्य पर पुनः जीवित नहीं किये जा सकते।

यदि दिनचर्या में भूल हुई हो तो प्रायश्चित्त लेकर उसकी विशुद्धि करना चाहिए। मन में संकल्प करना चाहिए कि ऐसी भूल फिर नहीं होगी; क्योंकि छोटी-छोटी आदतों से स्वभाव बनता है। स्वभाव को धर्ममय बनाने के लिए बहुत बड़े-बड़े व्रत लेना ही आवश्यक नहीं है, अपितु जीवन में लघु और नगण्य लगनेवाली बातों का पालन भी उसी महत्त्वपूर्ण कार्य को दी जानेवाली निष्ठा से करने का अभ्यास तथा स्वभाव होना चाहिए। रास्ते में पड़े हुए पत्थर को भी ठोकर से ठुकराना उचित नहीं। उससे बचकर निकलना अथवा उठाकर एक ओर रख देना चाहिए। जो ठोकर मारकर उसे अलग हटाता है उसके मन में कहीं प्रमाद का लेश है, यह पता चलता है। धर्म और धर्मी जबतक एकरूप न हों, समरसता उत्पन्न नहीं होती। आम के फल की मिठास तथा वह फल एकजीव होकर अपना माधुर्य व्यक्त करते हैं उसमें से मिठास को अलग नहीं किया जा सकता। अग्नि जबतक अधूरे काष्ठ को लगी होती है, उसमें से धुआं निकलता रहता है; किन्तु काष्ठ के जलने के पश्चात् उसमें लाल-लाल

अंगारे शेष रह जाते हैं जो अग्नि के पूर्ण स्वरूप को बनाते हैं। उस समय वहाँ सम्पूर्ण अग्नि का अस्तित्व ही दृश्यमान होता है, काष्ठ का नहीं, धुआँ का भी नहीं। धर्म-प्राण व्यक्ति का जीवन भी इस प्रकार चारित्र से सर्वांगपूर्ण होना चाहिये कि उसकी एक कोर भी अचारित्र न रहे। धर्म के श्वेत वस्त्र पर पड़ा हुआ अधर्म की पीक का लाञ्छन दूर से ही दिखायी दे जाता है। लोकोक्ति है कि 'स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्'—शरीर के किसी एक भाग पर भी कुष्ठ का चिह्न उभर आता है तो सर्वांग में असुन्दरता आ जाती है। यही धर्मजीवी के लिए है कि उसकी चर्या में अणुमात्र भी विकृति आ जाती है तो वह उसके समस्त धार्मिकत्व पर चन्द्रमा में मृगचिह्न के समान दिखायी देने लगती है। उस दाग से अपने आपकी रक्षा करना अप्रमत्त योग है। कहते हैं—'त्रपु सहस्रक्षालितमपि रंगं न जहाति'—रांग नाम की धातु हजार बार धोने पर भी अपनी निसर्ग-मलिनता का परित्याग नहीं करती। अपने विचारों को 'रंग' न बनाओ। स्मरण रखो कि कुशल किसान जैसे परिपक्व क्षेत्रसस्य को दरांती से निर्दयतापूर्वक काट देता है वैसे काल आयुकर्म शेष होने पर क्षणकाल की छूट न देकर प्राणिमात्र का संहार कर देता है अतः परिपाक का समय आने से पूर्व ही अपने लिए कल्याण के साधन जुटा लो। धर्मपालन के लिए किसी समयविशेष की प्रतीक्षा नहीं करना चाहिए; क्योंकि प्रतीक्षा करनेवाले के पास अवसर प्रायः नहीं आता। जो साहससम्पन्न होते हैं वे अवसर को स्वयं खींचकर ले आते हैं। जहाँ प्रयाण करना है, उस स्थान के लिए आवश्यक धर्मपाथेय सदा तैयार रखो। धर्म का यान ऊर्ध्वमुख है और अधर्मरथ के चक्र नरकों के पंक में फँसे हुए हैं। धर्म तीर्थं-करों की दिव्य स्फटिककान्ति से दीप्तिमान है और अधर्म अन्धकार में स्वयं आवृत्त है तथा धर्मविमुखों को उसी अन्तर्गत में गिराने के लिए प्रस्तुत है। धर्माचरण से शुभबन्ध होता है। 'समीचीनं धम्मं देसयामि' कहते हुए आचार्यों, शास्त्रकारों ने धर्म को समीचीन कहा है। यह समीचीनता मानो, दिव्य वरदान है। इस घनी छायावाले, महाफल धर्मपादप के नीचे बैठकर साधना करनेवाला धर्मात्मा अनन्ता-काश से ऊपर प्रतिष्ठित आनन्दात्मक लोक के पथ प्रशस्त करता है। धर्म पालने से आत्मबल में वृद्धि होती है। आत्मबल बढ़ने से अतिरिक्त कौन वस्तु है जिसे महान् कह सकें?

धार्मिक आचरण राष्ट्रीय चरित्र को उन्नति देनेवाला है। व्यक्ति-व्यक्ति से राष्ट्र बनते हैं और उनके आचरणों से राष्ट्र के स्तर का निर्माण होता है। जैसे तन्तु होते हैं, वैसा ही पट बनता है। यदि राष्ट्र के लोग धर्मप्रिय होंगे तो राष्ट्र धर्ममय होगा। आखिर राष्ट्र तो व्यक्तियों से ही है। व्यक्तिसत्ताविहीन भूखण्ड राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। इसके लिए अधिक उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं। एक पार्टी में, जिसमें सामूहिक आहार-पानी की व्यवस्था की गई है, लोग खाने से अधिक उच्छिष्ट छोड़ते हैं। उच्छिष्ट छोड़ते समय उनके हृदयों में थोड़ा भी विचार नहीं होता कि यह अन्न का नाश कितनी बड़ी हिंसा है? यदि यों ही फेंकने योग्य इसे न किया होता तो कितने लोगों की क्षुधाशान्ति

इससे हो पाती । यह जूठन छोड़ना अनेक लोगों में तो आवश्यक आत्मसम्मान की रक्षा समझी जाती है; किन्तु राष्ट्रीय विचार से सोचने पर हमें प्रतीत होगा कि यह मँहगाई का कारण है, हमारी अस्वस्थ मनोदशा का परिचायक है । जब अन्न दुर्लभ हो, तब तो यह अपराध कोटि में आ जाता है; क्योंकि रुपये-पैसे से अन्न के दाने नहीं बनते । वह तो किसान की कठोर मेहनत का फल है जो प्रकृति अनुकूल होने पर एक निश्चित कालावधि में पककर तैयार होता है । उसे नोटों के समान उत्पन्न करना दिवास्वप्न है । अत: जो वस्तु सिक्कों से तैयार नहीं की जा सकती उसे सिक्कों पर उछालना मानवजाति को संकट में डालना है । ये विचार सभी व्यावहारिक क्षेत्रों में लागू किये जा सकते हैं । धर्मबुद्धि रखने से इस प्रकार की विचारधारा आती है और धार्मिक ही उसका पालन करने में अग्रसर होते हैं । इस विचार से धर्म राष्ट्र के नैतिक उत्थान का सबल आधार है । धर्महीन होने से अविचारों की परिधि में घिरा हुआ मानव स्वयं को तथा राष्ट्रीय जीवन को भी पतित कर देता है ।

धर्म का यह क्षेत्र विशाल है । इसमें सम्पूर्ण अच्छाइयों का समावेश है; किन्तु कभी-कभी इसे व्यक्तिवाद घेरकर सीमित बना देता है । सीमा में रहकर इसकी गुणावली उसी न्यूनता के साथ अनेक विकृतियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं; क्योंकि असीम को सीमा में बाँधनेवाले का वैयक्तिक आग्रह उसमें मिला होता है । वह वैयक्तिक आग्रह सदैव सामूहिक दृष्टि के प्रांजल भाग को ग्रहण नहीं कर पाता । वह धर्म से अलग होकर 'पन्थ' वाद को पोषण देता है । आज संसार में अनेक पन्थ हैं । उन पन्थों में एक वर्गविशेष ने अपनी प्रविष्टि ले रखी है । पन्थ का कार्यक्षेत्र उन्हीं तक सीमित है । सीमित क्षेत्र में रहकर वे दूसरी सीमाओं को अपने से लघु बताते हैं और बताते-बताते उनमें एक संकीर्ण पक्षपात का जन्म हो जाता है । पक्षपात से कलह बढ़ता रहता है और उस-उस पक्ष के लोग रातदिन धर्म के मंगल-स्वरूप से परे हटकर आर्तरौद्र में फँस जाते हैं । भगवान् महावीर ने 'समीचीनं धम्मं देसयामि' कहकर मानवमात्र के लिए हितकारी धर्म का स्वरूप-निरूपण किया; किन्तु उन्हीं के माननेवालों ने उसमें अनेक संख्याओं को नाम देकर उसके अंश-ग्रहण में अपनी तत्परता प्रदर्शित की । हिन्दुओं में भी कबीरपन्थ, दादूपन्थ, द्वैतमत, अद्वैतमत, शैवमत, शाक्तमत, वैष्णवमत आदि अनेक पन्थों का प्रचलन है । ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के विशाल गम्भीर समुद्र में से अपनी क्षमता के अनुसार पन्थजनकों ने अपने-अपने बुद्धिपात्र भरे और उनका पृथक्-पृथक् नामकरण कर दिया । उनके भक्तों और अनुयायियों ने अपने नेता के नाम पर आगे भी उसी पन्थ को बनाये रखा । 'सिक्ख' शब्द का प्रयोग आज एक जातिविशेष के लिए होता है किन्तु एक समय सिक्ख हिन्दू थे । मुगलों और भारतीयों के संघर्षकाल में जिन्होंने केश, कंघी, कच्छ, कड़ा और कृपाण धारणकर गुरुओं का शिष्यत्व स्वीकार किया तथा युद्ध में सम्मिलित हुए, वे गुरु के शिष्य हुए और कालान्तर में शिष्य (सिक्ख) एक अलग जाति बन गई । सिक्खों के 'ग्रन्थसाहब' में हिन्दुओं के भगवान् राम का वर्णन है और नानक के भजन रामभक्तिपूर्ण हैं; परन्तु वह पन्थ अलग होकर आज एक पृथक् जाति बन गया है । धर्म और पन्थ में मौलिक अन्तर यह है कि पन्थ की रचना धर्म के लिए व्यक्तिवादी विचारधारा उत्पन्न करती है । धर्म वस्तु-स्वभाव को प्रमुख बताता

है तो पन्थ व्यक्तिनिरूपित किसी सत्यांश अथवा सत्याभास को मानने का आग्रही होता है। धर्म त्रिकालाबाधित होने से एकरूप है किन्तु पन्थ के स्वरूप अनेक हैं। कोई तिलक की तिर्यक् रेखाओं में, कोई उत्तरीय की विशेष छटा में, कोई रुद्राक्ष और विद्रुम, तुलसी आदि की माला धारण करने में और ऐसे ही बाह्य आकल्पों में धर्म मानते हुए अपने पन्थ की पद्धति की पट्टावली लिये दिखायी देते हैं। ये बिन्दुजीवी होकर सिन्धुजीविता का अभिमान करते हैं। धर्म की वास्तविकता पन्थों द्वारा व्याहृत हो जाती है। पन्थ से अवसरवादियों को लाभ मिलता है। मत-मतान्तरों का जन्म तथा उनमें आपसी संघर्ष पन्थवाद के हिमःयती उत्पन्न करते हैं। समय आने पर वे हिंसा पर उतर आते हैं, क्रोध, मान और मायाचार करते उन्हें संकोच नहीं होता। अधिक लोग इस विवाद में फँसे रहकर शास्त्रार्थ करते रहते हैं कि पूजा करते समय भगवान् को पुष्प चढ़ाएँ या सूखे मेवे। इसमें विजयी होकर वे अपने आपको श्रेष्ठ मानते हैं। वे भगवान् की स्तुतिपदावली में "न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।' — ऐसे वीतरागपदों का उच्चारण करते हुए भी यदि कषायों को मन्द नहीं कर पाते तो कहना होगा कि उनकी पूजाविधि भी 'पन्थ' से परिचालित है। धर्म तो कहता है, भगवान् को पारिजात के पुष्पों से पूजो या फिर सूखे बादाम से, चावल से। इसमें विवाद करने की क्या बात है? वीतराग जिनेन्द्र को तो न पारिजात चाहिए न चावल। ये तुम अपनी श्रद्धा अर्पित कर रहे हो या विवाद को जन्म दे रहे हो? पूजक का सच्चा उपहार तो आत्मनिवेदन है। 'वन्दे तद्गुणलब्धये' की भावना से अपने को ऊँचा उठाने के लिए पूजार्चा करो। व्यवहार का पालन करते हुए निश्चय को न भूलो। पन्थों के दिग्भ्रम साधनामार्ग में भटकानेवाली पगडंडियाँ हैं। सच्चे मुमुक्षु को इन बालरेखाओं से बचकर उस विराट् महापथ को खोज निकालना चाहिए जिस पर तीर्थंकरों के पदचिह्न अंकित हैं।

अहिंसा परमधर्म का सम्यक्त्वमूलक चारित्रमार्ग ही वह महान् जनायन है जिसके दोनों ओर अनेकान्त के गन्धवन लहलहा रहे हैं। उन पर बैठ हुए द्वादशांगवैतालिक विरुदावलि पढ़ रहे हैं। गणधरों के स्वलिखित पत्रों पर उस दिव्यध्वनि के अध्याय लिखे हुए हैं।

भगवान् को पन्थों, व्यक्तिप्रसूत व्यामोहक्रीड़ाओं से परे ही रखना श्रेयस्कर है। जो उपास्य हैं, उन्हें विनम्र भाव से श्रद्धाभक्ति निवेदन करना उपासकों का धर्म है। शुद्ध धार्मिक होकर उन वीतराग चरणों की सेवा से अपने को कृतार्थ करनेवाला महान् भाग्यधनी है। निर्दोषचर्या का पालन करनेवाले साधु पन्थवाद से दूर रहते हैं। उनका जीवन धर्मस्वरूप होता है। वे सम्पूर्ण लोक के लिए अथवा आत्मध्यान में स्थित होने से आत्मा के लिए हितचिन्तक होते हैं। 'साम्यं मे सर्वभूतेषु', 'वैरं मज्झं न केनवी'—उनकी वीतरागचर्या का मार्गदर्शन करते हैं। निर्झर-नीर के समान उनके वचनामृत को सभी पीते हैं और शान्ति, तृप्ति तथा शीतलता का अनुभव करते हैं। नदी के तटों के समान उनका हृदय विशाल होता है। कुलाचलों की ऊँचाइयाँ उनकी भावभूमियों में समाहित होती हैं। संसार उनके चरणों की समीपता से क्षुद्रताओं का विसर्जन करता है और उदारता को अपनाकर विभूतिमान् होने का सत्प्रयास करता है। वे 'गुरु' होने से स्वभावतः 'लघुता' से दूर होते हैं। 'मुनि' होने से तत्त्वज्ञान उनकी आकृति पर उद्भासित होता है। उन सम्यक्चारित्रोपदेष्टाओं का दर्शन साक्षात् धर्म के समान है। □

दीक्षा-ग्रहण-विधि

दिगम्बर मुनिदीक्षा में केशों का लुंचन, मुनि-अवस्था का नामकरण, नग्नत्वप्रदान तथा पिच्छिकाग्रहण—मुख्यविधि है। दीक्षित को अष्टाविंशति मूलगुणों को निष्ठा-पूर्वक पालन करने का व्रत लेना होता है। चतुःसंघ के समक्ष शुभ दिन और मुहूर्त में, स्थिर लग्न में दिगम्बरत्व की यह दीक्षाविधि सम्पादित की जाती है। मुनिचर्या-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य प्रकरण 'निर्ग्रन्थ मुनि' शीर्षक निबन्ध में दे दिये गये हैं। यहाँ दीक्षाविधि दी जा रही है—

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिंगमर्प्यताम्।
लुंचाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः [1]॥

अथ दीक्षाग्रहणक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि 'सिद्धानुद्धूत'—इत्यादि।

अथ दीक्षाग्रहणक्रियायां योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि। 'थोस्सामि गुणधराणा'-मित्यादि। 'जातिजरोरुरोग' इत्यादि वा। अनन्तरं लोचकरणं, नामकरणं, नाग्न्यप्रदानं, पिच्छप्रदानं च। अथ दीक्षानिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि।

दीक्षादानोत्तरकर्त्तव्यनिरूपणम्—

पंच य महव्वयाणि समिदीवो पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचे विंदियरोहा छब्बी आवासया लोचो।
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयनमदंतघंसणं चेव।
ठितिभोयणेय भत्तं मूलगुणा अट्ठवी साधुः [2]॥ (मूलाचार, ४-५)

---

१. *लिंग—अर्थात् मुनिमुद्रा प्रदान करने की विधि में सिद्धभक्ति, योगभक्ति और बृहद् भक्ति का पठन करना चाहिए। सर्वप्रथम सिद्धभक्ति पढ़ते हुए विधि का शुभारंभ किया जाता है और इसमें केशलोंच, नामकरण एवं आचरणीय व्रतों, गुणोंका आख्यान, नग्नत्व और पिच्छिग्रहणविधियाँ मंत्रपूर्वक सम्पादित की जाती हैं। 'नीतिसार' में इस आशय का श्लोक है—*

'अचेलत्वं शिरःकूर्चलोचोऽधः केशधारणम्।
निराभरणताऽच्छिन्नदेहता पिच्छधारणम्॥ ७५॥

२. *मुनि के अट्ठाईस मूलगुण मूलाचार में इस प्रकार बताये गये हैं। पाँच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) महाव्रत, पाँच (ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदान और निक्षेपण) समितियाँ, पाँच (त्वचा, जिह्वा, नासा, नेत्र और श्रोत्र) इन्द्रियों का निरोध, छह (सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग) आवश्यकक्रिया, केशलोंच, अस्नान, भूशयन, अदन्तघर्षण, स्थितिभोजन, एकभुक्ति और अचैलक्य (ये मुनि के मूलगुण हैं।)*

मुनेरष्टाविंशतिमूलगुणाः —

१. पंचमहाव्रतानि :—अहिंसा, सत्यं, अचौर्यम्, ब्रह्मचर्यम् अपरिग्रहश्च ।

२. पंचसमितयः :—ईर्याभाषैषणोत्सर्गादाननिक्षेपणाख्याः ।

३. पंचेन्द्रियनिरोधः—स्पर्शरसघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पंचेन्द्रियाणि ।

४. षडावश्यकक्रियाः :—सामायिकस्तुतिवन्दनप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान कायोत्सर्गः ।

५. सप्त प्रकीर्णकानि :—केशोत्पाटनम्, अचेलक्यम्, अस्नानम्, क्षितिशयनम्,
अदन्तधावनम्, स्थितिभोजनम्, एकभुक्तिश्चेति,
इत्यष्टाविंशतिमूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात् प्रतिक्रमम् ॥

लोचक्रिया— लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः[१] ॥

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गंकरोमि । 'तवसिद्धे' इत्यादि ।

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियायां योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोमि । (अनन्तरं स्वहस्तेन परहस्तेन वापि लोचः कार्यः ।)

अथ लोचनिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोमि । 'तवसिद्धे' इत्यादि । अतोऽनन्तरं प्रतिक्रमणं कर्त्तव्यम् ।

बृहद् मुनिदीक्षाविधिः

दीक्षकः पूर्वदिने भोजनसमये भाजनादितिरस्कारविधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छेत् । ततो बृहत्प्रत्याख्यान-प्रतिष्ठापने सिद्धयोगभक्ती पठित्वा गुरुपार्श्वे सोपवासं प्रत्याख्यानं गृहीत्वा, आचार्यशान्तिसमाधिभक्तीः पठित्वा गुरुं प्रणमेत्[२] ।

अथ दीक्षादिने —दीक्षादातृजनः शान्तिकगणधरवलयपूजादिकं यथाशक्ति कारयेत् । अथ दाता दीक्षाभिलाषुकं स्नानादि कारयित्वा यथायोग्यालंकारयुक्तं महामहोत्सवेन चैत्यालये समानयेत् । स च देवशास्त्रगुरूणां पूजां विधाय वैराग्यभावनापरः सर्वैः सह क्षमां कृत्वा गुरोः समक्षं तिष्ठेत् । ततः गुरोरग्रे संघस्याग्रे च दीक्षार्थं याञ्चां कृत्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्रीविहितस्वस्तिकोपरि सितसिचयं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वदिशाभिमुखः पर्य-

---

१. *केशों की लोचक्रिया दो महीनों में करना श्रेष्ठ है, तीन महीनों में मध्यम है और चार महीनों में अधम है । केशलोचक्रिया लघुभक्तियों के पठनपूर्वक करनी चाहिए तथा उपवाससहित प्रतिक्रमण लेना चाहिए ।*

२. *दीक्षार्थी दीक्षा के पूर्व दिन भोजन के समय भोज्यपात्रों का परित्याग करके पाणिसम्पुट में ही आहार लेकर चैत्यालय में प्रवेश करे । इसके पश्चात् बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापन में सिद्धभक्ति एवं योगभक्ति पढ़कर गुरु के समीप उपवाससहित प्रत्याख्यान ग्रहणकर पश्चात् आचार्यशान्ति-समाधिभक्ति पढ़कर गुरु को प्रणाम करे ।*

कासनं कृत्वा आसीत । गुरुश्चोत्तराभिमुखो भूत्वा संघं परिपृच्छ्य लोचं कुर्यात् ।[1] सिद्धभक्तिं योगभक्तिं च पठेत् । यदि पर्याप्तसमयो नाधिगम्यः स्यात् तदा निम्नांकितममुं पाठं ब्रूयात् —

'बृहद्दीक्षायां लोचस्वीकारक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजा-वन्दनास्तवसमेतं श्रीमद्योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् ।' इति पठित्वा 'णमोकार' मन्त्रस्य नव वारान् जपं कुर्वीत । केशलोचसमये सिद्धभक्तिं च वदेत्।

शान्तिमन्त्रः

ॐनमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असिआउसा अमुकस्य (दीक्षा-ग्रहीतुः) सर्वशान्तिं कुरु २ स्वाहा ।'

इत्यनेन मंत्रेण गन्धोदकादिकं वारत्रयं मंत्रयित्वा शिरसि निक्षिपेत् ।

शान्तिमंत्रेण गन्धोदकं त्रिः परिषिच्य मस्तकं वामपाणिना स्पृशेत' ।[2]

वर्द्धमानमन्त्रः

ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्सचक्कं जलंतं गच्छई आयासं लोयाणं जये वा विवादे वा थंभणे वा रणंगणे वा रायंगणे वा मोहेण वा सव्वजीव सत्ताणं अपराजिदो भवदु रक्ख-रक्ख स्वाहा ।' इति वर्द्धमानमन्त्रः

ततो दध्यक्षतगोमयभस्मदूर्वांकुरान् वर्द्धमानमंत्रेण मस्तके निक्षिपेत् [3]।

---

१. *दीक्षाविधि के दिन दीक्षाविधि को यथाविधि सम्पन्न करानेवाले श्रावक यथाशक्ति शान्तिक एवं गणधरवलय इत्यादि का पूजन करावें । इसके पश्चात् दीक्षादाता दीक्षार्थी को स्नान आदि करवाकर यथायोग्य वस्त्रालंकार पहनाकर महामहोत्सव (समारोह) के साथ चैत्यालय में ले आवे । वहाँ दीक्षार्थी देव, शास्त्र और गुरु की पूजा करके वैराग्यभाव से आपूर्यमाण होकर सर्व गृहस्थों एवं स्वकुटुम्बजनों से क्षमायाचना करे एवं स्वयं सबको क्षमा प्रदान करे । पश्चात् गुरु के सम्मुख आकर बैठ जाए । अनन्तर गुरु और संघ के समक्ष दीक्षा के लिए याचना करे । (अनुमति मिलने पर) गुरु की आज्ञा से सौभाग्यवती महिला द्वारा बनाये गये चावल के स्वस्तिक पर श्वेतवस्त्र डालकर (बिछाकर) पूर्वाभिमुख होकर पर्यंकासन से बैठ जाए । उस समय गुरु संघ से पूछकर (अनुमति लेकर) उत्तर की ओर अभिमुख होकर दीक्षार्थी का केशलोंच करे ।*

२. *इस शान्तिमंत्र का पाठ करते हुए आचार्य गन्धोदक को तीन बार अभिमंत्रित करके दीक्षक के मस्तक पर डाले और शान्तिमंत्र से गन्धोदक को तीन बार मस्तक पर सिंचित करने के पश्चात् दीक्षक के मस्तक का अपने बायें हाथ से स्पर्श करे ।*

३. *इस वर्धमान मंत्र को पढ़कर आचार्य दीक्षक के मस्तक पर दधि, अक्षत, गोमयभस्म और दूर्वांकुरों को डाले ।*

मंत्र:–'ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमांगाय ज्योतिर्मयायं मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलज्ञानाय असिआउसा स्वाहा ।'
इमं मंत्रमुच्चार्य भस्मपात्रं गृहीत्वा कर्पूरमिश्रितं भस्म शिरसि निक्षिप्य निम्नांकितम् मंत्रमुदीर्य प्रथमं केशोत्पाटनं कुर्यात् ।[1]
मन्त्र:– 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं असिआउसा स्वाहा ।' पुन:

ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो नम: ।
ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नम: ।
ॐ ह्रूं पाठकेभ्यो नम: ।
ॐ ह्र: सर्वसाधुभ्यो नम: ।

इति समुच्चारयन् गुरु: स्वहस्तेन पंचवारान् केशानुत्पाटयेत् । पश्चात् निम्नांकितं पाठं पठेत्[2] ।

'बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भाव-पूजा वन्दनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् ।' इति नव वारान् महामन्त्रं जपेत् [3]।

लघुसिद्धभक्ति:–इच्छामि भन्ते ! सिद्धभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्स लोचेउं सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचारित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमच्छयंमि पयट्ठियाणं तवसिद्धाणं संजमसिद्धाणं णय सिद्धाणं अतीताणागदट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं सव्वसिद्धाणं सया णिच्च कालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइ गमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं । इति ।

तत: शीर्षं प्रक्षाल्य गुरुभक्ति दत्वा वस्त्राभरणयज्ञोपवीतादिकं परित्यज्य तत्रैवावस्थाय दीक्षां याचेत । गुरुश्च शिरसि श्रीकारं लिखित्वा 'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा इति स्वाहा'–ह्रीं मन्त्रस्याष्टोत्तरशत (१०८) जाप्यमादिशेत् । जपानन्तरं च गुरु: शिष्यस्याञ्जलौ केसरकर्पूरश्रीखण्डसाधितद्रव्येण श्रीकारं कुर्यात् । श्रीकारस्य चतुर्दिक्षु

'रयणत्तयं च वंदे चउवीसजिणं तहा वंदे ।
पंच गुरूणं वंदे चारण जुगलं तहा वंदे ।'

इति पठन् पूर्वस्यां ३ दक्षिणदिशि २४ पश्चिमायां ५ उत्तरस्यां २ अंकान् लिखित्वा 'सम्यग्दर्शनाय नम:, सम्यग्ज्ञानाय नम:, सम्यक्चारित्राय नम:' इति पठन्

---

१. उल्लिखित मंत्र पढ़कर भस्मपात्र को हाथ में लेकर कर्पूरमिश्रित भस्म को मस्तक पर डालकर निम्नलिखित मंत्रोच्चारण करते हुए केशलोंच करे।

२. इस प्रकार उच्चारण करते हुए गुरु अपने हाथ से दीक्षक के केशों को पांच बार उत्पाटित करे ।

३. इस प्रकार नौ बार महामंत्र का जाप करे ।

तन्दुलैरंजलिं पूरयेत् । तदुपरि नालिकेरं पूगीफलं च धृत्वा सिद्धचारित्रयोगभक्तीः पठित्वा व्रतादिकं दद्यात् [१]।

अथ सिद्धभक्तिचारित्रभक्तियोगभक्तिपाठः—

'वद समिदिंदं रोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतधवणंठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥'

'पंचमहाव्रतपंचसमितिपंचेन्द्रियनिरोधलोचषडावश्यकक्रियादयोऽष्टाविंशतिमूलगुणा, उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः, अष्टादश शीलसहस्राणि, चतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति सकलसम्पूर्णमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिकं सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं समारूढं ते मे भवतु ।' इत्यमुं पाठं वारत्रयमुच्चार्य व्रतव्याख्यां शिष्याय सम्यग् विज्ञाप्य व्रतादि दद्यात् शान्तिभक्तिं च पठेत् । ततश्चाधोलिखितमाशीःश्लोकं पठित्वा अंजलिस्थ-तण्डुलादिकं दात्रे प्रदेयम् [२]।

आशीःश्लोकः—

'धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥'

अथ षोडशसंस्कारारोपणम्

१. अयं सम्यग्दर्शनसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
२. अयं सम्यग्ज्ञानसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
३. अयं सम्यक्चारित्रसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
४. अयं बाह्याभ्यन्तरतपःसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

---

१. *इसके पश्चात् दीक्षाग्रहण करने वाला अपने सिर का प्रक्षालन कर गुरुभक्ति पढ़कर वस्त्राभूषण, यज्ञोपवीत आदि का परित्यागकर वहीं स्थित होकर गुरु महाराज से दीक्षा के लिए प्रार्थना करे । तब आचार्य (गुरु) दीक्षक के मस्तक पर 'श्री' शब्द लिखकर 'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा ह्रीं स्वाहा' मंत्र का १०८ जाप्य देवें । जाप्य के पश्चात् दीक्षक की अंजलि में केसर, कपूर और श्रीखण्ड से 'श्री' लिखें और 'श्री' के चारों ओर 'रत्नत्रयं वन्दे' यह श्लोक पढ़ते हुए पूर्व में ३, दक्षिण में २४, पश्चिम में ५ और उत्तर में २ अंकों को लिखें । पुनः 'सम्यग्दर्शनाय नमः' इत्यादि पढ़ते हुए गुरु तन्दुलों से दीक्षा-ग्रहीता की अंजलि भर दें और ऊपर नारियल, सुपारी रखकर सिद्धचारित्रयोगभक्ति पढ़कर व्रत आदि प्रदान करें ।*

२. *ऊपर दिये हुए 'सिद्धभक्तिचारित्रभक्तियोगभक्ति' पाठ को तीन बार पढ़कर शिष्य को व्रतों की समुचित व्याख्या समझाकर व्रत दें और शान्तिभक्ति का पाठ करें । पश्चात् आशीर्वाद श्लोक का उद्घोषकर दीक्षाग्रहीता की अंजलि में स्थित तण्डुलादि दाता-श्रावक को देना चाहिए ।*

५. अयं चतुरंगवीर्यसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
६. अयं अष्टमातृमण्डलसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
७. अयं शुद्ध्यष्टकोष्टसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
८. अयं अशेषपरीषहजयसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
९. अयं त्रियोगासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१०. अयं त्रिकरणासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
११. अयं दशासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१२. अयं चतुःसंज्ञानिग्रहशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१३. अयं पंचेन्द्रियजयशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१४. अयं दशधर्मधारणशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१५. अयं अष्टादशसहस्रशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१६. अयं चतुरशीतिलक्षगुणसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

(इति प्रत्येकमुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पाणि निक्षिपेत्) । ततो वक्ष्यमाण मंत्रेण शिरसि पुनः पुष्पाणि विकिरेत् । मन्त्रः—

'ॐणमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं । ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हंस हं स हं ह्रां ह्रं ह्रीं ह्रौं ह्रः जिनाय नमः जिनं स्थापयामि सं वौषट् ।'

अथ गुर्वावलिः

स्वस्ति श्रीमहावीरनिर्वाणाब्दे तमे २५०२ मासानामुत्तमे मासि—पक्षे—तिथौ—वासरे मलसंघे सरस्वतीगच्छे सेनगणे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यपरम्परायां गुरुश्री—तच्छिष्यश्री—शिष्यस्य शिष्यः '..................' नामधेयस्त्वमसि ।

अथ पिच्छोपकरणप्रदानम्

ॐणमो अरहंताणं । भो अन्तेवासिन् । षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवसौकुमार्यरजःस्वेदाग्रहलघुत्वपंचगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण २ । इति पिच्छिकादानम् ।

अथ शास्त्रदानम्

ॐणमो अरहंताणं । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांगश्रुताय नमः । भो अन्तेवासिन् ! इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाण । इति शास्त्रदानम् ।

अथ शौचोपकरणदानम्

ॐणमो अरहंताणं । रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तरमलशुद्धाय नमः । भो अन्तेवासिन् ! इदं शौचोपकरणं गृहाण २ । इति गुरुः वामहस्तेन कमण्डलुं दद्यात् ।

लघुसमाधिभक्तिः

इच्छामि भन्ते ! समाहिभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सा लोचेउं रयणत्तयरूवपरमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमस्सामि । दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

ततो नवदीक्षितो मुनिर्गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्य अन्यान् मुनीन् प्रणम्योपविशति। यावद् व्रतारोपणं न भवति तावदन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां न ददति[1]।

ततो दातृप्रमुखा जना उत्तमफलानि अग्रे निधाय तस्मै 'नमोऽस्तु' इतिप्रणामं कुर्वन्ति[2]।

ततस्तस्मिन् पक्षे द्वितीयपक्षे वा सुमुहूर्ते व्रतारोपणं कुर्यात्। तदानीं रत्नत्रयपूजां निर्वर्त्य पाक्षिकप्रतिक्रमणपाठः पठनीयः। ततः पाक्षिकनियमग्रहणात् पूर्वं यदा 'वदस-मिदी'त्यादि पठ्यते तदा पूर्ववत् व्रतादि दद्यात्। नियमग्रहणसमये यथायोग्यमेकं तपो दद्यात्। (पल्यविधानादिकं) दातृप्रभृतिश्रावकेभ्योऽपि एकमेकं तपो दद्यात्। ततोऽन्ये मुनयः प्रतिवन्दनां ददति[3]।

मुखशुद्धिमुक्तकरणविधिः

त्रयोदशसु पंचसु तिसृसु वा कच्चोलिकासु लवंगैलापूगीफलादिकं निक्षिप्य ताः कच्चोलिका गुरोरग्रे स्थापयेत्। 'मुखशुद्धिमुक्तकरणपाठक्रियाया'– मित्याद्युच्चार्य सिद्धयोगाचार्यशान्तिसमाधिभक्तीर्विधाय ततःपश्चात् मुखशुद्धिं गृहणीयात्[4]।

अथ क्षुल्लकदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षायांसिद्धयोगाशान्तिसमाधिभक्तीः पठेत्। तत्र 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नमः' इत्यनेन मन्त्रेण एकविंशतिवारान् अष्टोत्तरशतवारान् वा जाप्यं दीयते।

अन्यच्च विस्तरेण लघुदीक्षाविधिः

अथ लघुदीक्षाग्रहीता (ग्रहीत्री वा) दातारं संस्थापयति। ततो दाता यथायोग्य-मलंकृतं कृत्वा चैत्यालये समानयेत्। देवं वन्दित्वा सर्वैः सह क्षमाविधिं समाप्य गुरोः समक्षं दीक्षां याचित्वा तदाज्ञया सौभाग्यवतीस्त्रीविरचितस्वस्तिकोपरि श्वेतवस्त्रं प्रच्छाद्य तत्र पूर्वाभिमुखः पर्यंकासनो गुरुश्चोत्तराभिमुखः संघं परिपृच्छ्य लोचं

१–२. *समाधिभक्ति पढ़ने के अनन्तर नवदीक्षाप्राप्त मुनि 'गुरुभक्ति' द्वारा गुरु को प्रणाम कर एवं अन्य समुपस्थित मुनियों को प्रणाम कर बैठ जाए। जबतक व्रतों का आरोपण नहीं हो, तबतक अन्य मुनि उस नवदीक्षित मुनि को प्रतिवन्दन नहीं करें। इसके पश्चात् दाताओं में प्रधान श्रावक उत्तमोत्तम फलों को नवदीक्षित मुनि के सम्मुख रखकर 'नमोऽस्तु' कहकर प्रणाम करें।*

३. *इसके पश्चात् उसी पक्ष में अथवा द्वितीय पक्ष में शुभ मुहूर्त में व्रतों का आरोपण करे। उस समय 'रत्नत्रय' पूजा के अनन्तर पाक्षिक प्रतिक्रमण पाठ पढ़ना चाहिए। पाक्षिक नियमों के ग्रहणसमय से पूर्व जब 'व्रतसमिति' इत्यादि पाठ पढ़ा जाए, तब पूर्ववत् व्रत इत्यादि देने चाहिए। नियमग्रहण के समय यथायोग्य एक तप देना चाहिए। दाता-श्रावकों के लिए भी एक-एक तप देना चाहिए। इसके पश्चात् मुनि प्रतिवन्दन करते हैं।*

४. *तेरह, पाँच अथवा तीन कटोरियों में लवंग, एला, सुपारी आदि रखकर उन्हें गुरु के सम्मुख रखें। नवदीक्षित मुनि महाराज 'मुखशुद्धिमुक्तकरणपाठक्रियायाम्' इत्यादि पाठ का उच्चारण करते हुए सिद्ध-योग-आचार्य-शान्ति-समाधिभक्ति पढ़कर पश्चात् मुखशुद्धि ग्रहण करें।*

कुर्यात् । 'ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्व-क्षामडामरविनाशनाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असिआउसा अमुकस्य सर्वशान्तिं कुरु कुरु स्वाहा' अनेन मन्त्रेण गन्धोदकादिकं त्रिवारं शिरसि निषिंचेत् । शान्तिमंत्रेण गन्धोदकं त्रिः परिषिच्य वामहस्तेन मस्तकं स्पृशेत् । ततो दध्यक्षतगोमयभस्मदूर्वांकुरान् मस्तके वर्द्धमानमंत्रेण निक्षिपेत् । 'ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्से'त्यादि वर्द्धमानमन्त्रः पूर्वं लिखितः । लोचादिविधिं महाव्रतं च निर्वर्त्य, प्रदाय सिद्धभक्ति योगभक्ति च पठित्वा व्रतं दद्यात् ।

ततः—दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्तेय ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ।।

—(गोम्मटसार, ४७७)

इत्यादि वारत्रयं पठित्वा व्याख्याय गुर्वावलिं पठेत् । ततःसंयमाद्युपकरणानि दद्यात् ।

ॐणमो अरहंताणं । भो क्षुल्लक ! (क्षुल्लिके ! वा) षड्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छोपकरणं गृहाण गृहाण इत्यादि पूर्ववत् ज्ञानोपकरणं शौचोप-करणं च मंत्रपूर्वकं दद्यात् ।

इति लघुदीक्षाविधानं समाप्तम्

दीक्षानक्षत्राणि

प्रणम्य शिरसा वीरं जिनेन्द्रममलव्रतम् ।
दीक्षा-ऋक्षाणि वक्ष्यन्ते सतां शुभफलाप्तये ।।१।।
भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघाचित्राविशाखिकाः ।
पूर्वाभाद्रपदाभानि रेवती मुनिदीक्षणे ।।२।।
रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्रपत्तथा ।
स्वातिः कृत्तिकया सार्धं वर्ज्यते मुनिदीक्षणे ।।३।।
अश्विनीपूर्वफाल्गुन्यौ हस्तस्वात्यनुराधिकाः ।
मूलं तथोत्तराषाढा श्रवणः शतभिषा तथा ।।४।।
उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशयाः ।
आर्यिकाणां व्रते योग्यान्युशन्ति शुभहेतवे ।।५।।
भरण्यां कृत्तिकायां च पुष्ये श्लेषार्द्रयोस्तथा ।
पुनर्वसौ च नो दद्युरार्यिकाव्रतमुत्तमाः ।।६।।
पूर्वाभाद्रपदा मूलं धनिष्ठा च विशाखिका ।
श्रवणश्चैषु दीक्ष्यन्ते क्षुल्लकाः शल्यवर्जिताः ।।७।।

इतिदीक्षानक्षत्रपटलम्

दीक्षा क्यों ?

संसार में सामान्य और विशेष दो श्रेणिविभाग सदा से हैं। सामान्य जाति-परक और विशेष व्यक्तिबोधक है। जो छात्र विश्वविद्यालयों से उत्तीर्णता का प्रमाणपत्र पा लेते हैं; वे शिक्षाक्षेत्र में प्रमाणपत्र न पानेवालों से विशेष हो जाते हैं। यह प्रक्रिया उत्तम और अवर की विभाजक रेखा है। मन्दिरों में देवप्रतिमा के समक्ष जो भक्ति, विनय, श्रद्धा, स्तुति आराधन किया जाता है वह सामान्य तद्रूप आपणिक मूर्तियों का नहीं किया जाता; क्योंकि मन्दिर की प्रतिमा का शास्त्रविधि से संस्कार किया गया है और मंत्रों की अनन्त शक्ति से उसकी प्रतिष्ठा हुई है। दीक्षा भी सामान्य व्यक्तिस्तर से ऊपर को उठाने में शास्त्रद्वारा विहित है। जब दीक्षा-ग्रहण करने के लिए किसी के हृदय में प्रेरणा उठती है वह भव्यात्मा दीक्षायोग्य बनने का सतत् यत्न करता है। अपने-आप को आत्मनिरीक्षण से वैराग्यमय जानकर वह योग्य गुरु के समक्ष दीक्षाप्रार्थी होता है। जब परीक्षण में उत्तीर्ण होकर वह दीक्षाविधि से त्यागी बनता है, तब उसे तीन प्रामाणिक अनुमोदन मिलते हैं—शास्त्रानुमोदन, परम्परानुमोदन और लोकानुमोदन। शास्त्र उस स्थिति के विरागी व्यक्ति को त्यागी होने के लिये स्वीकृति देते हैं और दीक्षाविधि द्वारा परम्परानुसार उसे संघ के समक्ष दिगम्बरत्व दिया जाता है। इन विधियों के पश्चात् लोक उसे अपना गुरु स्वीकारता है और सामान्य जनों से विशिष्ट उसकी मान्यता, मर्यादा और अभिनन्दनीयता लोकप्रचलित होती है। इसीलिए स्वभावतः पवित्र आचरणशील व्यक्ति ही दीक्षा लेते हैं। यद्यपि दीक्षा लेने से पूर्व भी वे साधुचरित होते हैं, तभी तो उन्हें उस मार्ग की स्वीकृति मिलती है, तथापि लोक में शास्त्र ने जिस व्यावहारिक पद्धति का पालन बताया है, उसके पालने से संस्कृति की सहस्रों वर्षों से चली आई परम्परा के साथ उनका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते' यह लोकप्रसिद्ध है। यह 'मुद्रा' परम्परानुसारी शास्त्रपद्धति से ही प्राप्त हो सकती है। यदि यह बन्धन न रखा जाए तो कोई भी स्वच्छन्दता से दिगम्बर वेश धारण कर इसकी मूल मर्यादाओं के साथ स्वैर व्यवहार कर सकता है। अतः विधि द्वारा ग्रहण किया हुआ दिगम्बरत्व इस बात का प्रमाण है कि वह जिनेन्द्र भगवान् के मूल धर्म का अनुगामी है, उन शास्त्र-बन्धनों से नियंत्रित है। □

सल्लेखना

इस संसार में जन्मजयन्तियाँ मनाने की प्रथा है। कांसे बजाकर नवजात शिशु का स्वागत किया जाता है और प्रतिवर्ष उस जन्मदिन का समारोह आयोजित किया जाता है; क्योंकि सभी जीवन को प्यार करते हैं। प्रत्येक प्राणी अधिक-से-अधिक जीवित रहना चाहता है। 'शतं जीव' कहकर वृद्धजन आशीर्वाद देते हैं। साधारण रोग होने पर तुरन्त उपचार-व्यवस्था की जाती है। अधिक विस्तार से क्या? संसार के सारे व्यापार जीने के लिए हैं। औषधियों, रस-रसायनों का सेवन जीवन के लिए है। आमोद-प्रमोद के साधन जीवन को सुखमय बनाने के लिए हैं। नगर, गली, बाजार और घर जीवन के विचरण-स्थान हैं। मनोरंजन के, प्रसाधन के तथा भोगोपभोगों के अनेक उपादान जीवन के लिए हैं। जीवित व्यक्ति अपने विलास के लिए नाना सुखसुविधापूर्ण आविष्कारों का निर्माण करता है और उनमें रमण करता है। मृत्यु को जीवन का आवश्यक परिणाम जानकर भी वह इससे दूर रहने की चेष्टा करता है और अपनी कोशिशों से मन को मिथ्या-आश्वासन देता रहता है कि 'मैं कभी नहीं मरूँगा'; परन्तु खिला हुआ पुष्प और पका हुआ फल डाल पर लगे नहीं रह सकते। सूर्य भी अस्तगमन से विमुख नहीं हो पाता और चन्द्रमा को भी अमावस्या के कालमुख में विलीन होना पड़ता है। जन्म और मृत्युरूप कालचक्र से बचना असम्भव है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—उत्पन्न होने वाले की मृत्यु निश्चित है। कोई धनिक इतनी भारी रिश्वत नहीं दे सका, जिससे मृत्यु से बच निकला हो। दण्डधर यमराज का न्याय अटल है। जिसके विषय में कबीर ने कहा है—

> 'माली आवत देख करि कलियाँ करी पुकार।
> फूले-फूले चुन लिये काल्हि हमारी वार ॥'

आयुःकर्म शेष होने पर एक क्षण के लिए भी जीवित रहना अशक्य है। आधा श्वास भी अधिक नहीं मिल सकता। कोई औषधि, कोई मूल्य (शुल्क) इसके प्रतिदान में नहीं लिया जा सकता। प्रकृति के इसी नियम ने धनिकों, शूरवीरों, सम्राटों तथा सामान्य-विशेष सभी का दर्पदलन किया है। 'आसपास जोधा खड़े बहुरि बजावें गाल। मंझ महल से ले चला ऐसा काल कराल।' किसी बड़े शासक की मृत्यु हो रही थी। बड़े-बड़े युद्धवीर, चिकित्सक डींग मार रहे थे। काल से लड़नेवाले योद्धा स्वामिभक्ति प्रदर्शित करते हुए कह रहे थे—हमारे रहते काल नहीं ले जा सकता। चिकित्सक कहते थे—महाराज! यह संजीवनी है; किन्तु राजा को देखते-देखते काल हरण कर ले गया। काल से कोई नहीं लड़ सकता और अकेला काल सम्पूर्ण जीवधारियों से अनादिकाल से लड़ रहा है। काल को परास्त करने के लिए किये गये सभी उपाय निरर्थक हुए हैं। भर्तृहरि ने काल की इसी दुर्वार सत्ता को श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक प्रकरण से बाँधते हुए लिखा है—जिसकी पूर्ण सम्भावना थी वह दूर हो रहा है और जिसको सोचा नहीं था वह पास आ गया है।

अहो! प्रातःकाल जो मैं नृपचक्रवर्ती होने वाला था किन्तु जटा धारणकर वनगमन कर रहा हूँ[1]। काल का यह कटाक्ष कितना विलक्षण और क्रूर है। सच है, 'काल अघटित को घटित करता है और अच्छी प्रकार जिसके होने की निश्चयता है उसे जर्जर कर देता है। विधि (काल) उन घटनाओं को चरितार्थ कर दिखाता है जिनकी मनुष्य ने कल्पना भी नहीं की हो।' अहो! 'बड़ा विकट यमघाट' यम का घाट बड़ा विकट है। यहाँ सभी को आना पड़ता है। काल (आयु) समाप्ति पर काल (मृत्यु) अवश्य आ पहुँचता है। 'रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति'—बीच कुएँ में जब रस्सी टूट गई तो उस घड़े को कौन थाम सकता है? मरने वाले के श्वाससूत्रों को यमराज झटककर तोड़ देता है। जो लोग जन्म-वेला पर कांसे बजाना ही जानते हैं उन्हें इस मरणवेला पर बजाने के लिए कोई वाद्य नहीं मिलता। मृत्यु की कल्पनामात्र से भयभीत होने वाले उसे प्रत्यक्ष उपस्थित जानकर विकल हो जाते हैं। मरने से पूर्व ही मर जाते हैं और छाती कूट-कूट कर रोने लगते हैं। इस संसार के सुखों की स्मृति उन्हें बेचैन कर देती है। काश, 'मैं कुछ और जी लेता' यह भावना उनका साथ नहीं छोड़ती। मृत्युशैया को घेरकर खड़े हुए स्वजनों में उसका मन झाड़ी के कांटों में उलझे अंचल के समान अटक-अटक जाता है। वह सोचता है, डॉक्टर का इंजेक्शन, वैद्यराज की औषधि मुझे नीरोग कर देगी! परन्तु लोक में जन्ममरण के निश्चित क्रम को देखते हुए उसकी अन्तरात्मा कहती है। मूर्ख! क्यों अपने को भुलावा देता है? क्या करेंगे ये वैद्य और डॉक्टर! डरने से कोई मृत्यु को टाल सका है? मृत्यु से बचने का उपाय तो एक ही है कि जन्म ही न हो। जब जन्म नहीं होगा तो मृत्यु किसकी[2]?

नित्य मरने और जन्म लेनेवाले संसारी इस बात से चौंक उठते हैं कि क्या जन्म लेना और न लेना अपने वश में है? अध्यात्मशास्त्रों का कथन है कि 'हाँ! जन्म न लेना अपने वश में है।' सम्पूर्ण जैनशास्त्र इसी अपुनर्भव के निरूपण से ओतप्रोत हैं। वह आत्म-दर्शन द्वारा संसार के अस्थिर भोगों के त्याग की शिक्षा देता है और शाश्वत परमात्मपद के मार्ग को बताता है। उस मार्ग से प्राणी मृत्यु को जीतकर मोक्षगामी बनता है। 'मृत्यु' का व्याकरणशास्त्र में अर्थ है—प्राणों का त्याग और मोक्ष का अर्थ है—मुक्ति। 'प्राणत्याग' शब्द में शरीर से प्राणों के अलग होने की ध्वनि है और मुक्ति में छुटकारे का भाव व्यक्त होता है। अतः प्राण-वियोगवाचक मृत्यु का परिणाम पुनर्जन्म और पुनर्जन्म का अन्त पुनर्मृत्यु है। यह पुनर्जन्म का चक्र मोक्षहोने से पूर्वतक चलता रहता है। भगवान् जिनेन्द्र की वाणी पर सम्यक् आचरण करने से आवागमन का अन्त हो जाता है। शरीरजन्य से वह मृत्यु अन्तिम मृत्यु होती है और उसे मृत्यु न कहकर मुक्ति कहना अधिक उपयुक्त है। 'मैं शरीर नहीं हूँ आत्मा हूँ'—यह तत्त्वार्थसन्धान से जानकर, कर्मक्षय कर जो 'समाधिमरण' लेता है, वह जन्ममृत्युपाश से मुक्त हो जाता है। यमराज के मृत्युपाश को वही काट

१. 'यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥'

२. 'मृत्योर्विभेषि किं मूढ! न स भीतं विमुंचति।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥'

सकता है। आगम की भाषा में इस समाधिमरण को 'सल्लेखना' कहते हैं। 'भाव-संग्रह की उक्ति है कि जब शरीररूप परपदार्थ को त्यागने की इच्छा से जीव आत्मनिष्ठ होकर मित्रों, पत्नी-पुत्रों, धन-वैभव, भौतिक सुखादि से मोह छोड़कर पंचपद (णमोकार स्मरण करते हुए मरणव्रत लेता है, महामुनियों ने उसे 'सल्लेखना' कहा है* ।

नामान्तर से इसे 'स्वेच्छामृत्यु' कह सकते हैं। जब पूर्ण वीतरागता का चरम उद हो और शरीररूप परपदार्थ से भी बन्धन की अनुभूति होने लगे, तब निर्ग्रन्थ मुनि औ त्यागीजन 'सल्लेखना' द्वारा संसार के बन्धनसूत्र को सदा के लिए तोड़ देते हैं। किस मराठी कवि ने कहा है–'माझे मरण पाहीं एलेडोला, तो झाला सोहला अनुपम्य ।' अहो मैंने अपनी आँखों से अपनी मृत्यु को देख लिया। यह अनुपम महोत्सव है। ऐसे मृत्युमुख मोक्षगामी मरने के समय भी वाद्य बजाने जैसे उत्सवों की रचना कर देते हैं। जन्मवेल पर जो वाद्य बजाये जाते हैं वे तो बजानेवालों की प्रसन्नता के द्योतक हैं परन्तु समाधि मरण लेनेवाला तो अपने ऐहिक त्याग तपोमय जीवन के अन्तिम सन्ध्याकाल में, अप आचरणों का इतना विमल लोकमंगलकारी कृतित्व सम्मुख रख देता है कि कांसों की ध्वनि सार्थक हो जाती है। अपनी मृत्यु को आमंत्रित करना, उसे देखपाना असाधारण बात है लोग केवल जीवन को देखते हैं और जैसे कबूतर अपने पर झपटनेवाली बिल्ली के आक्रम को नहीं देखने के लिए आँखें मूंद लेता है, उसी प्रकार मृत्यु से आँख मूंदे रहते हैं; कि क्या बिल्ली आँख मूंदनेवाले कपोत को छोड़ देती है? अथवा क्या यमराज मृत्यु को या न करनेवालों को याद करना भूल जाता है? अत: वीर के सेवक मृत्यु को वीरता चुनौती देते हैं। वाह! उन्हें मृत्यु से कोई भय नहीं। स्वयं मृत्यु उनका स्पर्श करते हु भयत्रस्त होती है। मृत्यु संसारियों को भले त्रस्त करे, परन्तु श्रमण मुनियों को उसी अपने जीवनभर की त्याग, तपस्या, फलीभूत प्रतीत होती है।

'सल्लेखना' वीतरागता की कसौटी है। वह, मुनिधर्म सिंहवृत्ति है, इसकी घोषणा है इस पथ को दुर्बल पार नहीं कर सकते; जिन्होंने मदन के मद को गलित किया, परिग्र के बहुरंगी प्रलोभनों पर पाँव रक्खा, अब्रह्म को आजन्म चुनौती दी और पाणिपात्र भिक्षा होकर आत्मचिन्तन को सर्वोपरि माना, वे ही अनासक्तियोग के पालन करने वाले समा मरणव्रत लेते हैं। विषयकीट, इन्द्रियदास, परिग्रहों को परलोक तक साथ ले जाने क कल्पना करने वाले तो फूल की चोट से भी मुरझा जाते हैं। संसार की असारता त नाशवत्ता को पं. दौलतरामजी ने बहुत सशक्त तथा सीधे शब्दों में व्यक्त करते हुए लि हैं–'सुर, असुर, खगाधिप जेते मृग ज्यों हरि काल दलेते। मणि, मंत्र, तंत्र बहु होई म न बचावै कोई।' इस अशरण भावना को सदैव मन:प्रदेश पर अंकित रखने वाला मोह में नहीं फँसता। श्रमण मुनि इस अशरण भावना को सदा समक्ष रखते हैं। जब तक उन

---

* 'मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहम् ।
संस्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते सल्लेखना साऽभिहिता मुनीन्द्रैः'–भावसंग्रहः

धर्मध्यान, गुणपालन, महाव्रतों का संरक्षण निर्विघ्न होता है, वे मुनिव्रत पालन करते हैं और जिस क्षण उन्हें यह प्रतीति हो जाती है कि अब शरीर असाध्य रोगों से घिर गया है तब वे सल्लेखना लेकर शरीर छोड़ देते हैं। आचार्य समन्तभद्र के वचन हैं कि 'उपसर्ग होने पर, अकाल पड़ने पर, वृद्धावस्था में, अप्रतीकार्य रोगस्थिति में धर्मरक्षा करते हुए शरीर छोड़ने को आर्यों ने 'सल्लेखना' नाम दिया है'* ।

'सल्लेखना' के आध्यात्मिक रूप से अपरिचित लोग इसमें 'आत्महत्या' जैसे जघन्य अपशब्द की सम्भावना करते हैं। ऐसा मानने में उन आत्मवंचितों का उतना दोष नहीं, जितना उनके स्थूल जीवनदर्शन का। आत्मवादियों का जीवन-दर्शन तपोमय है और व्रत, उपवास, संयम-नियम उसके मुख्य अंग हैं; किन्तु जो संसार में केवल आहार-विहार के लिए ही जीवित हैं उनकी दृष्टि में नश्वर उपादानों से घोर प्रीति रखना ही प्रशंसनीय है। वे नखाग्र की चोट लगने पर कराह उठते हैं और छोटी-मोटी दुर्घटना हो जाए तब तो सगे-सम्बन्धियों तक तार-टेलीफोन भी पहुँच जाते हैं। उनका संसार भयस्थान है। उन्हें दिनभर में सैकड़ों भयप्रसंग उपस्थित होते हैं और इतने ही शोक के स्थान भी; परन्तु तत्त्वविमर्शक विवेकी इनसे परे रहता है। सात प्रकार के भयों से रहित होने के कारण उन्हें सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इहलोक, परलोक, आकस्मिक, अनुरक्षा, वेदना, मरण और अगुप्ति ये सात भय मनुष्य के पीछे लगे हुए हैं। मरणभय तो सर्वोपरि है; अत: जो त्यागी शरीर का त्याग करना चाहता है, उसके उदात्त आत्मिक मर्म को साधारण मृत्युभीत जान भी नहीं सकते। खूँटे गाड़कर खेमे लगाने की आदत यायावरों को नहीं होती; क्योंकि गड़े हुए खूँटे देशस्थिति बन्ध का मोह उत्पन्न कर देते हैं। सराय छोड़ते यात्री को, डाल छोड़ती चिड़िया को, पतझर में वृक्ष से अलग होते पत्तों को वियोग की अनुभूति नहीं होती। सूर्य को पूर्व-पश्चिम से कोई राग-विराग नहीं होता। वीतराग मुनि भी मोह-मूर्च्छा के परिवारों से दूर का सम्बन्ध भी नहीं रखते। वे संसार में सभी बन्धनों को छोड़ चुके होते हैं और अन्तिम बन्धन 'शरीर' को छोड़ने के लिए 'समाधिमरण व्रत' लेते हैं। यह व्रत परम वैराग्यधारी तपस्वियों को शोभा देने वाला है। जैसे रँहटकूप के पात्र पर्याय से रिक्त होते और भरते रहते हैं उसी प्रकार यह जीव कर्मकूप में डूबता और रिक्त होता रहता है। त्यागी इस शृंखला को वैराग्य के खड्ग से काट देते हैं; तथा स्वयं मृत्यु के डोले पर सवार हो जाते हैं। दार्शनिकों ने इस का बड़ा हृदयग्राही वर्णन उपस्थित किया है। जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर श्वसुराल जा रही हो, ऐसे मुक्त होते हुए आत्मा का निरूपण किया है। वे कहते हैं—'सजनि ! डोले पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।' यहाँ आत्मा को सजनी, अरथी को डोला, और मृत्यु को 'कहार' कहकर परिणीता वधू की श्वसुरगृह यात्रा का आनन्द मरण

---

* 'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः' ।।—आ. समन्तभद्र

के साथ तन्मय कर दिया है। वस्तुत: जिन्होंने कर्मबन्ध परिणाम के साथ अकला होते हुए जीवन को जान लिया है, उन्हें मोहान्धकार की घुटन में जीवन बिताना क्योंकर पसन्द आ सकता है? वीतराग मुनियों की चर्या दिगम्बरत्व से आरम्भ होती है और समाधिमरण में पर्यवसित होकर ही पूर्णता को प्राप्त करती है। साधु विधिपूर्वक मरणान्तक सल्लेखना करने का निश्चय रखते हैं*। ऐसे इस वीर मरण को आत्मघात कहने वाले हत्या और स्वेच्छामृत्यु के अर्थभेद से अपरिचित नहीं तो क्या हैं? आत्महत्या वह करता है जो परिस्थिति से पीड़ित है, उद्विग्न है, जीवन के लिए वाञ्छित संघर्ष करने की क्षमता नहीं रखता है; अथवा कलहप्रवृत्त है, किसी लोकनिन्दा से अभिभूत है। ऐसा व्यक्ति कूए में कूदकर, पहाड़ से गिरकर, फांसी लगाकर, विषप्रयोग द्वारा अथवा किसी शस्त्र से स्वयं आघात खाकर अपने जीवन को समाप्त करता है; किन्तु समाधिमरण में प्रवृत्त व्यक्ति इन दुष्ट दोषों से कातर होकर मरणव्रत नहीं लेता। वह प्रसन्नतापूर्वक कर्मजाल को तोड़ने के लिए, आत्मा की मुक्ति-अवस्था पाने के लिए तथा अविनश्वर आनन्द-समुद्र में निमग्न होने के लिए निश्चयपूर्वक शरीरत्याग की घोषणा करता है। वह किसी के ऋण से त्रस्त होकर, कलह में प्रवृत्त होकर अथवा किसी भी राग-द्वेष से उद्विग्न-आकुल होकर मरणप्रवृत्त नहीं होता। न वह शस्त्रच्छेद करता है न विषपान। आत्महत्या करने वाला शान्तिपूर्ण मरणयोजना नहीं बना सकता। वह तो आवेश में ऐसी मन:स्थिति में होता है कि तुरन्त मर जाना चाहता है। ऊँचाई से कूदना या कपड़ों में आग लगा लेना इस अविवेककारिता के लक्षण हैं। यदि उसे कुछ समय मृत्युनिश्चय से रोक लिया जाए तो वह शान्तचित्त होने पर आत्महत्या के उपाय नहीं अपना सकता; किन्तु समाधि से देहत्याग करने वाला तो शान्तचित्त से ही उस व्रत का आरम्भ करता है। आत्मवध करनेवाले का आत्मबल क्षीण होता है और समाधिमरण वाले का आत्मबल बढ़ा हुआ। आत्महत्या के समय कषाय बढ़े हुए होते हैं और समाधि के समय मन्द, क्षीण। कभी-कभी यौन सम्बन्धों को लेकर, वासना से प्रेरित होकर लोगों को आत्महत्या करते सुना है। परन्तु समाधिमरण में सांसारिक विषयों का लेश भी शेष नहीं होता। संक्षेप में, यह कि आत्मघाती नरकायु का बन्ध करता है और समाधिव्रती के सभी शुभाशुभ बन्धन नष्ट हो जाते हैं। आत्महत्या में किसी-न-किसी के प्रति मरने वाले का आक्रोश होता है और वीरमरण अंगीकार करने वाले का मन सबके प्रति क्षमाभाव से ओतप्रोत तथा आत्मलीन रहता है। समाधिमृत्यु को अंगीकार करनेवाला पढ़ता है—'रागद्वेषमोहरहितोऽहम्' इत्यादि। श्रीमाघनन्दी आचार्य के द्वारा विरचित ध्यानसूत्रों का एक-एक पद वीतरागभाव को बढ़ाकर देहमोह का नाश करने वाला है। समाधिमरण के समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, इन चार आराधनाओं को सुनाने का विधान है। दर्शन-आराधना

---

* *'सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम्।*
अवश्यमित्यद: शीलं संनिदध्यात् सदा हृदि ।।'

से यही बताया जाता है कि सारे कर्मबन्ध असम्यग्दर्शन से उत्पन्न होते हैं। देह को आत्मा मानना भी असम्यग्दर्शन है। वास्तव में तो चना और चने का छिलका पृथक्-पृथक् हैं। परपदार्थ में रति असम्यग्दर्शन से होती है। ज्ञानाराधना से मोहनीय कर्मों का क्षय किया जाता है। ज्ञान आत्मा का महत्त्वपूर्ण गुण है। उसीसे समस्त लोक, अलोक उद्भासित होते हैं। केवलज्ञान आत्मा के परम विशुद्ध स्वरूप में स्फुरित होता है। आत्मज्ञान के बिना मोक्ष अप्राप्य है। आत्मा के इस ज्ञान-गुण का चिन्तन करने से पुनर्जन्म पर विजय प्राप्त होती है। इसी प्रकार चारित्रा-राधना से समाधिमरण प्राप्त करनेवाले को बार-बार समझाया जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्रयोगक्षेत्र सम्यक्चारित्र है। आत्मा की विशुद्धि चारित्र से होती है। चारित्रपालन किये बिना दर्शन तथा ज्ञान की बातें करते रहने से कृतार्थता नहीं मिलती। संयम का शास्त्रीय ज्ञान ही अपेक्षित नहीं, उसका व्यावहारिक आचरण प्रयोजनीय है। पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति चारित्र के ही भेद हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से जीवन में तप का आविर्भाव होता है। जैसे सूखी हुई समिधाओं से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है वैसे त्रिरत्न द्वारा तपोमय जीवन को उज्ज्वल किया जाता है। बहिरंग तथा अंतरंग तपों से अग्नितप्त कांचन के समान आत्मशुद्धि होकर दिव्यता की प्राप्ति होती है। ध्यान, सामायिक, उपवास, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, विनय इत्यादि तपों से परिणामों में अकथनीय विशुद्धि प्राप्त होती है। इन चारों आराधनाओं से आत्मस्थिति शान्त तथा ध्यानमग्न रहती है। संसार के किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं हो पाती। यदि 'सल्लेखना' के समय किसी प्रकार की लोकवासना अथवा तपोभंग-विचारणा उत्पन्न होती है तो व्रती को उस दुर्विकल्पचिन्तन का शोचनीय परिणाम भुगतना होता है; क्योंकि 'यथा मतिस्तथा गतिः'—जैसी मति वैसी गति। 'मदनपराजय' में लिखा है कि मृत्यु समय के परिणाम दूसरे भव में भी साथ जाते हैं। 'हेमसेन' पके हुए कर्कटीफल में कीड़ा हुआ और 'जिनदत्त' अपनी स्त्री के प्रति आर्तरौद्र करने से मेंढकगति को प्राप्त हुआ*। अतः यह समय पूर्ण आत्म-निष्ठता से यापन करने योग्य है। जीवनभर का संचित पुण्य, तप, चारित्र इस समय के अल्प प्रमाद से व्याहत हो सकता है। स्वस्थ तथा धीर चित्त से समाधिमरण अनन्तबार जन्म-मृत्यु के कष्टों से मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

निराकुलभाव से 'समाधिमरण' को पूर्ण करना जीवन की सम्पूर्ण संचित साधनाओं को सफल बनाना है। मुनित्व को यदि सूर्य से उपमा दी जाए तो दीक्षाग्रहण उसका उषाकाल है, सम्यक्चारित्रपालन तपोमय मध्याह्न वेला है और

---

* *'मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम् ।*
यथाऽभूद्धेमसेनाख्यः पक्वे चिर्भटके कृमिः ।।
मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम् ।
यथाऽभूज्जिनदत्ताख्यः स्वांगनार्तेन दर्दुरः ।।'—मदनपराजयः

सल्लेखना सन्ध्या है। जैसे सूर्य का बिम्ब उषाकाल में प्रसन्न-अरुण होता है वैसा ही सन्ध्यासमय में भी होता है। जीवन और मरणदशाओं में साम्यबुद्धि रखना मुनियों का आभूषण है। जैसे वर्ष-भर पूर्ण परिश्रम करने वाला छात्र वार्षिक परीक्षा में अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण होता है वैसे जीवन में मुनिव्रतों का अप्रमत्त पालन करनेवाले को 'समाधि' परीक्षा में विचलित होने की आवश्यकता नहीं होती। वह सहज भाव से उसको उत्तीर्ण कर जाता है।

'समाधिमरण' व्रतों की रक्षा के प्रति सावधान रहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह है। जो व्रत भंग करके जीवित रहता है, उसका जीवन क्या अनन्तकाल तक के लिए सुरक्षित होता है? मृत्यु उसे भी आकर पूछ लेती है। तब, व्रतों की पालना करते हुए ऊर्ध्वगति को प्राप्त करना सर्वोत्तम पक्ष है। शाश्वत धर्मपालन को नश्वर देह के लिए नष्ट नहीं करना चाहिए; क्योंकि देह तो फिर मिल सकता है, धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है[१]।

'समाधिमरण' ग्रहण करने वाले को चेतना के अन्तिम क्षण तक स्वरूप-स्थिति एवं परिणामविशुद्धि के लिए निम्नलिखित 'समाधिसप्तदशी' का अर्थपूर्वक मनन करना चाहिए।

'मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे।
समाधिबोधिपाथेयं यावन् मुक्तिपुरी पुरः[२] ॥१॥
कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे।
भज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः[३] ॥२॥
ज्ञानिन्! भयं भवेत् कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तर-स्थितिः[४] ॥३॥
सुदत्तं प्राप्यते यस्माद् दृश्यते पूर्वसत्तमैः।

---

१. *'नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।*
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥'—सागार. ७।८

२. *मैं (समाधिमरण द्वारा) मृत्यु में प्रवृत्त हुआ हूँ। इस मार्ग को निरन्तराय पार कर सकूं, इसके लिए भगवान् वीतरागदेव समाधि (स्वरूप के चिन्तन में योगपूर्ण स्थिति) तथा बोधि (रत्नत्रयलाभ) एवं परलोकपथ में उपकारकपाथेय प्रदान करें जिससे मैं मुक्तिपुरी को पहुँच सकूं।*

३. *हे आत्मन्! शत-शत कृमियों से भरा हुआ, जर्जर शरीररूप यह पिंजरा टूट रहा है, इस पर तुम भयभीत न हो; क्योंकि तुम ज्ञानशरीरधारी हो। यह पौद्गलिक शरीर तुम नहीं हो।*

४. *हे ज्ञानी आत्मन्! मृत्युमहोत्सव के उपस्थित होने पर तुम किस बात का भय करते हो? यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ एक देह से दूसरे देह में जाता है। इसमें उद्विग्न होने की कौन-सी बात है?*

मुच्यते स्वर्गजं सौख्यं मृत्योर्भीतिः कुतः सताम्[1] ॥४॥
आगर्भाद् दुःखसन्तप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं विना[2] ॥५॥
सर्वदुःखप्रदं पिण्डं दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्युमित्रप्रसादेन प्राप्यन्ते सुखसम्पदः[3] ॥६॥
मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्मजम्बाले स पश्चात् किं करिष्यति[4] ॥७॥
जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा[5] ॥८॥
सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत्।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः[6] ॥९॥
संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्[7] ॥१०॥
पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया।

---

१. पूर्वकाल के ऋषि और गणधर आदि सत्पुरुष ऐसा कहते हैं कि अपने किये हुए कर्तव्य तथा चारित्र का फल तो मृत्यु होने पर ही पाया जाता है। स्वर्गसुखों का भोग भी मृत्यु के अनन्तर ही मिलता है। उस तपः परिणामदायी मृत्यु से भय क्या ?

२. ज्ञानी पुरुष विचारता है कि इस कर्मरिपु ने मेरे आत्मा को देहपिंजरे में बन्दी बना रक्खा है। जिस समय से यह गर्भ में आया है उसी क्षण से क्षुधा, तृषा, रोग, संयोग-वियोग आदि दुःखों ने इसे घेर लिया है। इस बन्धनग्रस्त आत्मा को मृत्युराज के सिवा कौन मुक्त कर सकता है ?

३. आत्मदर्शी लोग सम्पूर्ण दुःखों को देने वाले इस देहपिंड को दूर करके मृत्युरूप मित्र की कृपा से सुख-सम्पदाओं को प्राप्त करते हैं।

४. जिस जीव ने मृत्युरूपी कल्पद्रुम प्राप्त करके भी अपने कल्याण की सिद्धि नहीं की, वह संसारसमुद्र में डूबने के बाद क्या कर सकता है ?

५. ज्ञानी पुरुष मृत्यु को साता कर्म का उदय मानते हैं जिसकी कृपा से जीर्ण-शीर्ण शरीर छूट कर नवीन शरीर की प्राप्ति होती है।

६. यह आत्मा देह में रहकर सुख-दुःख का सदैव अनुभव करता है और स्वयं ही परलोक-गमन करता है। तब परमार्थदृष्टि से मृत्युभय किसे हो ?

७ जिन जीवों का चित्त संसार में आसक्तिमान् है वे अपने आत्मरूप को नहीं जानते, इसीलिए उन्हें मृत्यु भयप्रद प्रतीत होती है; किन्तु जो महान् आत्माएँ आत्मस्वरूप को जानती हैं और वैराग्य धारण करती हैं, उनके लिए तो मृत्यु आनन्ददायी है।

तदासौ वार्यते केन प्रपंचैः पांचभौतिकैः[१] ।।११।।
मृत्युकाले सतां दुःखं यद् भवेद् व्याधिसम्भवम् ।
देहमोहविनाशाय मन्ये शिवसुखाय च[२] ।।१२।।
ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा[३] ।।१३।।
यत् फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत् फलं सुखसाध्यं स्यात् मृत्युकाले समाधिना[४] ।।१४।।
अनार्तः शान्तिमान् मर्त्यो न तिर्यक् नापि नारकः ।
धर्मध्यानपरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः[५] ।।१५।।
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना[६] ।।१६।।
अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।
चिरतरशरीरनाशे नवतरलाभे च किं भीरुः[७] ।।१७।।

---

१. इस जीव की आयु पूर्ण होने पर जब परलोक-सम्बन्धी आयु का उदय आ जाए तब शरीरादि पंचभूतों के समूह से परलोकगमन करते हुए कौन इसका प्रतिबन्ध कर सकता है ?

२. मृत्यु कर्म के समय के उदय से रोगादि दुःख उत्पन्न होते हैं । वे व्याधिजन्य दुःख ज्ञानवान् व्यक्ति के लिए देह पर से मोहनिवृत्ति के लिए हेतुभूत होते हैं और उनसे निर्वाणसुख की प्राप्ति होती है ।

३. यद्यपि मृत्यु तापकारी है तथापि ज्ञानी उसे अमृत (मोक्ष) की संगति के लिए कारण मानते हैं । कच्चा कुम्भ अग्निसंस्कार होने पर पक्व होता है तथा अमृत (जल) की संगति का पात्र बनता है ।

४. उत्तम व्रतों के कष्टों को सहन करने के पश्चात् जिस फल की प्राप्ति होती है, समाधि-मरण लेनेवाले को वह फल सुख से (अनायास) प्राप्त हो जाता है ।

५. मरणदशा को प्राप्त करते हुए जो सत्पुरुष आर्त परिणामों से रहित होता है, शान्त रहता है, वह जीव तिर्यक् अथवा नारक गति में नहीं जाता । जो उस वेला धर्मध्यान-परायण अनशनव्रत लेकर शरीर का त्याग करता है वह इन्द्र अथवा महर्द्धिक देव होता है ।

६. शास्त्रविहित तप तपने का, व्रतों के पालन करने का, तथा शास्त्र-स्वाध्याय का फल समाधिमृत्यु से प्राप्त होता है ।

७. संसार में प्रवाद प्रसिद्ध है कि जो अतिपरिचित हैं उनमें अवज्ञाबुद्धि उत्पन्न होना स्वाभाविक है । तथा जो नवीन है उसमें सहज ही प्रीति होना भी स्वाभाविक है । अतः यह देह जो वर्षों पुराना, शिथिल तथा जर्जर हो गया है, इसके नाश होने पर नवीन देह मिलेगा । फिर भय किसलिए ? अर्थात् जीर्ण के त्याग और नवीन की प्राप्ति के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए । उस शुभ वेला में अशुभ दुर्गति-दायक कर्मबन्ध नहीं करने चाहिए ।

उपसंहार

अन्तःक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते !
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्* ॥

—रत्न क. श्रा. १२३.

□

* जीवनपर्यन्त किये हुए तप का फल अन्त समय में होने वाला समाधिमरण कहा है। इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर समाधिमरण करने में परम प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि समस्त मतावलम्बियों ने अन्त में शान्तिपूर्वक मरण की मुक्तकण्ठ से स्तुति की है।

कठिन शब्दों के अर्थ

स्पृहणीय १ वांछनीय, कमनीय
मुह्यमान ३ मूढ़, विभ्रमित
संचलित ३ छिड़का या फैलाया हुआ
निरलसता ५ अप्रमाद, स्फूर्ति
दोलायमान ६ चंचल, अस्थिर
चिरजीविता ११ अमरत्व
उपोद्बलक ११ सुदृढ़ करनेवाला
बकोट १२ बगुला
अवद्यमुक्त १२ अनिन्द्य, निर्दोष
वयोज्येष्ठ १३ अवस्था में बड़ा
एतावता १३ इस प्रकार
कुलाल १५ कुम्हार, कुम्भकार
पोत १६ जहाज, प्लव
अहर्निश १६ दिन-रात
परिच्छिन्न १९ विभाजित, खण्डित
आप्लावित १९ निमग्न, डूबा हुआ
अभियोग २० दोषारोपण, नालिश, आक्रमण
भवाटवी २१ संसार रूपी वन
पापमज्यमान २३ पाप में डूबा हुआ
अनुच्छिन्न २३ अविनष्ट, अक्षत, साबित
व्यतिरिक्त २४ अलगाया हुआ, अतिशय
परिशीलित २८ अधीत, विवेचित
प्रत्ययकारक २९ विश्वास दिलानेवाला
मिथ्यात्वकिंकर ३१ असत्य और झूठ का चाकर
बहुरि ३२ फिर, आगे
वैयावृत्य ३८ परिचर्या
परिवेश ४० घेरा, परिधि
उत्सर्ग ४३ त्याग, अर्पण
तितिक्षा ४३ क्षमा, सहिष्णुता
उन्मार्ग ४३ कुपथ, निकृष्ट आचरण
रात्रिदिव ४८ रात-दिन
ओदन ५० भात, अदन
शूर्प ५० सूप
निस्तुष ५० साफ, जिसमें भूसी न हो
अपकारक ५५ अनिष्ट
घृतस्नपित ५७ घी में नहाया या डूबा हुआ
समाधान ५८ शंकानिरसन, हल, ध्यान
आस्पद ६० स्थान
पारद ६४ पारा
कुण्ठा ६६ अवरोध, द्विविधा
प्रादुर्भाव ६६ उत्पत्ति, प्रकट होना
थीसिस ६७ शोध-प्रबन्ध, अभिधारणा
शारीर ६८ शरीर-सम्बन्धी
उपहसनीय ७० उपहास के योग्य
कर्मबन्ध-निरसन ७१ कर्म के बन्धन को तोड़ फेंकना
उपक्रम ७३ आरंभ, प्रस्ताव
समुत्कीर्ण ७७ ढेर किया हुआ, फैलाया हुआ
प्रदाता ८० देनेवाला, उदार
उद्रेक ८२ बढ़ती, वैपुल्य
पक्षावली ८३ पंखपंक्ति
स्तेयदोष ८७ चोरी का आरोप, या दोष
संवित् ९० बोध, चेतना, संकेत, प्रतिज्ञा
नवनीत ९८ मक्खन
आयुध ९८ अस्त्र, हथियार

स्वैरचारी १०२ मनमानी करने की प्रवृत्ति का पक्षधर
वैदुष्य १०३ पाण्डित्य, विद्वत्ता
व्यामोह १०६ अज्ञान, मूढ़ता, व्याकुलता
यदाकदा १०६ जब-जब
प्ररोचनात्मक १०६ उदाहरण-बहुल
अपहार १०७ लूट, चोरी, छीन-झपट
ज्ञानार्णव १०८ ज्ञान का समुद्र
व्याहृत १०९ विशेष रूप से आहत, भयभीत
पर्याय ११० रूप, समानार्थक
पाण्डुरुआक्रान्त ११० पीलिया रोग से पीड़ित
आपातरमणीय ११० तत्काल सुखदेनेवाला
कपूयक्लेद ११० अकर्मण्य और पीड़ित
सर्वकर्मविप्रमोक्ष १११ सर्वकर्मराहित्य
सर्वकर्मसंदोह १११ सर्वकर्मसमूह
आकर १११ समूह, सर्वोत्कृष्ट
अन्योन्य १११ परस्पर
प्रभविष्णु १११ शक्तिशाली, स्वामी
भुक्तोज्झित ११२ खाने के बाद छोड़ा हुआ, जूठन
व्यामूढ़ ११३ व्याकुल, परेशान
स्फीत ११४ बढ़ा हुआ, प्रसन्न
आकीर्ण ११६ व्याप्त, फैला हुआ
वल्गा ११६ लगाम, नियन्त्रण
गारुडिक ११७ ऐन्द्रजालिक, विषवैद्य
विभ्रम ११७ उद्विग्नता, उतावली
आवर्त ११७ बवंडर, चक्र, चिन्ता
दुर्घट ११७ कठिन, असंभव
अनुस्यूत ११७ गुंथा हुआ, परस्पर बंधा हुआ
अतिशय ११९ बहुत, ज्यादा, श्रेष्ठता
विदग्ध १२० कुशल, प्रवीण, खूब जला हुआ
बालिश १२० अबोध, मूर्ख, बालक की तरह
संक्रमण १२१ भ्रमण, धीरे-धीरे चलना
अवसान १२१ उपसंहार, मृत्यु, सीमा
अन्वयिता १२१ आयोजक, वंशधर, अन्वय करनेवाला
अकुण्ठ १२२ प्रखर
कपाट १२२ द्वारा, किवाड़
स्वैर १२२ मनमानी, स्वेच्छाचारिता
निर्वापित १२२ विसर्जित
अनुपेक्ष्य १२३ आवश्यक, ध्यातव्य
संचरिष्णु १२३ गमनशील
क्षयिष्णु १२३ नाशवान, नष्ट होनेवाला
लिपिधुरीण १२४ लिपि-विशेषज्ञ
समुच्चय १२५ एकत्रण, समूह
शंकु १२८ भाला, तीर, स्तम्भ, बांबी
निर्वहण १३७ नाश, समाप्ति
न्यग्रोध १३९ वटवृक्ष
आलवाल १३९ थाला
त्रिक् १३९ तीन का समूह
सिलीन्ध्र १४० कुकुरमुत्ता
उत्तरीय १४१ ऊपर पहिनने का वस्त्र
महर्घता १४२ महंगाई
सम्भ्रान्त १४३ परेशान, चिन्तित, कुलीन
अयुक्त १४३ अयोग्य, अधार्मिक, असत्य
एकीभूत १४४ संमिश्रित, एकत्रित
कदर्थित १४५ तिरस्कृत, गर्हित
उन्निद्र १४६ उनींदा, जागता हुआ
इतर १४६ अन्य
संगतराश १४६ पाषाण-शिल्पी, मूर्तिकार

थापा १४७ हथेली का छापा, हस्ततल-मुद्रण
आस्थान १४९ स्थान, दर्शकों के लिए विशाल भवन
विपन्न १५० दु:खी, परेशान, चिन्तित
कर्मक्षपण १५१ कर्मनाश, कर्मक्षय
असोढव्यता १५२ असहनशीलता
पदाति १५३ पैदल
अमोघ १५९ अचूक, अव्यर्थ
निरूपणा १५९ अन्वेषण, प्रतिपादन
उपोद्बलित १६३ सुपुष्ट, मजबूत
असूया १६३ ईर्ष्या, निन्दा, डाह
संबल १६४ पाथेय, सहयोग
पाथेय १६४ कलेवा, राहखर्च
आकल्प १६८ सज्जा, आभूषण, पोशाक
अनायन १६८ धर्मशाला, मण्डप

□